श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक
सिद्धान्त ग्रंथमालासे प्रकाशनाधिकार प्राप्त

जीवराज जैन ग्रंथमाला

(धवला – पुष्प १)

श्री भगवत्–पुष्पदन्त–भूतबलिप्रणीत:

षट्खंडागम:

वीरसेनाचार्य–विरचित–धवलाटीका–समन्वित:

तस्य

प्रथमखंडे जीवस्थाने

सत्प्ररूपणा

खंड – १ भाग १ पुस्तक – १

❁ ग्रंथसम्पादक: ❁

स्व. डॉ. हीरालालो जैन:

❁ सहसम्पादकौ ❁

स्व. पं. फूलचन्द्र: सिद्धान्तशास्त्री स्व. पं. बालचन्द्र: सिद्धान्तशास्त्री

❁ प्रकाशक: ❁

जैन संस्कृति संरक्षक संघ,

संतोष भवन, ७३४, फलटण गल्ली,

सोलापुर – २. फोन – (०२१७) ३२०००७

वीर निर्वाण संवत् २५२६ ई. सन २०००

विषय-सूची

※ ※ ※

प्रस्तावना

परिशिष्ट

※ ※ ※ ※ ※

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकाशकीय

षट्खण्डागम धवल सिद्धान्त का प्रथम बार सम्पादन-प्रकाशन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ इसकी पूरी जानकारी ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके प्रथम भागके प्राक् कथनसे प्राप्त हो जाती है और इसी हेतु से उसे इस द्वितीय संस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित किया जा रहा है। इस आगमका प्रथम भाग सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ और अन्तिम सोलहवाँ भाग १९५६ में। तत्पश्चात् सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड के ट्रस्ट बोर्ड के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अब आगे इस योजना की कैसी व्यवस्था की जाय। पूरे प्रकाशनके बीस वर्षमें सम्पादन-प्रकाशनके सूत्रधार एकमात्र स्व. डॉ. हीरालालजी जैन थे। अब उनके सम्मुख ये समस्यायें थी कि एक तो ग्रंथराजके सोलह भागोंमें से आदि के कुछ भाग अलभ्य हो गये थे, किन्तु उनकी मांग बराबर बनी हुई थी। दूसरे इसी बीच मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोग्राफ परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटन, इस संस्थाद्वारा लिये जा चुके थे और वे फलटन (जिला, सोलापुर) के शास्त्र भण्डारमें विराजमान थे। तथा तीसरे डॉ. हीरालालजी चाहते थे कि इन आगम ग्रन्थोंको समुचित रूपसे नयी उपलब्धियोंके अनुसार संशोधित करते रहने और उन्हें जिज्ञासुओंको सदैव उपलब्ध बनाये रखने का स्थायी उत्तरदायित्व की दृष्टिसे किसी एक व्यक्ति पर आधारित न रखकर किसी ऐसी संस्थाको सोपा जाय जो सुदृढ नीव पर निर्मित हो और अपने उद्देश्योंमें व्यावसायिक नहीं किन्तु धार्मिक सेवा-भावसे प्रेरित और संचालित हो। अत: उन्होंने अपने चिर-सहयोगी डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के साथ इस समस्या पर सभी दृष्टियोंसे पूर्ण विचार कर यह निश्चय किया कि यह भार ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द दोशी द्वारा स्थापित जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर को सोपा जाय। तदनुसार उन्होंने दोनों ट्रस्ट बोर्डोंके अधिकारीयोंको अवगत कराया और हर्षका विषय है कि दोनोंने ही उनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया। तथा निम्नलिखित अनुबन्धोंके साथ सिद्धान्त ग्रन्थोंकी भावी व्यवस्था जै. सं. संरक्षक संघको सौंप दी गयी–

१) सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मुद्रित प्रतियोंका समस्त शेष स्टाक जै. सं. सं. संघ सोलापुरको सौंप दिया जाय।

२) श्रीमन्त लक्ष्मीचन्द्र जी द्वारा दान की गयी रकम के अतिरिक्त ग्रंथमाला पर जो कर्ज हो गया है और जो दि. ४–७–६० के दिन रु. १३९८० (तेरह हजार नौ सौ अस्सी) है वह जै. सं. सं. संघ सोलापुरसे प्राप्त कर चुका दिया जाय।

३) भविष्यमें प्रकाशित किये जानेवाले सिद्धान्तग्रन्थोंमें 'श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक सिद्धान्त ग्रन्थमाला' और मुख्य सम्पादक डॉ. हीरालाल जैन एवं सहसम्पादक डॉ. आ. ने. उपाध्ये के नाम मुखपृष्ठ पर अंकित रहेंगे। तथा प्रकाशक जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर रहेगा।

४) भविष्यमें इन सिद्धान्त ग्रंथोंके सम्पादन-प्रकाशन एवं विक्रयसे जो आय-व्यय होगा उसका उत्तरदायित्व जै. सं. सं. संघ, सोलापुर पर रहेगा।

५) इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके जो प्रकाशन भविष्यमें होंगे उनकी दस-दस प्रतियाँ उक्त ट्रस्ट (श्री. राजेन्द्रकुमार जैन, द्वारा– सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन, सा. उ. फंड, विदिशा म. प्र.) को भेंट स्वरूप भेजी जाय।

इन अनुबन्धोंको दोनों पक्षोंके ट्रस्ट बोर्डोंकी शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और तदनुसार ग्रंथों एवं अब प्रथम का प्रकाशन भी हो गया।

तभीसे जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये के निर्देशनानुसार सिद्धान्त ग्रन्थका फलटनमें विराजमान ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोसे मिलान करा कर उनके प्रकाशनका प्रयत्न करता रहा है। किन्तु हमें खेद है कि इस कार्यके सम्पन्न करानेमें हमें बारह वर्ष लग गये तब कहीं यह प्रथम भाग तैयार होकर प्रकाशमें लाया जा रहा है। आशा है कार्यकी गुरुताको देखते हुये पाठक हमें क्षमा करेंगे।

हम स्व. डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये के विशेष अनुगृहीत हैं कि उन्होंने न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके संपादन का आदि से अन्त तक निःस्वार्थ भावसे अपना सत्कर्तव्य निभाया, किन्तु वे उतनी ही तत्परता से इस द्वितीय संस्करणका भी उत्तरदायित्व झेलकर अपनी असाधारण दीर्घकालीन साहित्य-सेवा की परम्पराको अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

दि. ३०-६-७३

निवेदक
श्री. बालचन्द्र देवचन्द शाह
मंत्री,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
संतोष भुवन, फलटन गल्ली,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीकृत षट्खण्डागम सूत्र और उनकी आचार्य वीरसेनकृत धवला टीकाका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है। इनकी ताडपत्रीय प्रतियां एकमात्र स्थान मूडबिद्रीके जैन भण्डारमें सुरक्षित थीं और वे शतियोंसे अध्ययन नहीं, किन्तु दर्शन–पूजनकी वस्तु बन गयी थीं। इस परमागम मानी जानेवाली महाकृतीकी प्रतिलिपियां किस प्रकार उक्त भण्डारसे बाहर निकलीं इसका भी एक रोमांचक इतिहास है जिसका परिचय इसके प्रथम संस्करणके प्रथम भागकी भूमिकामें दिया जा चुका है और वह प्रस्तुत संशोधित संस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित है।

जब हमने सन् १९३८ ई. में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके निमित्तसे इस परमागमके अध्ययन व संशोधन कार्यमें हाथ लगाया, तब समाजमें इसकी भिन्न भिन्न प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुईं। नयी पीढीके समझदार विद्वानोंने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों, जैसे स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री, पं. हीरालालजी शास्त्री, पं. फुलचन्दजी शास्त्री और पं. बालचन्दजी शास्त्रीका हमें क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानोंके एक वर्गने इसका कडा विरोध किया। कुछका अभिमत था कि षट्खण्डागम जैसे परमागमका मुद्रण कराना श्रुतकी अविनय है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थोंको पढनेका भी अधिकार गृहस्थोंको नहीं है। वह केवल त्यागी मुनियोंके ही अधिकारकी बात है। कुछ विद्वानोंको यह भी सन्देह था कि क्या हमारे जैसे अंग्रेजी पढे-लिखे बाबुओं द्वारा ऐसी गहन सिद्धान्त रचनाका समझदारीसे संशोधन किया जा सकता है? इत्यादि। किन्तु जब इस विरोधके होते हुए भी हम और हमारे सहयोगी ग्रन्थके संशोधनमें दृढतासे प्रवृत्त हो गये और एक वर्षके भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तब सभीको कुछ आश्चर्य सा हुआ। स्व. सिं. पन्नालालजीके नेतृत्वमें अमरावतीकी जैन समाजने बडे समारोह पूर्वक उस प्रथम भागका उद्घाटन कराया। फिर तो इस ओर विद्वानोंकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रकाशनकी होड सी मच गयी। शोलापुर निवासी स्व. पं. वर्धमान शास्त्रीने भी अपने निजी मुद्रणालयसे इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। किन्तु वे दो–तीन भागोंके प्रकाशनसे आगे न बढ सके। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ संघ मथुराकी ओरसे कषाय–प्राभृत (जय धवल सिद्धान्त) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तथा भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे महाबंध (महाधवल सिद्धान्त) का प्रकाशन होने लगा। पीछे विदुषी सुमतिबाई शाहने सूत्रमात्र और उनके हिन्दी अनुवादका संस्करण प्रकाशित कराया, तथा पं. हीरालालजी शास्त्रीने कषाय–प्राभृत के चूर्णि सूत्रोंको सानुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नामसे प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ शतियोंसे पूजाकी

बस्तु बने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओंके स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये। इसे जैन साहित्यके इतिहासमें एक विशेष उत्कान्तीकी संज्ञा दी जा सकती है।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी द्वारा संस्थापित जैन साहित्योद्धारक फंडसे समस्त षट्खण्डागम और उसकी टीकाका अनुवादादि सहित संशोधन–प्रकाशन १६ भागोंमें १९३६ ई. से १९५६ ई. तक २० वर्षोंमें पूर्ण हो गया। इसके अंतिम भाग छपनेसे पूर्व ही आदिके कुछ भागोंकी प्रतियाँ समाप्त हो गयीं थीं और पाठकोंसे उन्हें पुन: प्रकाशनकी माँग आने लगी थी। किन्तु सम्पादक मण्डलका यह निश्चय था कि जब तक एक बार पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो जाये तब तक किसी भागके दुबारा प्रकाशनमें अपना समय व शक्ति न लगाये जायें। यह भी विचार था कि जब द्वितीय संस्करणमें हाथ लगाया जाये तब पाठका प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मिलान अवश्य करनेका प्रयत्न किया जाय। हमने प्रथम संस्करणमें जो पाठ प्रस्तुत किया वह गुप्त रूपसे ताडपत्रीय प्रतिकी कन्नड [illegible] गुप्त रूपसे बाहर आयीं प्रतिलिपियोंके आधारसे किया था। आदिसे ही हमारा ध्यान इस त्रुटिकी ओर था और हमने मूडबिद्रीके भट्टारक महाराजसे बार बार शुद्ध प्रकाशनमें सहायक होनेकी प्रार्थना भी की। किन्तु उनका रुख निषेधात्मक ही रहा। तथापि तृतीय भागके प्रकाशित होनेपर उनके भावोंमें एक विलक्षण परिवर्तन हुआ और उन्होंने हमें सूचित किया कि यदि हम चाहें तो वे ताडपत्रीय प्रतियोंसे पाठ मिलानकी सुविधा प्रदान कर सकते हैं। इसे हमने एक महान् पुण्योपलब्धि और वरदान ही समझा। ताडपत्रीय प्रतियोंकी लिपि हळेकन्नड (पुरानी कर्नाटककी लिपि) है, जिसके पढ़नेकी क्षमता इने–गिने विद्वानोंको थी। सौभाग्यसे हमें इस कार्य हेतु स्व. पं. लोकनाथ शास्त्रीका सहयोग प्राप्त हो गया और उनके द्वारा हमें वे पाठान्तर प्राप्त हुये जिनका समावेश तृतीय भागके एक परिशिष्टमें किया गया है। आगेके भागोंमें उनके द्वारा भेजे गये पाठान्तरोंका उपयोग मूलमें ही कर लिया गया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेसे पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भागके सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था उसमें अर्थ-संगति की दृष्टिसे संजदासंजदके आगे संजदपद और जोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। किन्तु इससे फलित होनेवाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओंसे कुछ विद्वानोंके मन आलोडित हुए और वे संजद पदको वहां जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुये और उत्तर–प्रत्युत्तर रूप लेखोंकी श्रृंखलायें भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंमें प्रकाशित भी हुआ है। इसके मौलिक समाधान हेतु जब हमने ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठकी सूक्ष्मतासे जांच कराई तब पता चला कि वहां की दोनों भिन्न प्रतियोंमें हमारा सुझाया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुई– एक तो यह कि हमने जो पाठ–संशोधन किया है वह गंभीर चिंतन और समझदारी पर आधारित है और दूसरे यह कि मूल प्रतियोंसे पाठ–मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्रीसे प्राप्त हुये थे और तृतीय भागके अंतमें समाविष्ट किये गये थे, उनमें हमें यह संशोधन नहीं मिला।

इसी बीच बम्बईमें इस ग्रन्थको ताम्रपत्रोंपर अंकित करानेका भी आयोजन हुआ और वहां भी उक्त ९३ वें सूत्रमें संजद पद जोड़ने न जोड़नेके विषयपर विवाद उठ खड़ा हुआ, यद्यपि वहां भी ताड़पत्रीय प्रतियोंमें उसके होनेकी पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी। अब यह प्रयास किया गया कि मूडबिद्री भण्डारमें उपलभ्य इन ग्रन्थोंकी सभी ताड़पत्रीय प्रतियोंके फोटो-चित्र लिये जायें। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो गया और वे सब फोटोग्राफ फलटनके शास्त्र भण्डारमें आ गये।

सन् १९५९ में समस्त षट्खण्डागमका १६ भागोंमें प्रकाशन पूरा हो जाने पर सम्पादकोंको यह चिंता हुई कि अब आदिके जो अनेक भाग अनुपलभ्य हो चुके हैं उनका उक्त फोटो-चित्रोंसे मिलान कर अंतिम रूपसे संशोधित संस्करण तैयार करनेकी क्या व्यवस्था की जाय? बहुत सोच-विचारके पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वितीय संस्करणका कार्यभार जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुरके आधीन किया जाय। हमने यह सुझाव श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी व उनकी प्रबंध समितिके समक्ष प्रस्तुत किया और उन्होंने हमारे सुझावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके विषयमें भेलसा और शोलापुर की संस्थाओंके बीच जो समझौता हुआ उसका विवरण प्रकाशकीय वक्तव्यमें दिया गया है।

पंच णमोकार मंत्र

अभी अभी पण्णवणा-सुत्त का सुन्दर सम्पादन-प्रकाशन हुआ है (जैन आगम ग्रन्थमाला- ९, भाग १-२, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई- २६, सन् १९६९ व १९७१)। यह ग्रन्थ अर्द्धमागधी उपांगोंकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो विषय व शैली आदि दृष्टियोंसे षट्खण्डागम सूत्रसे बहुत कुछ समानता रखती है। इसके सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी, पं. दलसुख मालवणिया और पं. अमृतलाल मोहनलाल भोजक द्वारा लिखित अंग्रेजी व गुजराती की सुविस्तृत प्रस्तावना बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें आये दो प्रकरण प्रकृतोपयोगी होनेसे यहां उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रस्तावनाके पृष्ठ २३५ आदिमें प्रज्ञापनाके मंगलाचरण व पंचनमस्कार मंत्रकी विवेचना की गयी है जिसका सारांश यह है कि प्राचीनतम जैन रचनाओंमें इस पूरे मंत्रका उल्लेख नहीं पाया जाता। पीछेके साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग पाया जाता है। तथापि उसके कर्तृत्वके विषयमें कहीं कोई स्पष्ट सूचना नहीं पायी जाती। किन्तु षट्खण्डागम सूत्रका प्रारम्भ इसी पंचनमस्कार मंत्रसे होता है और उसकी वीरसेन कृत धवला टीकासे यह संकेत मिलता है कि उसके आदि-कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। हम प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी टीकाके आधारसे द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी यह प्रतिपादन कर चुके हैं कि आचार्य वीरसेन स्वामीका निस्संदेह अभिप्राय यही है कि यह मंत्र षट्खण्डागम सूत्रका अभिन्न अंग है और उसके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। टीकाकारने मंगलके दो भेद किये हैं- निबद्ध और अनिबद्ध और दोनोंके लक्षण इस प्रकार समझाये हैं कि जहां सूत्रकार अपने मंगलाचरणकी स्वयं रचना करता है वह निबद्ध मंगल कहलाता है और जहां अन्य द्वारा विरचित मंगलपाठ जोड़ दिया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है। इसी भेदके कारण उन्होंने यहां प्रयुक्त पंचनमस्कार

मंत्रको निबद्ध मंगल माना है, तथा चतुर्थखण्ड वेदनाके आदिमें जो 'णमो जिणाणं' आदि लम्बा मंगलपाठ है उसे उन्होंने अनिबद्ध मंगल कहा है, क्योंकि, वह स्वयं प्रस्तुत सूत्रकार द्वारा रचित न होकर गौतम गणधर द्वारा विरचित है और उसीकी वहाँ पुनरावृत्ति की गयी है। इस प्रकार धवलाकार के अभिमतमें किसी शक–सन्देह का अवकाश नहीं है।

इस प्रसंग में एक बातका और स्पष्टीकरण उचित होगा। णमोकार मंत्रमें जो प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' आया है उसके स्थान पर कहीं 'अरहंताणं' पाठ भी पाया जाता है। और प्राकृत भाषाकी प्रकृति को ध्यानमें रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु षट्खण्डागमके समान प्रज्ञापना सूत्रके आदि में भी यही पाठ 'अरिहंताणं' पाया जाता है, तथा उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरीने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विशेषावश्यक भाष्यकारने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे समझायी है और उसीसे अंत में उन्होंने उसके संस्कृत रूपान्तर अर्हंत् की भी व्याख्या की है। धवलाकार के मतसे 'अरि-हननाद् अरिहन्ता' रजोहननाद् वा अरिहन्ता, रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता अतिशय-पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः। इस प्रकार धवलाकारके सम्मत तो विकल्पसे भी अरहंत पाठ नहीं है (षट्खंड भाग १ पृ. ४२ आदि)।

अतः दिगम्बर–श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैद्धान्तिक परम्परा अरिहंताणं पाठके पक्ष में ही सिद्ध होती है। इसी मंगलके 'णमो आइरियाणं' में भी 'र्य' के स्थान पर रिय आदेश हुआ है और उसी प्रकार 'आर्य' का 'आरिय' तथा 'वर्ष' का 'वरिस' रूपान्तर होता है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना सूत्र

पण्णवणासुत्त की प्रस्तावना का दूसरा प्रसंगोपयोगी प्रकरण पृष्ठ २२३ आदि पर प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के तुलनात्मक विवेचन विषयक है। इसके अनुसार इन दोनों रचनाओं में बहुतसी महत्वपूर्ण समानतायें हैं। १) दोनों का विषय जीव और कर्मकी सैद्धान्तिक व्याख्या है। २) उनका मूल स्तोत्र बारहवाँ श्रुतांग दृष्टिवाद है। ३) उनकी रचना सूत्र-रूप है। ४) कहीं कहीं दोनों में ये सूत्र गाथात्मक भी हैं। ५) कुछ गाथायें दोनों में समान हैं जो निर्युक्तियों और विशेषावश्यक भाष्यादि में भी पायी जाती हैं। ६) दोनों रचनाएँ संग्रहात्मक हैं जिनमें समान शब्दावलि और उक्तियों का भी समावेश हुआ है। ७) दोनों के अल्प-बहुत्व प्रायः समान हैं और उन्हें महादण्डक कहा गया है। ८) गत्यागति प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पदों की प्राप्ति का उल्लेख है। ९) प्रज्ञापना के कर्म, कर्मबंधक, कर्म-वेदक, वेद-बन्धक, वेद-वेदक और वेदना, ये छह पद (२३–२७ और ३५) षट्खण्डागमके छह खण्डों जीव-स्थान, क्षुद्रक-बन्ध, बन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध का स्मरण कराते हैं। दोनों रचनाओंकी ये समानतायें निर्विवाद हैं और वे उनकी अर्थ एवं अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे समान परम्परा की द्योतक हैं।

किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों रचनाओंकी अपनी अपनी विशेषतायें भी अनेक हैं। जैसे १) प्रज्ञापना में ३६ पदसंज्ञक परिच्छेद हैं और उनके अवान्तर प्रज्ञापना, प्ररूपणा आदि विषयानुसार उपभेद किये गये हैं। किन्तु षट्खण्डागमके खण्ड पूर्वोक्त छह ही हैं, और उनके भीतर बहुतायतसे चौदह जीव-समासों (गुणस्थानों) व चौदह मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे विषय प्ररूपण किया गया है, जिनका प्रज्ञापना सूत्रमें सर्वथा अभाव है। २) प्रज्ञापना की रचना एक कर्ता की है, जबकि षट्खण्डागम की रचनामें पुष्पदन्त और भूतबलिका कर्तृत्व तो स्वीकार ही किया गया है, तथा उसकी अनेक चूलिकायें पीछे जोडी गयी अनुमान की जा सकती हैं, जैसे दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ३) षट्खण्डागममें प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन प्रज्ञापना सूत्रकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और गंभीर, सुव्यवस्थित व योजनाबद्ध है। ४) प्रज्ञापना सूत्रमें प्रश्नोत्तर शैलीका उपयोग षट्खण्डागमकी अपेक्षा अधिक है। ५) प्रज्ञापना सूत्रकी रचना शुद्ध सत्रात्मक है, जबकि षट्खण्डागममें बहुधा अनुयोगद्वारोंके निर्देश सहित टीकात्मक शैली भी पायी जाती है। यहां निर्युक्तियोंके समान नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंके आश्रय से तत्त्वार्थसूत्र के समान सत्, संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा प्ररूपणा, निर्देश, विभाषा आदि जैसी संज्ञाओंके प्रयोग सहित भाष्य शैली अपनायी गयी है, तथा गति-अनुवादेन, इन्द्रियानुवादेन आदि स्पष्ट निर्देशोंका भी प्रयोग हुआ है। ६) षट्खण्डागम (भाग ७ सूत्र ७९) में महादण्डक नामसे अल्पबहुत्व अधिक व्यवस्थासे ७८ पदोंमें 'वत्तइस्सामो' 'कादव्वो' जैसे शब्दों सहित किया गया है, जबकि [illegible] सूत्रमें ऐसे शब्दोंके बिना वह ९८ पदोंमें अवान्तर भेदोपभेदों सहित शिथिलतासे हुआ है। ७) प्रज्ञापना सूत्रके स्थान-पद नामक द्वितीय पदमें जो जीवोंके क्षेत्रोंका वर्णन है वह शिथिलताके कारण बहुत लम्बा है, जबकि वही षट्खण्डागम (भाग ७ पृष्ठ २९९ आदि) में मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे सुगठित शैलीमें अपेक्षाकृत थोडेमें आ गया है। ८) प्रज्ञापना सूत्रमें अल्प-बहुत्व २६ द्वारोंसे प्ररूपित है, तथा उसमें जीव-अजीवका मिश्रण अव्यवस्थासे हुआ है। किन्तु षट्खण्डागममें वही १४ मार्गणाओंके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे आया है। प्रज्ञापना सूत्रके २६ द्वारोंमें गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओंके नाम भी यत्र-तत्र आ गये हैं, किन्तु उसमें सुनिश्चित १४ मार्गणाओंका अभाव है। यही स्थिति स्पर्श, काल आदि प्ररूपणाओंकी है। ९) प्रज्ञापना सूत्रकी तीन गाथाएं (९९-१०१ पृ. २५) वे ही हैं जो षट्खण्डागम (भाग १४ के सूत्र १२२-१२४) में पायी जाती हैं। किन्तु भेद यह है कि षट्खण्डागममें वे 'लक्खणं भणिदं' के साथ प्रस्तुत की गयी हैं जिससे वे अन्यत्रसे उद्धृत सिद्ध होती हैं। इनके कुच्छ पाठ ऐसे भी हैं जो षट्खण्डागममें अशुद्ध और प्रज्ञापना सूत्रमें शुद्ध रूपमें हैं।

इन समानताओं और विशेषताओं पर विचार करते हुये प्रज्ञापना सूत्रकी प्रस्तावनाके लेखकोंने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि एक ओर तो दोनों ग्रन्थोंकी सैद्धान्तिक परम्परा विषय और कुछ अंशमें रचना की दृष्टिसे अभिन्न है, किन्तु दूसरी ओर विषयके वर्गीकरण प्रतिपादन की शैली तथा व्यवस्था और विधान एवं पारिभाषिक शब्दावलि आदि की दृष्टिसे षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना की रचना अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती प्रतीत होती

है। इसकी और भी परिपुष्टि हेतु उन्होंने दोनोंके रचनाकाल पर भी विचार किया है। षट्खण्डागमकी रचना का तो उन्होंने वही काल स्वीकृत कर लिया है जो उसके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् व विक्रम संवत् की द्वितीय शतीके लगभग निश्चित किया गया था। किन्तु प्रज्ञापना सूत्रकी रचना हेतु उन्हें वैसे निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य व प्रमाण नहीं मिले। अतः उसके लिये उन्हें कुछ शंकास्पद संकेतोंका आश्रय लेना पडा है जो इस प्रकार हैं--

१) प्रज्ञापना सुत्र के मंगलाचरण के पश्चात् दो ऐसी प्रक्षिप्त गाथायें पायी जाती हैं जिनमें अज्ज-साम (आर्य श्याम) को नमन करते हुए कहा गया है कि वे वाचक संघ के तेवीसवें पुरुष थे और उन्होंने श्रुतसागरसे निकालकर उत्तम श्रुत-रत्न प्रदान किया। इसपर से अनुमान किया गया है कि आर्य श्याम ही प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता हैं।

२) पट्टावलियों की परम्परानुसार जो तीन कालकाचार्य हुए उनमें प्रथम कालक ही श्यामाचार्य थे।

३) धर्मसागरीय पट्टावलि में प्रथम कालक का मृत्यु तथा खरतर गच्छीय पट्टावलि में उनकी जन्म का समय वीर निर्वाण से ३७६ वर्ष पश्चात् माना गया है।

मुख्यतः इन तीन बातोंपरसे निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना श्यामाचार्य द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शतीमें अर्थात् विक्रम संवत्से लगभग सौ वर्ष पूर्व और तदनुसार षट्खण्डागम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुई।

उक्त तर्कोंपर यहाँ विचार किया जाय। १) उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओंमें पण्णवणा सुत्त का नाम भी नहीं आया। जिस श्रुत-रत्नका दान श्यामाचार्यने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थ-रत्नका भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्यने भी इन गाथाओंको प्रक्षिप्त कहकर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवीं शतीमें श्यामाचार्य की ख्याती हो चुकी थी। किन्तु उससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथायें जोडी गयीं इसके क्या प्रमाण हैं। उन गाथाओंमें श्यामाचार्यको वाचक वंशके तेइसवाँ पुरुष कहा है। यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेइसवी पीढी कब पडी इसका लेखा-जोखा कहाँ है? उससे पूर्व ग्रन्थकी अंगभूत गाथामें तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणाका उपदेश भगवान् जिनवरने भव्य जनोंकी निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओंमें दुर्धर, धीर व समृद्ध-बुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुत-रत्नका दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेपकी मान्यता एक ही कही जा सकती है? २) पट्टावलियोंकी परम्परायें बहुत प्राचीन नहीं हैं। उनके रचनाकाल व प्रामाणिकतामें संदेह है। वे परस्पर विरोधी भी पायी जाती हैं। तीन कालकार्योंमें से श्यामाचार्यका किससे एकीकरण किया जाय इसकी भी उनमें स्पष्ट स्थापना नहीं पायी जाती। उन्हीं के आधार से तो डॉ. यू. पी. शाहने अपना यह अनिश्चियात्मक मत व्यक्त किया है (पृ. २३२) कि जिन श्यामाचार्यको

पट्टावलि में ग्यारहवें कहा है वे गर्दभिल्लके विनाशकर्ता कालकाचार्यसे अभिन्न हो जाते हैं और तब प्रथम और द्वितीय कालक भी एक हो जाते हैं, इत्यादि। इस प्रकार श्यामाचार्य का कालक से एकीकरण करके उनका काल-निर्णय करना बहुत कुछ अटकलबाजी ही है।

३) धर्मसागरीय और खरतरगच्छ पट्टावलियां कब बनी, किस आधारसे और उनके परस्पर विरोधका क्या कारण है, इन बातों का समुचित समाधान हुए बिना उनमें निर्दिष्ट काल को कहाँ तक प्रामाणिक माना जाय और उनमें उल्लिखित कालक को श्यामाचार्यसे अभिन्न कैसे मान लिया जाय।

जहाँ तक आधार प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि कहाँ कालकाचार्य को प्रज्ञापनासूत्र का कर्ता कहा गया है। ' श्याम ' और ' काल ' दोनों शब्द एकार्थी हैं, इससे श्यामार्य — कालकाचार्य— यह समीकरण तुरंत स्फुरित होता है। परंतु अभ्यासपद्धति में यह ठीक नहीं लगता। हमें ऐसे प्रमाणों की जरूरत है जहाँ स्वतंत्र रूपसे श्यामार्य और कालकाचार्य दोनों प्रज्ञापन के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट हैं। तदनंतर ही दोनोंका समीकरण होगा। तत्पश्चात् ही काल-निर्णय किया जा सकेगा।

वस्तुतः जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी यदि किसी जैन ग्रन्थकी रचना विक्रम पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दि की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्यमें ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचनामें दिखाई नहीं देती, क्योंकि, उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryains) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शतीसे पूर्व हुआ ही नहीं था। उदाहरणार्थ, पण्णवणा सुत्त में आये ' लोए ' (लोके) ' भयवया ' (भगवता) ' सुय ' (श्रुत) ' दिट्ठिवाय ' (दृष्टिवाद) ' ठिई ' (स्थिति) ' वेयणा ' (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुतिके आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शतीसे पूर्व की प्राकृत भाषाओंमें नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओंका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा शुंग और आंध्रवंशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकोंमें मिलता है जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनोंके लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दूसरी शतीके पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृतका विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन प्राकृत साहित्यमें प्रचुरतासे प्रयोगके कारण पिशेल आदि विद्वानोंने जैन प्राकृत रचनाओंकी भाषाओंको जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी की संज्ञा दी है। अतः इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में पण्णवणा सुत्त की रचना को द्वितीय शतीसे पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक पण्णवणा के षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती होने का प्रश्न है वह भी निस्सन्देहात्मक नहीं कहा जा सकता। दोनों रचनाओं में जो समानतायें हैं वे निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि दोनों की मौलिक परम्परा एक ही है। यह बात केवल इन्हीं दो रचनाओंसे नहीं, किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों की समस्त सैद्धान्तिक (और उप सैद्धान्तिक) रचनाओं

से सिद्ध होती है। उनका प्राण एक है, किन्तु शरीर व अंग-रचना भिन्न है। इस संबंध में धवलाकार वीरसेनाचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ६०) कर्ता दो प्रकार का होता है, अर्थ-कर्ता और ग्रंथ-कर्ता। प्रस्तुत षट्खण्डागम के अर्थ-कर्ता तो भगवान् महावीर ही हैं, किन्तु ग्रंथ-कर्ता गौतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हैं, भगवान् महावीर के जिस उपदेश के आधारसे षट्खण्डागमकी रचना हुई उसीसे प्रज्ञापना सूत्र की। किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराओंके अनुसार उनमें शैली व वर्गीकरणादि में भेद होना स्वाभाविक था। अनुबद्ध परम्परामें तो शैलीके विकासानुसार ग्रन्थोंके पूर्वापरत्व का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है, किन्तु स्वतंत्र परम्पराओंमें यह अनुमान अनुपयुक्त पाया जाता है, और इस बातपर प्रज्ञापना सूत्रके सम्पादकोंने स्वयं भी बहुत जोर दिया है। वे कहते हैं (प्रस्ता. पृ. २३०).

The style of treatment i. e. its simplicity or otherwise, can not be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana Sutra.

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिपादन शैलियोंकी सरलता और सूक्ष्मताके आधार मात्रसे किन्हीं रचनाओंके कालानुक्रमका निर्णय करना एक भारी भूल होगी, क्योंकि ये बातें तो ग्रन्थकारोंके अपने अपने लक्ष्य तथा प्रतिपाद्य विषयपर अवलंबित होती हैं, और यही बात प्रज्ञापना और षट्खण्डागमके विषयमें समझना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जहां श्वेताम्बर मुनि प्रधानतया अर्द्धमागधी आगमसे बंधे रहकर उसीके उद्धार, संग्रह, विस्तार आदि में लगे रहे, वहां दिगम्बर मुनियोंने मूल आगमको विलुप्त हुआ स्वीकार कर बहुत कुछ स्वतंत्रतासे नवीन शैलीके ग्रन्थोंका निर्माण किया। इसीके, जिसमें विद्वान् आचार्योंने अपनी प्रतिभाका उन्मुक्त भावसे उपयोग किया। परिणामस्वरूप धरसेनाचार्यसे परम्परागत सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके कर्ताओंने अपने बुद्धि-बलसे खारवेल के शिलालेखमें निबद्ध 'नमो अरहंतानं' 'नमो सव सिधानं' रूप द्विपदी मंगलको पंचपदी बनाकर प्रकट किया, ऐतिहासिक दृष्टीसे देखा जाय तो, विभिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न विद्वान् मुनियोंके गणोंमें समय समयपर मंगलविस्तारके बारेमें ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये होंगे। अब हम चत्तारिदंडक का अवलोकन करते हैं तो वहां का मंगल चतुष्पद है। जब संघ व्यवस्था अच्छी बन गयी, तब 'साहु' शब्दकी व्याप्ति में आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु आ गये होंगे। 'जीवकचिंतामणि' नामक प्राचीन तमिल जैन काव्यमें साधारणतया अपेक्षित पंचनमस्कारात्मक मंगलकी जगह ग्रंथके आरंभमें चत्तारि मंगलरूपी नमस्कार है। इसी प्रकार संभवत: उन्होंने ही प्रथम बार जीव-समास (गुणस्थान) मार्गणा-स्थान व विविध अनुयोगद्वारों आदिका आविष्कार कर उनके आधारसे विधिवत् सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

उनकी इन विधाओंका स्वभावत: आदिमें विरोध या उपेक्षा की गयी होगी किन्तु धीरे धीरे वेही विधायें, उनकी अधिक सुव्यवस्थाके कारण समस्त जैन सैद्धान्तिक जगत् पर छा गयी, और सर्वत्र स्वीकृत हो गई है। षट्खण्डागमके कर्ताओंने परम्परागत सिद्धान्तकी कोई भी बात किसी भी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपातके कारण छोडी नहीं, तथा उन्होंने परम्परागत उपयोगी गाथाओंको भी अपनी रचनामें यथोचित स्थान दिया। 'भणितं' आदि शब्दोंके उपयोग द्वारा यदि उन्होंने यह इंगित किया कि वह गाथा उनकी स्वनिर्मित नहीं है, किन्तु परंपरागत है तो यह उनकी साहित्यिक सच्चाई व ईमानदारी की परिचायक है। किन्तु यदि कोई अन्य लेखक इस वास्तविकताके सूचक संकेतोंको न देकर उसे अपनी मौलिक रचनाका अंगरूप मान लेता है, तो वह इस प्रमाणसे पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

आर्यश्यामका नाम निर्देश प्रक्षिप्त गाथाओंमें उपलब्ध होता हैं। ये प्रज्ञापनाके कर्ता (शब्दके सही अर्थमें) नही है, किंतु संग्रहकार हैं जिन्होंने परंपरागत विषयोंका संग्रह किया है। जब दोनों ग्रंथकार, षट्खंडागमके और प्रज्ञापनाके परंपरागत विषयोंका ही संग्रह करके निबद्ध कर रहे हैं, तब 'भणिदं' शब्दका कोई कालनिर्णायक मूल्य नहीं है।

प्रज्ञापनामें कई परंपरागत गाथाएँ हैं जो उत्तराध्ययन और निज्जुत्तियोंमें भी मिलते हैं। इनको संग्रहणी गाथा कहा गया है (देखिए– पं. मालवेनिया-प्रज्ञापना और षट्खण्डागमा, जे. ओ. आर. १९, पृ. २६ इ. बडोदा ११६९)। पारस्परिक कालनिर्णयमें इनका कोई प्रमाणरूपसे मूल्य नहीं हैं। यदि प्रज्ञापना उत्तराध्ययनसे उत्तरकालीन है, तो प्रज्ञापनाका समय अनिर्णीत रहता है। जिस रूपमें आज हमें उत्तराध्ययन मिलता है, उस ग्रंथकी रचना संपूर्णरूपसे ईसापूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई थी, यह हम नहीं कह सकते। जैनतत्त्वविषयक जो अध्याय हैं, जिनको ग्रंथके अंतमें एकत्रित किया गया है, विशेषतया २८ वाँ अध्याय, बहुत कुछ अर्वाचीन हैं और कई विद्वानोंके मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रके समीपवर्ती कालके हैं।

(इस संदर्भमें यह भी ध्यानमें लेना चाहिये। आगमज्ञान परंपरा मुख्यतया मौखिकही था। यह परंपरा हस्तलिखितोंपर चलता था ऐसा मानकर अनुमान करना ठीक नहीं है।) यदि कोई गाथा एक ग्रंथमें दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होती है तो वह लिपिकारोंकी सावधानी व असावधानीका परिणाम भी हो सकता है। उसे मूल ग्रंथकार महाविद्वान् आचार्योंकी भूल मानना नितान्त अनुचित होगा। यदि प्रज्ञापनामें पाठविशेष शुद्ध है, किंतु षट्खण्डागममें अशुद्ध है तो इससे अवश्य यह अनुमान होना चाहिए कि प्रज्ञापनासे यह पाठ षट्खण्डागममें नहीं किया गया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हमें अबतक ऐसा कोई प्रमाण हाथ नहीं लगा जिसके आधारसे यह कहा जा सके कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना षट्खण्डागमसे पूर्वकालीन है। षट्खण्डागम वीर निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् २०० के लगभगकी सिद्ध है, और वह सर्वसामान्य हो चुकी है। गिरनार व जुनागढके समीप बाबा

प्यारा नामक गुफाओंमें जो शिलालेखादि मिले उनसे भी यही सिद्ध हुआ है कि वह सामग्री पूर्वोक्त कालकी ही है और संभवतः यही वह चन्द्रगुफा है जहाँ धरसेनाचार्य निवास करते थे। तथा जिस मुनिके [illegible] पूर्वका [illegible] संकेत है [illegible] धरसेन ही थे।

इसके विपरीत प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता और कालके विषयमें अभी भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। षट्खण्डागमकी परम्पराके आचार्योंको तो उसके नाम तक की कोई जानकारी नहीं प्रतीत होती; क्योंकि, यदि होती तो धवलाकार वीरसेनने जहाँ द्वादश अंगों और चौदह अंग बाह्य ग्रन्थों, जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि का उल्लेख किया है (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ९६) वैसे पण्णवणा सदृश महत्वपूर्ण रचना को वे कैसे भूल सकते थे? भाषाशास्त्रके अनुसार वह रचना विक्रमसे पूर्व द्वितीय-तृतीय शती की तो हो ही नहीं सकती, विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शतीसे पूर्व की भी नहीं मानी जा सकती। यह भी निर्देश किया जाय कि षट्खण्डागममें स्वरमध्य क, त का प्रायः ग, द होने की प्रवृत्ति है, न तो लोप होने की। भाषाशास्त्रज्ञोंके मतमें यह लोप-प्रवृत्ति का पूर्वस्तर है। निश्चित रूपसे तो केवल इतनाही कहा जा सकता है कि वह उसके सर्व प्रथम टीकाकार हरिभद्र (विक्रम की नवीं शती) से पूर्वकालीन है। और यदि उसके नन्दिसूत्रमें उल्लेख होनेके कारण वलभी वाचनासे पूर्वत्व सिद्ध होता हो, तो वह वीर निर्वाण संवत् ९९३ (वि. सं. ९९३) से पूर्वकालीन मानी जा सकती है। और एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक है। वह यह है कि प्रज्ञापना को, जो संपादकोंके अनुसार विषयकी दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और कालकी दृष्टि से इतना प्राचीन है, उपांगोंके अंतर्गत क्यों विभाजित किया गया है? उपांग विभाग अर्वाचीन है और अंगोंसे उसका संबंध कृत्रिम है। उपांग विभाजन संभवतः वलभीवाचनानंतर ही अस्तित्वमें आ गया है और जो विषय अंगमें ग्रथित नहीं हो सके, ऐसेही विषय उपांगोंमें विद्यमान हैं। आर्य श्यामने जो संग्रह किया गया है, वह सापेक्षतः अव्यवस्थित और कहीं कहीं अपूर्ण सा लगता हैं, इसका कारण बहुत हद तक यही है। मतलब यह है कि संग्रह करते समय सब विषयोंका चिंतन अपनीही तरफसे उन्होंने नहीं किया है।

संक्षेपमें यह ही कहना पडता है कि प्रज्ञापनामें कुछ प्राचीन अंश है, किंतु वे व्यवस्थित रूपमें नहीं रहे हैं। उसका प्रस्तुत स्वरूप वलभी वाचना या सम्मेलनके पूर्वकालीन नहीं है। वलभी सम्मेलनमें उसे 'उपांग' के रूपमें रक्खा गया और प्रक्षिप्त गाथाओं में उसके तथाकथित कर्ताका नाम आया है।

प्रस्तुत भाग के संशोधन का विवरण पं. फुलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने 'आवश्यक निवेदन' में प्रस्तुत किया है। पंडितजी ने इस कार्य में जो परिश्रम किया है उसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। उन्होंने पाठ-संशोधन की जो तालिका दी है उससे स्पष्ट है कि यह संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया है जिससे हम कह सकते हैं कि अब उक्त ताडपत्रीय प्रतियोंकी वह अनिवार्यता नहीं रही। विशेष संतोष की बात यह है कि जिस साधन-सामग्री परसे प्रथम संस्करण तैयार किया गया था, उसे देखते हुये जितनी जैसी अशुद्धियोंकी हमें आशंका थी वैसी

नहीं मिली। आश्चर्य यह नहीं है कि कुछ महत्वपूर्ण पाठान्तर मिले, किन्तु आश्चर्य यह है कि उनसे पूर्ण संस्करणमें बैठायी गयी अर्थ-संगति सुव्यवस्थित ही सिद्ध हुई है। हमें आशा है कि अब शीघ्र ही अन्य भागोंके भी संशोधित संस्करण क्रमसे तैयार कर प्रकाशित किये जा सकेंगे। इस आशाका बडा भारी आधार यह है कि संस्कृति संघके सचिव श्री. बालचन्द्र देवचन्दजी शाह तथा उनके सहयोगी सदस्य इस विषयमें खूब रुचि रखते हैं और सब प्रकारसे अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

दिवंगत श्री. एन्. चंद्रराजने ताडपत्र हस्तलिखित प्रतियोंकी फोटोके आधारपर पाठान्तरोंका संग्रह किया था। इस कठिन कार्यमें उनको विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। इस कार्यमें हस्त प्रतियोंमेंसे एक के पाठान्तर लिख लेनेमें पं. बालचन्द्र शास्त्री व प्रा. जे. डी. भोमाज ने सहायता की है। श्री. चंद्रराजके मूल फोटो प्रतियोंको पढते समय प्रा. भोमाज पाठ लिख लेते थे। इस संपुटके मुद्रण तथा प्रूफ संशोधनके कार्यमें प्रा. भोमाज और श्री. नरेंद्र भिसीकर का अमूल्य सहयोग उपलब्ध हुआ है। उन सब सज्जनोंका हम बहुत आभार मानते हैं।

सम्पादक,

हीरालाल जैन

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

बालाघाट (म. प्र.)
ता. २४-११-१९७२

पश्चलेख

मार्गदर्शक डॉ. हीरालालजी का विविध [illegible] सिद्धांतग्रंथोंके अध्ययन के प्रति महान् आघात है। षट्खण्डागमका, धवला टीकासहित, सोलह खंडोंमें प्रकाशन तो उनकी महान् साधना का एवं उनके पांडित्य, स्वार्थत्याग, सेवा मनोधर्म तथा अविरत श्रमका खास द्योतक है। पिछले कुछ महीनोंसे षट्खण्डागम के प्रथम खंड के पुनर्विमर्शित संस्करणके प्रस्तावनाके कुछ पहलुओंपर हम टिप्पणियोंका परस्पर विनिमय करते आ रहे थे। उन्होंने २४-११-७२ को मेरे यहाँ अपने हिंदी प्रारूप भेजा और प्रार्थना की कि आवश्यक सुधार के साथ उसका अंग्रेजीमें अनुवाद करा दे। जहाँ तहाँ अपनी ओरसे कुछ जोडकर मैंने अंग्रेजी प्रारूप तैयार किया। दिनांक २२-२-७३ को मैंने आवश्यक सुधार के साथ अनुमोदन करनेके लिए प्रारूपको उनकी सेवामें भेजा। जहाँ तहाँ पर की गयी सुधारोंसे ऐसा लगता है कि उन्होंने उसके कुछ पृष्ठ अवश्य पढे होंगे। उनके पुत्र श्री. प्रि. प्रफुल्लकुमार मोदीने मुझे यह लिखा (७-३-७३) कि डॉक्टरोंने कुछ सप्ताहतक पूरी तरह आराम करनेके लिए उनको सूचना दी है। हालहीमें मोतिबिंदु के कारण उनकी दूसरी आँखकी शस्त्रचिकित्सा हुई थी। हृद्रोग से तो वे ग्रस्त थे, और साथ साथ मधुमेह भी उनको सता रहा था। उनके प्रवृत्ति पर और उनके असाधारण मनोधैर्यपर मुझे पूरा विश्वास था कि वे बहुत जल्दी ठीक हो जाएँगे और हमारी प्रस्तावना पूरी हो जाएगी। अपने बिघडे हुए स्वास्थ्यकी परवाह किये बिना, डॉक्टरोंकी सलाहोंके बावजूद, उन्होंने लगातार अपने भीतर काम किया है। किसी अच्छे उद्देश की पूर्तिमें जीवन व्यतीत करें तो वही सही जीवन है उनकी तो यही धारणा थी। ऐसे भार को बहुत समयतक उनका शरीर सह नहीं पाया। १३-३-७३ को ऐसे धैर्यशील या लढाऊ विद्वान्का अंत चुपचाप आ टपका। साहित्य विविध क्षेत्रोंमें गत चालीस वर्षोंसे निरंतर चला आया हमारे सहयोगी परिश्रम का इस तरह अंत हो गया। डॉ. हीरालालजी मेरे अत्यंत सौजन्यशील सहयोगी और कल्याण-मित्र रहे, यही मेरा सौभाग्य है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने एक बडे भाई को इस समय खो बैठा हूँ। अप्रेल के दूसरे हफ्तेमें इस प्रस्तावना का प्रारूप उनके पुत्र की ओर से मुझे लौटाया गया। मुझे खेद है कि डॉ. हीरालालजी उसका पूरी तरहसे सुधार न कर पाये। प्रथम खंडके प्रकाशन में उनकी जो सूचनाएँ और मार्गदर्शन मुझे पूरी तरह से मिले, वे सौलभ्य दुरदृष्टवशात् आनेवाले खंडोंको नहीं मिल सकते। प्रलेखोंके आधार पर उन्होंने प्रकाशकीय का प्रारूप तैयार कर दिनांक ६-१०-७२ को शोलापुर कार्यालय भेजा था। प्रस्तावनाके अंतमें हम दोनोंके हस्ताक्षर है। इसीलिए कि परस्पर चर्चा के बाद २४-११-७२ को (बालाघाट, मध्यप्रदेश) डॉ. हीरालालजीने उसका अनुमोदन किया था। परंतु मुझे बहुत खेद है कि इस पश्चलेख पर मुझे अकेले को ही हस्ताक्षर करना पड रहा है। बडी सद्भावना से मैं यह विश्वास रखता हूँ कि उनकी दिवंगत आत्मा को चिरशांति और सुख मिले।

मानसगंगोत्री
मैसूर ५७०००६
दिनांक २, मई, १९७३

आ. ने. उपाध्ये

आवश्यक निवेदन

जीवस्थान षट्खण्डागमका प्रथम खण्ड है। उसका प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणा है। उसकी प्रथम पुस्तक का अमरावती कारंजा और आरा की हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे सम्पादन होकर इ. स. १९३९ मे प्रकाशन हुआ था। उस समय मूडबिद्रीके सिद्धांतमंदिरमें स्थित ताडपत्रीय प्रतियाँ अनुपलब्ध थी। प्रसन्नता है कि पुन: इसके संशोधनके समय सोलापुर स्थित श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला के यशस्वी मंत्री काका श्री. वालचंद देवचंदजी शहा इनके सत्प्रयत्नसे उनके फोटो प्रिंट उपलब्ध हो गये हैं। उन्होंने इन्हे एन्लार्ज भी करा लिया है। साथ ही श्री. पं. बालचंदजी शास्त्री और श्री. प्रो. जिनेंद्रकुमार भोमाज को नियुक्त कर मुद्रित प्रतियोंको सामने रखकर उनके पाठभेद भी लिखवा लिये है।

किन्तु अब जीवराज जैन ग्रंथमालाने षट्खण्डागम धवलाकी अनुपलब्ध प्रथम छह पुस्तकोंको पुन: प्रकाशन का निर्णय कर उक्त पाठभेदोंके आधारसे उनके संशोधनका कार्य मुझे

सौंपा तब सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का संशोधन करते समय मुझे यह अनुभव हुआ कि केवल इन पाठभेदोंके आधारसे संशोधन करना इसलिए पर्याप्त न होगा, क्योंकि, मात्र उन पाठभेदोंके आधारसे विचार करते हुए मुद्रित प्रतीमें ऐसे प्रचुर स्थल सन्देहास्पद रह जाते है जिनके लिए फोटो प्रिंटसे मिलान करना उपयोगी होगा। जब मैंने अपना यह दृष्टिकोण काका श्री. वालचंद देवचंदजी शहाके सामने रखा तब उन्होंने डॉ. ए. एन्. उपाध्येजी से परामर्श कर फोटो प्रिंटोंसे मिलान की सब व्यवस्था करते हुए स्व. श्री. पं. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री को इस कार्यमें मेरी सहायता करने के लिये नियुक्त कर दिया।

षट्खण्डागम धवला और कषाय प्राभृत जयधवला की ताडपत्रीय सब प्रतियाँ हळे कानडी लिपिमें लिपिबद्ध हुई है। स्व. श्री. पं. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री को इस लिपीके पढनेका अच्छा अभ्यास था। वे बडी सुगमता से उन्हें पढते थे। अत: उनकी सहायतासे मैंने सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का अच्छी तरह सर्वांग मिलान किया। इससे शंकास्पद स्थलोंको ठीक करनेमें बडी सहायता मिली। अब स्व. श्री. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री हमारे बीच नही है। असमयमें उनका वियोग एक अनहोनी घटना है। जब तक यह संशोधन का कार्य चलेगा उनकी याद बराबर आती रहेगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मूडबिद्रीमें षट्खण्डागम धवला की ताडपत्रीय तीन प्रतियाँ है। उनमेंसे एक प्रति अधूरी प्रतीत होती है। शेष दो प्रतियाँ पूर्ण हैं। इतना अवश्य है कि बीचबीचमें उनके भी अनेक पत्र नष्ट हो गये हैं, और कहीं कहीं एकादा वाक्य या कुछ अक्षर त्रुटित हो गये है। फिर भी उक्त दोनो प्रतियोंके फोटो प्रिंटोंके आधारसे ग्रंथके सन्दर्भ के मिलानमें कठिनाई नही जाती। ऐसे कुछ ही स्थल शेष रहते है जो त्रुटित रह जाते हैं। मैने अपना यह अनुभव सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक और द्वितीय पुस्तक के मिलानके आधारसे लिखा है। संभव है कि आगे कुछ ऐसे स्थल भी हो जो सभी प्रतियोंमें न होनेसे उपलब्ध न किये जा सके।

इन तीन प्रतियोंमें से एकका संकेताक्षर 'अ' है। लगता है यह सबसे प्राचीन होनी चाहिये, क्योंकि, अन्य दो प्रतियोंमें उद्धृत रूपसे जो कतिपय अधिक गाथाएँ पाई जाती हैं वे उसमें नहीं हैं। शेष दो प्रतियाँ उसके बाद लिपिबद्ध की गई जान पड़ती हैं। उनमेंसे खंडित प्रति का संकेत अक्षर 'क' है और तीसरी पूर्ण प्रति का संकेत अक्षर 'ब' है।

प्रथम संस्करण से इस संस्करणमें पाठभेदोंकी दृष्टि से पर्याप्त संशोधन हुआ है। यद्यपि प्रथम संस्करण से इस संस्करणमें जहाँ जहाँ पाठोंका संशोधन किया गया उन संशोधित पाठोंको मूलमें स्वीकार कर प्रथम संस्करणके पाठोंको 'मु' इस संकेताक्षरके साथ पादटिप्पणोंमें दे दिया गया है। तथापि पाठकोंको संशोधन की विशेषता का ज्ञान करानेके अभिप्रायसे उनमें कई दृष्टियोंसे अनेक उपयोगी संशोधित पाठोंकी मालिका यहाँ दी जाती है--

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
१	१	अप्पुत्थ	१	१	अप्पत्थ
१३	२	साहूपसाहा	१३	२	साहुपसाहा
१५	५	सुकुक्खि	१५	५	सुक्कुक्खि
१६	९	णियसवाचय	१६	८–९	णियसव्वाचय
३२	१	किमिति	३३	३	किमर्थमिति
३२	५	दहति	३३	७	घातयति दहति
३६	२	सर्वोद्यम्	३७	१	सर्वाद्धा
३८	२	मङ्गलम्। तत्र	३९	२	मङ्गलत्वम्। न
३९	१०	मंगल-फलं-देहितो कय अब्भुदयणिस्सेयससुहाइस्स	४०	१०	मंगलफलं अब्भुदयणिस्सेयस सुहाइं। तं
४०	३	थि णमो सुत्तं	४१	२	इणमो सुत्तं
४१	५	तच्च	४२	५	तं च
४१	६	णिबद्ध देवदा	४२	६	कय-देवदा
४१	७	कय-देवदा	४२	७	ण णिबद्धो
५२	८	रत्नाभोगस्य	५३	८	रत्नभागस्य
६७	१	धारया	६८	१	धरा य
६७	५	धरसेण	६७	५	धरसेणाइरिय
८१	९–१०	आणुग	८२	८	आणय
८१	१०	सरीरं च भवियं	८१	८	सरीरं भवियं
८३	११	श्रोष्यत्य	८४	१०–११	श्रवति श्रोष्यत्य
९१	१	एवम्भूते	९२	१	एवम्भेदे
९२	४	अणिबोहवग्गहे	९३	५	अणिदोग्गहे
९६	९	णिसिहियं	९७	९	णिसीहियं

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
					मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
१०२	१	धम्मदेसणं	१०३	१	धम्मुवदेसणं
११०	३	वेस्याणं वस्सा	१११	४	वेस्यावंसा
११०	१	अवलेव ओ	१११	९	अलेवओ
११२	१	मत्थिणिद्देस्सो	११३	१	मत्थणिद्देसो
१२२	१	वत्थूहं	१२३	१	वत्थूणं
१२३	१०	वज्झाए	१२४	१०	वुज्झाए
१२८	८	मछंदृसा	१२९	८	मछकंसा
१३०	१०	उत्तपयडि	१३१	१०	उत्ता पयडि
१३४	२	परिह्नुतमिति	१३५	३	परिह्नत्य किमिति
१३५	३	सिद्ध	१३६	३	सिद्धि
१३६	५	मीतिनियमिते	१३७	५	'नि' नियमिते
१५७	३	पडिवज्जतिदि	१५८	३	पडिज्जदीदि
१६३	१	जहूमसहृणं	१६४	१	जमसद्दहणं
१७१	१	सिथिल	१७२	१०	सिढिल
१७५	२	नाम्यतरेण	१७६	४	लाभ्यन्तरेण
१९४	६	सहार्थाव	१९५	६	सहास्यार्थाव
१९६	७	विच्छेदस्यार्थं	१९७	८	विच्छेदः स्यात्, अर्थ
१९७	५	भावेनैकत्वे	१९८	६	भागेनैकत्वे
२०१	३	सिद्धगदी	२०२	५	सिद्धिगदी
२०४	२	,,	२०५	२	,,
२१३	३	असंखेज्जाए गुणसेढीए	२१४	३	असंखेज्जगुणाए सेढीए
२१८	३	कम्माणुसारी	२१९	१	कमाणुसारी
२२०	७	थावरबंधोसरण	२२१	७	थावरबंधोसरण
२२१	३	अ छद्दमाणेसु	२२१	८	अछंदमाणी सु
२२१	४–५	तदो तव्वयणाणं	२२१	११	तदो य तव्वयणाणं
२२१	५	आइल्लु	२२१	१२	आइल्ल
२२१	६	इदि । आइरिय	२२२	१	इदि । आइल्लाइरिय
२२२	४	णिवट्टत्ति	२२३	१	णिट्टदि त्ति
२३२	१	वृत्तेः	२३४	७	वृत्तिः
२४५	७	वष्टम्भाच्चाक्षुः । अनेकार्थे	२४७	५	वष्टम्भाच्चष्टेरनेकार्थे
२५१	१	तत्प्रतिघातः	२५३	५	तदप्रतिघातः
२५९	६	संज्ञिनः इति	२६१	११	संज्ञिनः, अमनस्का असंज्ञिन इति ।

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
२६९	२	स्यासंभव:	२७१	१	स्यस्य संभव:
२७९	४	योगनिरोधात्	२८१	५	योगविरोधात्
२९३	१	पूर्वायु	२९५	५	छिन्नपूर्वायुषा
२९४	४	न पुनरस्यार्थः	२९५	५	न पुनरस्यर्षः
२९७	९	ऋद्धेरुपर्यभावात्	२९९	९	ऋद्धेरुपर्युभयभावात्
३१२	७	षट् पर्याप्तयो	३१४	७	षडपर्याप्तयो
३१८	८	संजदासंजद ट्ठाणे	३२१	१	संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे
३२१	४–५	आदि आदि आदि	३१३	४–५	अंति अंति अंति
,,	६	पुनर्मरणं	,,	७	पुनरमरणं
३३२	८	संजदासंजद-ट्ठाणे	३३४	८	संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे
३३७	४	विकलेन्द्रिय	३३९	४	विकलैकेन्द्रिय
३३८	३	शान्ततत्संतानानां	३४०	३	शान्तान्तस्संतानानां
३४०		वेदश्च स्त्रीवेदः।	३४२	१०	स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः।
३४१		-वदनुगत	३४३	३	वदनवगत
,,		जीवस्य कर्तृत्वात्	,,	६	जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वात्
,,		पुमान्नपुंसकमुभयो०	,,		पुमान्नपुंसकं, उभया०
३४२		इट्ठावाग	३४४	२	इट्ठावाग-
,,		तणिट्ठवागग्गि	,,	५	तणिट्ठवागग्गि-
३४४		विषयाभिलाषे	३४६	३	विषयाभिलाषा
३४५		स्तेन विकाराभावात्	३४७	२	तेनाविकाराभावात्
,,		कथमवसीयत	,,	५	कुतोऽवसीयत
,,		वेदादपि	,,	७	वेदावपि
,,		सम्तापान्न्यूनतया	,,	,,	सन्तापात् न्यूनतया
३४६		कषाय	३४८	७	पर्यायत्वात् कषाय०
३४७		तयोर्क्त	३४९	१	तयोक्तेः।
,,		अत्रतन च शब्दः	,,	१०	अत्रतनः चशब्दो
३४८		भिन्नं तन्निर्देशो	३५०	१०	भिन्नस्तन्निर्देशो
३६०		भेयं च	३६२	१	भेयगयं
३६८		पुनः सयोग	३७०	१	पुनः स सयोग
३७०		नयादेशना	३७२	४–५	नयदेशना
,,		देसेनानु०	,,	६	देशनानु०
३७४		स्थानानां संख्या	३७६	१	स्थानसंख्या
,,		पेक्षया न, तत्र	,,	६	पेक्षया च तत्र

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
३७५		ष्टात्संयमो	३७७	७	ष्टात्स संयमो
३७७		नाविवाभविष्यतां	३७९	३	नावभविष्यतां
३७९		विधे:	३८१	४	विधिः
,,		तद्धि ग्रहणं	३८१	५	तद्विधिग्रहणं
३८१		विशिष्टार्थः	३८३	१	विशिष्टोऽर्थः
,,		[illegible]	[illegible]	४	आचार्यभावे आचारकस्या
३८३		दृष्टान्त	३८५	८	दृष्टार्थं
,,		सज्जननात्	,,	९	सज्जनात्
३९०		पूजणिरदो	३९२	२	पूजण-रदो
३९१		पाठो नास्ति	३९३	६	शुक्ललेश्याध्यानप्रतिपाद नार्थमाह—
३९२		रनन्तस्यापेक्षया तद्वृद्धिस्थादि	३९४	१०	रनन्तस्यापि क्षयः, द्विस्थादि

ये कतिपय महत्त्वके पाठभेद हैं। जिनका यहाँ निर्देश किया है। इनमेंसे कतिपय पाठभेदोंको ध्यानमें रखकर अर्थमें भी परिवर्तन किया गया है। इससे समग्र ग्रंथ लगभग शुद्ध हो गया है। पंचनमस्कारस्वरूप प्रथम मंगलसूत्र प्रातःस्मरणीय भगवान् आचार्य पुष्पदंत की अमर कृति है। वह सर्वार्थसाधक है। अ. और ब. प्रतिमें वह 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूपसे लिपिबद्ध हुआ है। तदनुसार संशोधन करते समय मैंने यही पाठ स्वीकार कर लिया था। किन्तु मुद्रणके समय इसे बदल दिया गया है।

इस संस्करणके मुद्रण का पूरा भार श्री. पं. नरेन्द्रकुमार भिसीकर (न्यायतीर्थ) इनके ऊपर है। प्रूफ रीडिंग आदिका सब कार्य वे और प्रा. जिनेंद्रकुमार भोमाज देखते हैं। वे सरल स्वभावी, व्युत्पन्न और तत्त्वनिष्ठ विद्वान् हैं। उन्होंने इस कार्य को अच्छी तरह सम्पन्न किया। इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

श्रीयुत पं. हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री का षट्खण्डागम धवलाके संपादनमें प्रारंभमें पूरा सहयोग रहा है। उन्होंने कषायप्राभृतचूर्णि और पंचसंग्रह आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका संपादन किया है। वे अनुभवी विद्वान् हैं। अतएव काका श्री. वालचंदजी देवचंदजी शहा की सम्मतिपूर्वक संशोधित संस्करणका बारीकीसे मिलान करनेके लिये मैंने उन्हे वाराणसी आमंत्रित किया था। मेरे इस आमंत्रणको स्वीकार कर वे वाराणसी आये। ७–८ दिन तक मेरे घर ठहरे रहे। ग्रंथमें कहीं कोई त्रुटि न रह जाय इस दृष्टिसे मैंने उनके साथ समग्र ग्रंथका मय टिप्पण आदिके साथ वाचन कर उसे अंतिमरूप दिया। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

श्रीमान् डॉ. हीरालालजी और श्रीमान् डॉ. ए. एन्. उपाध्ये श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक हैं। उन दोनों विद्वानोंकी स्वीकृति पूर्वकही मुझे यह कार्य सौंपा गया था। इस विषयमें विशेष परामर्श करनेके लिए मैं एक बार श्री. माणिकचंदजी भिसीकर, न्यायतीर्थ, एम्. ए. (बाहुबली) इनके साथ तथा दूसरी बार श्रीयुत पं. ब्र. माणिकचंदजी चवरे इनके साथ कोल्हापूर गया। दोनों बार श्री. डॉ. ए. एन्. उपाध्येजीने अपने बंगलेमें मुझे बहुत अच्छी तरह रखा और आवश्यक परामर्श दिया। एतदर्थ मैं उक्त सब विद्वानोंका आभारी हूँ।

फोटो प्रिंटोंके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका मिलान मैंने बाहुबली (कुंभोज) के वास्तव्यमें किया है। इसके लिये मुझे वहाँ सब प्रकारकी सुविधा प्रदान की गई। इसके लिये मैं पूरे बाहुबली विद्यापीठ परिवारका आभारी हूँ।

काका श्री. वालचंदजी देवचंदजी शहा तो जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूरके प्राण हैं। अपनी वृद्धावस्था की चिंता न करते हुए वे निरलस भावसे जीवराज जैन ग्रंथमाला सहित अनेक साहित्यिक तथा शैक्षणिक संस्थाओंकी सम्हाल करते रहते हैं। श्रीसिद्धक्षेत्र कुंथलगिरीकी संम्हाल भी उन्हें ही करनी पडती है। उनकी ये सेवाएं स्वर्णाक्षरोंमें अंकित करने लायक हैं। वे दीर्घजीवी होकर इसी प्रकार धर्म और समाजकी सेवा करते रहें यह भावना है। उनका इस कार्यमें मुझे यथासंभव पूरा साहाय्य प्राप्त हुआ। इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस संस्करणके मुद्रण का कार्य मेसर्स सम्मति मुद्रणालय, सोलापुरके संचालक तथा कर्मचारी गण इन्होंने अल्पावधिमें सुंदर छपाई के साथ संपन्न किया है। इसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस संस्करणके संशोधनमें मैंने अपनी पूरी प्रतिभाका उपयोग किया है। फिर भी कहीं कोई त्रुटि रह गई तो विद्वान् पाठक उसे सुधार कर पढें यह नम्र निवेदन है।

विज्ञेषु अलम्।

श्री सन्मति जैन निकेतन—
नरिया, वाराणसी—५
ता. ११—१०—७२

निवेदक
फुलचंद सि. शास्त्री

प्राक् कथन

(प्रथम संस्करण)

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ में मैंने कारंजाके शास्त्र भंडारोंका अवलोकन किया और वहांके ग्रंथोंकी सूची बनाई । वहां अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ । उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कंठा मेरे तथा संसारके अनेक भाषा-कोविदोंके हृदयमें उठने लगी । ठीक उसी समय मेरी कारंजाके समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेजमें नियुक्ति हो गई और मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धांतशास्त्री पं. **देवकीनन्दनजीके** सुप्रयत्नसे व **श्रीमान् सेठ गोपाल साबजी चवरे** व **बलात्कारगण मन्दिरके** अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योंका अब तक प्रकाशन हो चुका है ।

मूडबिद्रीके धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी कीर्ति मैं बचपनसे ही सुनता आ रहा हूं । सन् १९२२ में मैंने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पड़ने लगी । किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मानुरागी, साहित्यप्रेमी **श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने** धवल और जयधवलकी प्रतिलिपियां कराकर यहांके जैनमन्दिरमें विराजमान कर दीं । अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंके प्रकाशमें लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा ।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र **बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सब-जज्ज** । पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके विषयमें चर्चा कर रहे थे । जज्जसाहब दिनभरकी धूमधाम और दौड़-धूपसे थककर सुस्तसे लेटे हुए थे । इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ **लक्ष्मीचन्द्रजी** भी अधिवेशनमें आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमें, सम्भवतः रथ चलानेमें, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं । इस खबरसे जज्जसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने कहांकी स्फूर्ति आ गई । वे हम लोगोंसे बिना कुछ कहे सुने वहांसे चल दिये । रातके कोई एक बजे लौटकर उन्होंने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमें दिया जिसमें सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीने साहित्योद्धारके लिये दस हजारके दानकी प्रतिज्ञा की थी । इस दानके उपलक्ष्यमें दूसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित समाजने सेठजीको **श्रीमंत सेठकी** पदवीसे विभूषित किया ।

आगामी गर्मीकी छुट्टियोंमें अज्जसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहां सेठ राजमलजी बडजात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री धवलादि सिद्धान्तोंके संशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय।

गर्मीके पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमंत सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई। पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई। उस समय इन ग्रंथोंको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोक चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिए कोई प्रतिलिपी देनेके लिए तैयार नहीं थे। ऐसे समयमे श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने व अमरावती पंचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोंका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी।

इन प्रतियोंके सूक्ष्मावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोंका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्खलन-प्रचुर ज्ञात हुई। हमारे सन्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियां थीं उनमेंसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पडी। अत: मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिंदी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोंके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमें उचित परामर्श दे सकें। इस प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमें निम्न निर्णय किये--

१. सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना-क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पहले आता है।

२. मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय। समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रतिकी प्राय: एक ही हाथकी नकलें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सकें उनका उपयोग किया जाय तथा मूडबिद्रीकी ताडपत्रीकी प्रतिसे मिलान करनेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें सहारनपुरकी प्रतिके मिलानका उद्योग किया जाय।

३. मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सभी स्वाध्याय-प्रेमियोंको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है। संस्कृत छाया न दी जाय, क्योंकि, एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढता है; दूसरे उससे प्राकृतके पठन-पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठे रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते; और तिसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. संस्कृत छाया न देनेसे जो स्थानकी बचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोंमेंसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय।

५. ऐसे ग्रंथोंका सम्पादन प्रकाशन बारबार नहीं होता, अतएव इस कार्यमें कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें त्रुटि पड़े।

६. उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय।

इन निर्णयोंको सन्मुख रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया। मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं और विघ्नबाधाओंसे बचा हुआ ही समय था,[1] जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था। अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। सन १९३५ में बीना निवासी पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थिक आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् साढूमल (झांसी) के निवासी पं. हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात हुई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायबहादुर सेठ लालचन्दजीके यहां रहते हुए ही कार्य करते [illegible] आये और तबसे वे इस कार्यमें मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समयसे बीना निवासी पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति कर ली गई है और वे भी अब इसी कार्यमें मेरे साथ तत्परतासे संलग्न हैं। संशोधन कार्यमें यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है।

प्राकृतपाठ संशोधनसंबन्धी नियम हमने प्रेस कापीके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्धमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी और अनेक प्राकृत ग्रंथोंका अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए.एन्. उपाध्येके साथ पढ़कर निश्चित किये। तथा अनुवादके संशोधनमें जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् सि. शा. पं. देवकीनन्दनजीका भी समय समयपर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियोंकी इस निर्व्याज सहायताका मुझपर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी पं. हीरालालजी शास्त्री और पं. फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूं। यदि इस कृतिमें कुछ अच्छाई और सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। कालके दोषसे कहो या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रंथोंका पठन-पाठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था। ऐसी अवस्थामें भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताब्दियोंतक सावधानीसे रक्षा करनेवाले मूडबिद्रीके सम्मान्य भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षोंमें इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले

---

[1] मेरी गृहिणी सन् १९२७ से हृद्रोगसे ग्रसित हो गई थी। अनेक औषधि उपचार करनेपर भी उसका वह रोग हटाया नहीं जा सका, किन्तु धीरे धीरे बढ़ता ही गया। बहुतबार मरणप्राय अवस्थामें बड़े महंगे इलाजोंके निमित्तसे प्राणरक्षा की गई। इसी प्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई। अन्ततः सन १९३८ के दिसम्बर मासमें उसका चिरवियोग हो गया।

स्व. सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, बम्बई **मूलचन्दजी सोनी**, अजमेर और **स्व. सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी** सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व. सेठ हीराचन्दजीके ही प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। **स्व. लाला जम्बूप्रसादजी** रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र **स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय** और उनकी **स्व. भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई** तथा **पं. सीतारामजी शास्त्री** हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विद्वेषको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् **सिंघई पन्नालालजीने** जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मंगाई और उन्हें संशोधन और प्रकाशनके लिये हमें प्रदान की उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोडा है। प्रिय सुहृत् बैरि. **जमनाप्रसादजी सब-जज्जका** भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्योंमें सदैव कप्तानका कार्य किया करते हैं। **श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी** तो इस समस्त व्यवस्थाके आधारस्तम्भ ही हैं। आर्थिक संकटमय वर्तमानकालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, और साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बडे बडे दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भावी पिढीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भेलसा निवासी **सेठ राजमलजी बडजात्या** और श्रीमान् **तख्तमलजी** वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बडी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी ट्रस्ट कमेटीमें सि.पन्नालालजी, पं. देवकीनन्दनजी और सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके **श्रीयुत मिश्रीलालजी** व सरसावा निवासी **पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार** भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारसे हमें संपादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड गया और हम उनके साहाय्यसे बिलकुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुत **ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने** हमें इस कार्यको आगे बढाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तडपता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तडपे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं वे इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन और प्रकाशनसम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् श्रद्धेय **पं. नाथूरामजी प्रेमीसे** मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें नवीन युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

स्फूर्तिदाता हैं। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्थामें कष्ट पहुंचाया है उसका यहां विवरण न देकर इतना ही कहना बश है कि हमारी इस कृतिके कलेवरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे विद्यमान है। बिना उनके तात्कालिक सत्परामर्श, सदुपदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जैसा भूमिकासे ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें सिद्धान्तभवन, आरा और महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा की प्रतियोंसे बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों संस्थाओंके अधिकारियोंके और प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक पं. भुजबली शास्त्री और पं. देवकीनन्दनजी शास्त्रीके बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूडबिद्रीसे और तत्पश्चात् सहारनपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी,* सोलापुर, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मूडबिद्री और श्रीयुत नेमिचन्द्रजी वकील, उस्मानाबादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुत प्रेमशंकरजी दवेकी सहायतासे ही हम धवलाकी प्रशस्तिके ज्योतिषसम्बन्धी उल्लेखोंकी छानबीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरस्वती प्रेसमें' हुआ है। यह क्वचित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्यमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने और उनके कर्मचारियोंने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्यको पूरा करते समय हृदयके पवित्र और दृढ़ताके लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि तककी आचार्य-परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-लवसे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशांग साहित्यमें ग्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला केवल इतना ही साहित्यांश बचा है जो धवल, जयधवल और महाधवल कहलानेवाले ग्रंथोंमें निबद्ध है; दिगम्बर मान्यतानुसार शेष सब कालके गालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गंभीर है। उसके विवेचनकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको देखनेसे हम जैसे अल्प ज्ञानियोंकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका भी गर्व खर्व होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

---

* इसके छपते छपते हमें समाचार मिला है कि दोशीजीका २० अक्टूबरको स्वर्गवास हो गया, इसका हमें अत्यन्त शोक है। हमारी समाजका एक भारी कर्मठ पुरुषरत्न उठ गया।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। किन्तु इसके तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर खेद और विषादके आवेगसे रो रहा है। इन सिद्धान्त ग्रंथोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है उसका गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिला सका, क्योंकि, इनकी एकमात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द हो गई और अध्ययनकी वस्तु न रहकर पूजाकी वस्तु बन गई। यदि ये ग्रंथ साहित्य-क्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अबतक न जाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्यको कौनसी दिशा और गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां, जिनमें विद्वत्समाजके समय और शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पडी हैं। ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ। जिन प्रतियोंको लेकर हम संशोधन करने बैठे वे त्रुटियों और स्खलनोंसे परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक एक शब्दके संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पडी हैं और कितने दिनोंतक रातके दो दो बजेतक बैठकर अपने खूनको सुखाना पड़ा है। फिरभी हमने जो संशोधन किया उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह सब करना पड़ा, जब कि मूडबिद्रीकी आदर्श प्रतियोंके दृष्टिपात मात्रसे संभवत: उन कठिन स्थलोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय

हो सकता था। हमें उस मनुष्यके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार कमाईपर कोई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक एक टुकडेके लिये दर दर भीक मांगता फिरे। और इससे जो हानि हुई वह किसकी? जितना समय और परिश्रम इनके संशोधनमें खर्च हो रहा है उससे मूल प्रतियोंकी उपलब्धिमें न जाने कितनी साहित्यसेवा हो सकती थी और समाजका उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्तिके अपव्ययसे समाजकी गति रुकती है। इस मंदगतिसे न जाने कितना समय इन ग्रंथोंके उद्धारमें खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला और संस्कृतिके लिये बडे संकटका है। राजनैतिक विप्लवसे हजारों वर्षोंकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटोंमें भस्मसात् हो सकती है। दैव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा ही संकट यहां आ गया तो ये द्वादशांगवाणीके अवशिष्ट रूप फिर कहां रहेंगे? रूस, चीन आदि देशोंके उदाहरण हमारे सन्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जानेपर नये कभी भी निर्माण कराकर खडे किये जा सकते हैं, धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम होनेपर कदाचित् प्रचारद्वारा बढाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द ग्रंथोंमें ग्रथित हैं उनके एकवार नष्ट हो जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोडों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकडेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। संहारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे

बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामें कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत-भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम संग्रहोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूं और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूं।

किंग एडवर्ड कालेज
अमरावती
१-११-३९

हीरालाल जैन.

१. श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंको प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका विचार पंडित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किन्तु कोई भी महान् कार्य सुसंपादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी बाट जोहता रहता है। बम्बईके दानवीर, परमोपकारी स्व. सेठ माणिकचंदजी जे. पी. का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छप्पन वर्ष पहिले वि. सं. १९४० (सन् १८८३ ई.) की बात है। सेठजी संघ लेकर मूडबिद्रीकी यात्राको गये थे। वहां उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंकी ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतियोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मरक्षक दृष्टिसे यह बात छुपी नहीं रही कि उन प्रतियोंके ताडपत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके भट्टारकजी तथा वहांके पंचोंका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथोंको पढ़ समझ भी सकता है या नहीं? पंचोंने उत्तर दिया ' हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्मको सफल मानते हैं। हां, जैनबिद्री (श्रवणबेलगुल) में ब्रह्मसूरि शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं '। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचारमें पड गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किन्तु उनके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रासे लौटकर सेठजीने अपने परम सहयोगी मित्र, शोलापुरनिवासी श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री धवलादि ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रंथोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचंदजीकी इस इच्छाको मान देकर सेठ हीराचंदजीने दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि. सं. १९४१ (सन १८८४) में स्वयं मूडबिद्रीकी यात्रा की। वे अपने साथ श्रवणबेलगुलके पण्डित ब्रह्मसूरि शास्त्रीको भी ले गये। ब्रह्मसूरिजीने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनोंको श्री धवल सिद्धान्तका मंगलचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब अतिप्रसन्न हुए। सेठ हीराचंदजीके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी भावना दृढ़ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे प्रतिलिपिका कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहांसे लौटकर सेठ हीराचंदजी बम्बई आये और सेठ माणिकचंदजीसे मिलकर उन्होंने ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेका विचार पक्का किया। किन्तु उनके वहांसे लौटनेपर वे तथा सेठ माणिकचंदजी अपने अपने व्यावसायिक कार्योंमें गुंथ गये और कोई दश वर्षतक प्रतिलिपि करानेकी बात उनके मनमें ही रह गई।

इसी बीचमें अजमेरनिवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचंदजी सोनी, श्रीयुक्त पं. गोपालदासजी बरैयाके साथ मूडबिद्रीकी यात्राको गये। उस समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके दर्शनकर वहांके पंचों और ब्रह्मसूरि शास्त्रीके साथ यह बात निश्चित की कि उन ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां की जाय।

तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारंभ हो गया। यात्रासे लौटते समय सेठ मूलचंदजी सोनी शोलापुर और बम्बई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचंदजी व माणिकचंदजीको भी अपने उक्त कार्यकी सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी अमरावतीवालोंसे ज्ञात हुआ है कि अब उनके पिता स्व. सिंघई वंशीलालजी सं. १९४७ (सन १८९०) के लगभग मूडबिद्रीकी यात्राको गये थे तब ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारंभ हो गया था। किंतु लगभग तीनसौ श्लोक प्रमाण प्रतिलिपि होनेके पश्चात् ही वह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि, सेठजी वह प्रतिलिपि अजमेरके लिये चाहते थे और यह बात मूडबिद्रीके भट्टारकजी व पंचोंको इष्ट नहीं थी।

इसी विषयको लेकर सं. १९५२ (सन १८९५) में सेठ माणिकचंदजी और सेठ हीराचंदजी के बीच पुनः पत्रव्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचंदजीने प्रतिलिपि करानेके खर्चके लिये चन्दा एकत्र करनेका बीड़ा उठाया। उन्होंने अपने पत्र जैनबोधकमें सौ सौ रुपयोंके सहायक बननेके लिये अपील निकालना प्रारंभ कर दिया। फलतः एक वर्षके भीतर चौदह हजारसे ऊपरके चन्देकी स्वीकारता आगई ! तब सेठ हीराचंदजीने सेठ माणिकचंदजीको शोलापुर बुलाया और उनके समक्ष ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे एकसौ पच्चीस (१२५) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि करनेकी बात पक्की होगई। उनकी सहायताके लिये मिरजनिवासी गजपति शास्त्री भी नियुक्त कर दिये गये। ये दोनों शास्त्री मूडबिद्री पहुंचे और उसी वर्षकी फाल्गुन शुक्ला ७ बुधवारको ग्रंथकी प्रतिलिपि करनेका कार्य प्रारंभ हो गया। उसके एक माह और तीन दिन पश्चात् चैत्र शुक्ला १० को ब्रह्मसूरि शास्त्रीने सेठ हीराचंदजीको पत्रद्वारा सूचित किया कि जयधवलके पन्द्रह पत्र अर्थात् लगभग १५०० श्लोकोंकी कापी हो चुकी। इसके कुछ ही पश्चात् ब्रह्मसूरि शास्त्री अस्वस्थ हो गये और अन्ततः स्वर्गवासी हुए।

ब्रह्मसूरि शास्त्रीके पश्चात् गजपति शास्त्रीने प्रतिलेखनका कार्य चालू रक्खा और लगभग सोलह वर्षमें धवल और जयधवलकी प्रतिलिपि नागरी लिपिमें पूरी की। इसी अवसरमें मूडबिद्रीके पण्डित देवराज सेठी, शांतप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मय्य इंद्रद्वारा उक्त ग्रंथोंकी कनाडी लिपिमें भी प्रतिलिपि कर ली गई। उस समय सेठ हीराचंदजी पुनः मूडबिद्री पहुंचे और उन्होंने यह इच्छा प्रगट की कि तीसरे ग्रंथराज महाधवलकी भी प्रतिलिपि हो जाय और इन ग्रंथोंकी सुरक्षा तथा पठनपाठनरूप सदुपयोगके लिये अनेक प्रतियां कराकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें रक्खी जावें। किंतु इस बातपर भट्टारकजी व पंचलोग राजी नहीं हुए। तथापि महाधवलकी कनाडी प्रतिलिपि पंडित नेमिराजजी द्वारा किये जानेकी व्यवस्था करा दी गई। यह कार्य सन १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया। इसके पश्चात् सेठ हीराचंदजीके प्रयत्नसे महाधवलकी नागरी प्रतिलिपि पं. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा लगभग चार वर्षमें पूरी हुई। इस प्रकार इन ग्रंथोंका प्रतिलिपि कार्य सन १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समयमें इनकी कनाडी लिपि पं. देवराज सेठी, पं. शांतप्पा इन्द्र, पं. ब्रह्मय्य इन्द्र तथा पं. नेमिराज सेठी द्वारा ; तथा नागरी लिपि पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री, पं. गजपति उपाध्याय और पं. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा की गई। इस कार्यमें लगभग बीस हजार रुपया खर्च हुआ।

धवल और जयधवलकी प्रतिके बाहर निकलनेका इतिहास

धवल और जयधवलकी नागरी प्रतिलिपि करते समय श्री गजपति उपाध्यायने गुप्तरीतिसे उनकी एक कनाडी प्रतिलिपि भी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया। इस कार्यमें विशेष हाथ उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाईका था, जिनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इन ग्रंथोंके पठनपाठनका प्रचार हो। [illegible] उन प्रतिलिपियोंको लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचंदजीके पास शोलापुर पहुंचे और न्योछावर देकर उन्हें अपने पास रखनेके लिये कहा। किंतु सेठजीने उन्हें अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया, तथा अपने घनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचंदजी को भी लिख दिया कि वे भी उन प्रतियोंको अपने पास न रक्खें। उनके ऐसा करनेका कारण यही जाना जाता है कि वे मूडबिद्रीसे बाहर प्रतियोंको न ले जानेके लिये मूडबिद्रीके पंचों और भट्टारकजी से वचनबद्ध हो चुके थे। अतएव प्रतियोंके प्रचारकी भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियोंको अपने पास रखना नैतिक दृष्टिसे उचित नहीं समझा। तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियोंको लेकर सहारनपुर पहुंचे, और वहां श्री लाला जम्बूप्रसादजी रईसने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियोंको अपने मंदिरजीमें विराजमान कर दिया।

गजपति उपाध्यायने लालाजी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाडी प्रतियोंकी नागरी लिपी कर देंगे। किंतु पुत्रकी बीमारीके कारण उन्हें शीघ्र घर लौटना पड़ा। पश्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया। इन संकटोंके कारण उपाध्यायजी फिर सहारनपुर न जा सके और सन् १९२३ में उनका भी शरीरान्त हो गया। लालाजीने उन ग्रंथोंकी नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्रीके द्वारा कराई। यह कार्य सन् १९१६ से १९२३ तक संपन्न हुआ। सन् १९२४ में सहारनपुरवालोंने मूडबिद्रीके पं लोकनाथजी शास्त्रीको बुलाकर उनसे कनाडी और नागरी लिपियोंका मिलान करा लिया।

सहारनपुरकी कनाडी प्रतिकी नागरी लिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे यह ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय पं. विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्री कनाडीकी नागरी प्रतिलिपि करने बैठे उस समय पं. विजयचंद्रय्या पढ़ते जाते थे और पं. सीताराम शास्त्री सुविधा और जल्दीके लिये कागजके खर्रोंपर नागरीमें लिखते जाते थे। इन्हीं खर्रोंपरसे उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानीसे लिखकर लालाजीको दे दी, किंतु उन खर्रोंको अपने पास ही रख लिया, और उन्हीं खर्रोंपरसे पीछे सीताराम शास्त्रीने अनेक स्थानोंपर धवल जयधवल की लिपियां करके दीं। वे ही तथा उन परसे की गई प्रतियां अब अमरावती, आरा, कारंजा, दिल्ली, बम्बई, शोलापूर, सागर, झालरापाटन, इन्दौर, सिवनी, ब्यावर, और अजमेरमें विराजमान हैं।

पं. गजपति उपाध्याय तथा पं. सीताराम शास्त्रीने चाहे जिस भावनासे उक्त कार्य किया हो और भले ही नीतिकी कसौटी पर वह कार्य ठीक न उतरता हो, किंतु इन महान्

सिद्धान्त ग्रंथोंको सैकडों वर्षोंके कैदसे मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु संसारका महान् उपकार करनेका श्रेय भी उन्हींको है। इस प्रसंगमें मुझे गुमानी कविका निम्न पद्य याद आता है---

पूर्वजशुद्धिमिषाद् भुवि गंगां प्रापितवान् स भगीरथभूपः ।
बन्धुरभूज्जगतः परमोऽसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥

सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंका इतिहास संग्रह करनेके लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महानुभावोंने सूचनात्मक उत्तर भेजनेकी कृपा की। हम उन्हीं उत्तरोंके आधारसे पूर्वोक्त इतिहास प्रस्तुत करनेमें समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनोंका आभार मानते हैं।

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रति-उद्धारसंबन्धी प्रश्नावलीका उत्तर भेजनेवाले सज्जनोंकी नामावली—

१ श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी, शोलापुर
२ श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर
३ श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई
४ श्रीमान् पं. लोकनाथजी शास्त्री, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडबिद्री
५ श्रीमान् ब्र. शीतलप्रसादजी
६ श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, कारंजा
७ श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी बंशीलालजी, अमरावती
८ श्रीमान् पं. मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना
९ श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्री, श्री. ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, बम्बई
१० श्रीमान् पं. के. भुजबलीजी शास्त्री, जैन सिद्धान्तभवन, आरा
११ श्रीमान् पं. दयाचन्दजी न्यायतीर्थ, सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर
१२ श्रीमान् सेठ वीरचंद कोदरजी गांधी, फलटण
१३ श्रीमान् सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जव्हेरी, बम्बई
१४ श्रीमान् सेठ मूलचन्द किशनदास जी कापडिया, सूरत
१५ श्रीमान् सेठ राजमल जी बडजात्या, भेलसा
१६ श्रीमान् गांधी नेमचंद बालचंदजी, वकील, उस्मानाबाद
१७ श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगंज

१. धवलादि सिद्धान्तग्रंथोंकी एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देशके मूडबिद्री नगरके गुरुवसदि नामक जैन मंदिरमें वहांके भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचोंके अधिकारमें है। तीनों ग्रंथोंकी प्रतियां ताडपत्र पर कनाडी लिपिमें हैं। धवलाके ताडपत्रोंकी लम्बाई लगभग २। फुट, चौडाई ३ इंच, और कुलसंख्या ५९२ है। यह प्रति कबकी लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों परसे नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाडी है जो पांच छैसौ वर्षोंसे कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिरकी अभी तक 'सिद्धान्त बस्ती' नामसे प्रसिद्धि है। वहां से किसी समय ये ग्रंथ मूडबिद्री पहुंचे। (एपीग्राफिआ कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ. २८)

२. इसी प्रतिकी धवलाकी कनाडी प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौडे काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३. धवलाके ताडपत्रोंकी नागरी प्रतिलिपि पं. गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौडे काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिरमें सुरक्षित है।

४. मूडबिद्रीके ताडपत्रों परसे सन् १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्यायने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायतासे जो प्रति गुप्त रीतिसे की थी वह आधुनिक कनाडी लिपिमें कागजपर है। यह प्रति अब सहारनपुरमें लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईसके अधिकारमें है।

५. पूर्वोक्त नं. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में पं. विजयचंद्रैया और पं. सीतारामशास्त्रीके द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच कराई गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे, ८ इंच चौडे कागजके १६५० पत्रोंपर हुई है। इसका नं. ४ की कनाडी प्रतिसे मिलान मूडबिद्री के. पं. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लालाजीके ही अधिकारमें है।

६. पूर्वोक्त नं. ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और नागरी प्रतिलिपि करके अपने पास रख ली थी, ऐसा श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे जाना जाता है। यह प्रति अब भी पं. सीताराम शास्त्रीके अधिकारमें है।

७. पूर्वोक्त नं. ६ की प्रतिपरसे ही सीताराम शास्त्रीने वे अनेक प्रतियां की हैं जो अब कारंजा, आरा, सागर आदि स्थानों में विराजमान हैं। सागर की प्रति १३॥ इंच लम्बे

७॥। इंच चौड़े कागज के १५९६ पत्रोंपर है। यह प्रति सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालयमें विराजमान है और श्रीमान पं. गणेशप्रसादजी वर्णीके अधिकारमें है।

८. नं. ७ परसे अमरावतीकी धवला प्रति १७ इंच लम्बे, ७ इंच चौड़े कागजके १४६५ पत्रोंपर बटुकप्रसादजी कायस्थके हाथसे संवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि. को लिखी गई है। यह प्रति अब इस साहित्य उद्धारक फंडके ट्रस्टी श्रीमान् सिं. पन्नालाल बंसीलालजी के अधिकारमें है और अमरावतीके परवार दि. जैन मन्दिरमें विराजमान है। इसके ३७५ पत्रोंका संशोधन सहारनपुरवाली नं. ५ की प्रतिपरसे सन १९३८ में कर लिया गया था।

 प्रस्तुत ग्रंथकी प्रेसकापी इसी प्रतिपरसे की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथकी टिप्पणियों में 'अ' संकेत द्वारा किया गया है।

९. दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ संशोधनमें उपयोग किया है, आराके जैनसिद्धान्त भवन में विराजमान है, और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजीके अधिकारमें है। यह उपर्युक्त प्रति नं. ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा वि. सं. १९८३ माघ शुक्ला ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४॥ इंच लम्बे और ६॥ इंच चौड़े हैं, तथा पत्रसंख्या ११२७ है यह हमारी टिप्पणियों आदि की 'आ' प्रति है।

१०. हमारेद्वारा उपयोगमें ली गई तीसरी प्रति कारंजाके श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी है और हमें पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त नं. ६ परसे स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा १३॥ इंच लंबे ८ इंच चौड़े कागजके १४१२ पत्रोंपर श्रावण शुक्ला १५, सं. १९८८ में लिखी गई है। इस प्रतिका उल्लेख टिप्पणियों आदि में 'क' संकेत द्वारा किया गया है।

सहारनपुर की प्रतिसे लिए गए संशोधनोंका संकेत 'स' प्रतिके नामसे किया गया है।

इनके अतिरिक्त, जहांतक हमें ज्ञात है, सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतियां सोलापुर, झालरापाटन, ब्यावर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर, दिल्ली और सिवनीमें भी हैं। इनमेंसे केवल बम्बई दि. जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमें वहां के मैनेजर श्रीयुत पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने भेजनेकी कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आराकी उपर्युक्त नं. ९ की प्रति पर से पं. रोशनलालद्वारा सं. १९८९ में लिखी गई है, और उसी परसे झालरापाटन ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वतीभवन के लिए प्रति कराई गई है। सागरकी सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशालाकी प्रतिका जो परिचय वहां के प्रधानाध्यापक पं. दयाचंदजी शास्त्रीने भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिवनी की प्रति सागरकी प्रतिपरसे ही की गई है। शेष प्रतियोंका हमें हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमें कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं सीताराम शास्त्रीके हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतियां कारंजा, आरा और सागरकी हैं, उनमेंसे पूर्व दोका तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागरकी प्रतिका उसकी अमरावतीवाली प्रतिलिपि परसे लाभ लिया है।

धवल सिद्धान्तकी प्रतियोंकी पूर्वोक्त परम्पराका निदर्शक

वंशवृक्ष
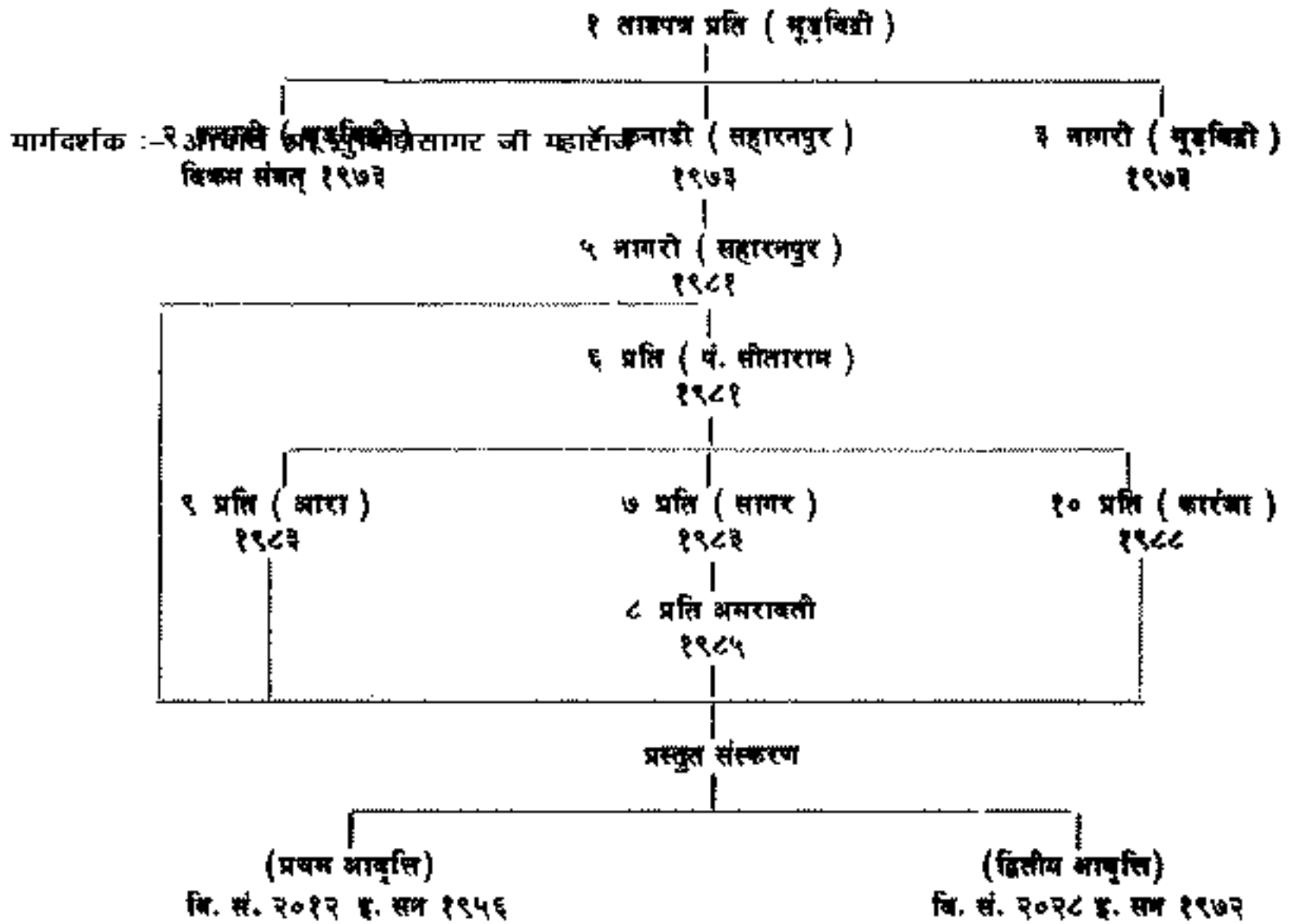
इस विवरण और वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि यथार्थमें प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी हमें मूडबिद्रीकी प्रतिके मिलानका लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति परसे हमारी प्रथम प्रेस-कापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवीं पीढ़ीकी है। उसके संशोधनके लिये हम पूर्णतः दो पांचवी पीढ़ीकी प्रतियोंका लाभ पा सके। तीसरी पीढ़ीकी सहारनपुरवाली प्रति अन्तिम संशोधनके समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठ–भेद अमरावतीकी प्रतिपर अंकित कर लिये गये थे उन्हींसे लाभ उठाया गया है। इस परंपरामें भी दो पीढ़ियोंकी प्रतियां गुप्त रीतिसे की गई थीं। ऐसी अवस्थामें पाठ-संशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपसे समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके संशोधनका कार्य पड़ा है। भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यन्त गहनता और दुरूहताने संशोधन कार्य और भी जटिल बना दिया था।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके हाथमें कुछ दृढ़ता और विश्वासके साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्थामें जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमें

कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियोंमें कहीं कहीं लिपिकारके प्रमादसे एक शब्दसे लेकर कोई सौ शब्दतक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है। प्रतियोंमें वाक्य–समाप्ति-सूचक विराम-चिन्ह नहीं हैं। कारंजाकी प्रतिमें लाल स्याहीके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्यसमाप्तिके समझनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा भ्रामक ही अधिक हैं। ये दण्डक किस प्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब पं. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोंको लेकर कारंजा पहुंचे तब पंडितजीने ग्रंथोंको देखकर कहा कि उनमें विराम–चिन्होंकी कमी है। पं सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी वहीं पूर्ति कर देनेका वचन दिया और लाल स्याही लेकर कलमसे खटाखट दण्डक लगाना प्रारंभ कर दिया। जब पण्डितजीने उन दण्डकोंको जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानोंपर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया? पं. सीतारामजीने कहा जहां प्रतिमें स्थान मिला, आखिर वहीं तो दण्डक लगाये जा सकते हैं? पण्डितजी इस अनर्थको देखकर अपनी कृतिपर पछताये। अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिन्होंका ख्याल बिलकुल ही छोडकर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य-समाप्तिका निर्णय करना पड़ा है। इस प्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए संशोधनके नियमोंद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनोंकी अप्राप्तिको देखते हुए असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोडे स्थानोंपर शुद्ध पाठमें संदेह रहा है। हमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि ये थोडे स्थल शंकास्पद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बातका है कि प्रतियोंकी पूर्वोक्त अवस्था होते हुए भी उन परसे इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका। इस संबन्धमें हमसे पुनः यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय और पं. सीतारामजी शास्त्रीने भले ही किसी प्रयोजनवश नकलें की हों किंतु उन्होंने कार्य किया उनकी शक्तिभर ईमानदारीसे और इसके लिये उनके प्रति, और विशेषतः पं. गजपतिजी उपाध्यायकी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाईके प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।

---

३. पाठ संशोधनके नियम

१. प्रस्तुत ग्रंथके पाठ–संशोधनमें ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारंजा और आराकी चार हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है। यद्यपि ये सब प्रतियां एकही प्रतिकी प्रायः एक ही व्यक्तिद्वारा गत पंद्रह वर्षोंके भीतर की हुई नकलें हैं, तथापि उनसे पूर्वकी प्रति अलभ्य होनेकी अवस्थामें पाठ संशोधनमें इन चार प्रतियोंसे बहुत सहायता मिली है। कमसे कम उनके मिलानद्वारा भिन्न भिन्न प्रतियोंमें छूटे हुए भिन्न भिन्न पाठ, जो एक मात्रासे लगा कर लगभग सौ शब्दोंतक पाये जाते हैं, उपलब्ध हो गये और इस प्रकार कमसे कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रतिका पाठ हमारे सामने आ गया। पाठका विचार करते समय सहारनपुरकी प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका जितना उपयोग चाहिये उतना

हम नहीं कर सके। केवल उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी हस्त-प्रति पर अंकित कर लिये गये थे, उन्हींसे लाभ उठाया गया है। जहां पर अन्य सब प्रतियोंसे इसका पाठ भिन्न पाया गया वहां इसीको प्रामाण्य दिया गया है। ऐसे स्थल परिशिष्टमें दी हुई प्रति-मिलानकी तालिकाके देखनेसे ज्ञात हो जावेंगे। प्रति-प्रामा[illegible] किया गया है जहां वह विषय और व्याकरणको देखते हुये नितान्त आवश्यक जंचा। फिर भी वहां पर कमसे कम परिवर्तनद्वारा काम चलाया गया है।

२. जहां पर प्रतियोंके पाठ-मिलानमात्रसे शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहां पहले यह विचार किया गया है कि क्या कनाडीसे नागरी लिपि करनेमें कोई दृष्टि-दोषजन्य भ्रम यहां संभव है? ऐसे विचारद्वारा हम निम्न प्रकारके संशोधन कर सके—

(अ) प्राचीन कनाडीमें प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण-द्वित्व-बोधक संकेत एक बिन्दु ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वारका बिन्दु कुछ छोटा (०) और द्वित्वका कुछ बड़ा (O) होता है। फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्णसे पश्चात् और द्वित्वका वर्णसे पूर्व रखा जाता है। अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पढ़ सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेखमें* त्रिलोकसारकी कनाडी ताड़पत्र प्रति परसे कुछ नागरीमें गाथाएं उद्धृत की हैं जिनमेंसे एक यहां देते हैं—

सो उंभ ंगाहिमुहो चउ ंमुहो सदरि-वास-परमाऊ।
चालीस रंजओ जिदभूमि पुंछइ स-मंति-गणं॥

इसका शुद्धरूप है—

सो उम्मग्गाहिमुहो चउम्मुहो सदरि-वास-परमाऊ।
चालीस—रज्जओ जिदभूमि पुच्छइ स-मंति-गणं॥

ऐसे भ्रमकी संभवता ध्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुधार किये गये हैं—

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगले वर्णका द्वित्व—

अंगं गिज्झा—अंगग्गिज्झा (पृ. ६); लक्खणं खइणो—लक्खणक्खइणो (पृ. १६) संबंध—संबद्ध (पृ. २६, २९४,) वंस—वस्स (पृ. १११) आदि।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार—

भग्ग—भंग (पृ. ५०) अक्कुलेसर—अंकुलेसर (पृ. ७२) कक्खा—कंखा (पृ. ७४) समिइवइस्सया दंतं—समिइवइं सया दंतं (पृ.७) सव्वेयणी—संवेयणी (पृ. १०५) ओरालिय त्ति ओरालियं ति (पृ. २९३) पावग्गालिय—पावं गालिय (पृ. ४९) पडिमव्वा—पडिमं वा (पृ. ५९) इत्यादि।

* Bhandarkar commemoration Vol., 1917,P. 221.

(आ) कनाडीमें द और ध प्राय: एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमें भ्रम हो सकता है।

द–ध, दरिद–धरिद (पृ. ३०) ध–द, दुविध–दुविद (पृ. २१) हरधणु-हरदणु (पृ. २७५) इत्यादि।

(इ) कनाडीमें थ और ध में अन्तर केवल वर्णके मध्यमें एक बिंदुके रहने न रहनेका है, अतएव इनके लिखने पढ़नेमें भ्रान्ति हो सकती है। अत: कथं के स्थानपर कधं और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व-विभ्रमको ध्यानमें रखकर संबंधोवा के स्थान पर सम्बत्थोवा कर दिये गये हैं।

यद्यपि शौरसेनीके नियमानुसार कथं आदिमें थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किंतु जहां ध करनेसे किसी अन्य शब्दसे भ्रम होनेकी संभावना हुई वहां थ ही रहने दिया। उदाहरणार्थ– किसी किसी प्रतिमें 'गंथो' के स्थान पर 'गंधो' भी है किंतु हमने 'गंथो' ही रक्खा है।

(ई) ह्रस्व और दीर्घ स्वरोंमें बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषत: प्राकृत रूपोंमें। इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाडी लिपिमें ह्रस्व और दीर्घका कोई भेद ही नहीं किया जाता। अत: संशोधनमें ह्रस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरणके नियमानुसार रक्खा गया है।

(उ) प्राचीन कनाडी ग्रंथोंमें बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी भूमिकामें (पृ. ८३ पर) कहा है। हमें भी पृ. ३२८ की अवतरण गाथा नं. १६९ में 'अहइ' के स्थान पर 'लहइ' करना पड़ा।

३. प्रतियोंमें न और ण के द्वित्वको छोड़कर शेष पंचमाक्षरोंमें हलंत रूप नहीं पाये जाते। किंतु यहां संशोधित संस्कृतमें पंचमाक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं।

४. प और य में प्राचीन कनाडी तथा वर्तमान नागरी लिपिमें बहुधा भ्रम पाया जाता है। यही बात हमारी प्रतियोंमें भी पाई गई। अत: संशोधनमें वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं।

५. प्रतियोंमें ब और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है। अत: संशोधनमें दोनों अक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं। प्राकृतमें व या ब संस्कृतके वर्णानुसार रक्खा गया है।

६. 'अरिहंत:' संस्कृतमें अकारांतके रूपसे प्रतियोंमें पाया जाता है। हमने उसके स्थानपर संस्कृत नियमानुसार अरिहंता ही रक्खा है। (देखो, भाषा व व्याकरणका प्रकरण)

७. ग्रंथमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंका खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रतियोंकी नकल करनेवाले संस्कृतके ही जानकर रहे हैं। अतएव बहुत स्थानोंपर प्राकृतके बीच संस्कृतके और संस्कृतके बीच प्राकृतके रूप आ गये हैं। ऐसे स्थानों पर शुद्ध करके उनके प्राकृत और संस्कृत रूप ही दिये गये हैं। जैसे, इदि–इति, वणं–वनं, गदि–गति, आदि।

८. प्रतियोंमें अवतरण गाथाएं प्रायः अनियमितरूपसे उक्तं च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठके पश्चात् उक्तं च और प्राकृत पाठके पश्चात् उत्तं च रक्खा है।

९. प्रतियोंमें संधिके संबंधमें भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके संधिसंबंधी नियमोंको ध्यानमें रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किन्तु जहां विराम चिन्ह आगया है वहां संधि अवश्य ही तोड़ दी गई है।

१०. प्रतियोंमें प्राकृत शब्दोंमें लुप्त व्यंजनोंके स्थानोंमें कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहां आदर्श प्रतियोंमें अवशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि संयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियोंमें अधिकांश स्थानोंपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ क्वचित् ही, अन्य स्वरोंके साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण–
भणियो, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि।

(२) ऊके साथ–वज्जियूण

(३) ए के साथ–परिणयेण (परिणतेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि।

---

४. षट्खंडागमके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथके अनुसार (पृ. ६८) षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। नंदिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वे आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु 'धवला' के शब्दोंमें वे अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत–वत्सल। उन्हें इस बातकी चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होंने महिमा नगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहांसे दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। ये दोनों मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उत्सवतासे किन्तु ज्यों ही आषाढ़ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा हुआ त्योंही वर्षाकालके बहुत समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन[1] अपने पाससे विदा कर दिया। दोनों शिष्योंने गुरुकी बात अनुल्लंघनीय मानकर

आचार्य धरसेन

---

[1] इन्द्रनन्दिके अनुसार धरसेनाचार्यने उन्हें दूसरे दिन विदा किया।

उसका पालन किया और वहांसे चलकर अंकुलेश्वरमें[1] चातुर्मास किया। धरसेनाचार्यने इन्हें वहांसे तत्क्षण क्यों रवाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं बतलाया गया है। किन्तु इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार तथा विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमें लिखा है कि धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हें उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया[2]। संभव है उनके वहां रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमें विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानका रक्षासंबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवतः यह भी चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य वहांसे जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्यकी हमें फिर कोई छटा देखनेको नहीं मिलती, वे सदाके लिये हमारी आंखोंसे ओझल हो गये।

धवलाकारने धरसेनाचार्यके गुरुका नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्य तककी गुरुपरम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है। वे सब अंगों और पूर्वोके एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका उल्लेख आया है। अर्हद्बलि बडे भारी संघनायक थे। वे पूर्वदेशमें पुंड्रवर्धनपुरके कहे गये हैं। उन्होंने पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमणके समय बडा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमें सौ योजनके यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपातका जमाना आगया है। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चंद्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये जिसमें एकत्व और अपनत्वकी भावनासे खूब धर्मवात्सल्य और धर्मप्रभावना बढे।

आचार्य अर्हद्बलि और माघनन्दि

श्रुतावतारके अनुसार अर्हद्बलिके अनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने अंगों और पूर्वोका एकदेश प्रकाश फैलाया और पश्चात् समाधिमरण किया। उनके पश्चात् ही सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफाके निवासी धरसेनाचार्यका वर्णन आया है।

इन चार आरातीय यतियों और अर्हद्बलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्योंके बीच इन्द्रनन्दिने कोई गुरु-शिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया। केवल अर्हद्बलि आदि तीन आचार्योंमें एकके पश्चात् दूसरेके होनेका स्पष्ट संकेत किया है। पर इन तीनोंके गुरु-शिष्य तारतम्यके सम्बन्धमें भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

> गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
> न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

---

१ इन्द्रनन्दिने इस पत्तनका नाम कुरीश्वर दिया है। वहां वे नौ दिनकी यात्रा करके पहुंचे।

२ स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन्। इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन। इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार. आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेनस्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जनं करिष्यति।
विबुधश्रीधर, श्रुतावतार. मा. दि. जै. ग्रं. २१, पृ. ३१७.

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

किंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी बतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्बलि और गुरु माघनन्दि थे।

नन्दिसंघकी संस्कृत गुर्वावलीमें भी माघनन्दिका नाम आया है। इस पट्टावलीके प्रारंभमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वंदना की गई है, किंतु उनके नामके साथ संघ आदिका उल्लेख नहीं किया गया है। उनकी वन्दनाके पश्चात् मूलसंघमें नन्दिसंघ बलात्कारगणके उत्पन्न होनेके साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है। संभव है कि संघभेदके विधाता अर्हद्बलि आचार्यने उन्हें ही नन्दिसंघका अग्रणी बनाया हो। उनके नामके साथ 'नन्दि' पद होनेसे भी उनका इस गणके साथ संबन्ध प्रकट होता है। यथा—

श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांघ्रिः श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयः।
यो भद्रबाहुमुनिपुंगवपट्टपद्मः सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघः तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥ २ ॥

जै. सि. भा. १, ४, पृ. ५१.

पट्टावलीमें इनके पट्टधारी जिनचंद्र और उनके पश्चात् पद्मनन्दि कुन्दकुन्दका उल्लेख किया गया है, पर धरसेनका नहीं। अतः संशय हो सकता है कि ये वे ही धरसेनके गुरु हैं या नहीं। किंतु उनके 'पूर्वपदांशवेदी' अर्थात् पूर्वोंके एकदेशको जाननेवाले, ऐसे विशेषणसे पता चलता है कि ये वे ही हैं। पट्टावलीमें उनके शिष्य धरसेनका उल्लेख न आनेका कारण यह हो सकता है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और वे संघसे अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे। अतः उनकी अनुपस्थितिमें संघका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पड़ा हो। उधर धरसेनाचार्यने अपनी विद्याद्वारा शिष्यपरम्परा पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा चलाई।

माघनन्दिका उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्ता पद्मनन्दिने भी किया है और उन्हें राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागरके पारगामी, मति-प्रगल्भ, तप और संयमसे सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। इनके शिष्य सकलचंद्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैल धो डाले थे। उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जंबूदीवपण्णत्ति लिखी गई। यथा—

गय-राय-दोस-मोहो सुद-सायर-पारओ मइ-पगब्भो।
तव-संजम-संपण्णो विक्खाओ माघणंदि-गुरू ॥ १५४ ॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंत-महोदहिम्मि धुय-कलुसो।
णय-णियम-सील-कलिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरू ॥ १५५ ॥
तस्सेव य वर-सिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण-संजुत्तो।
सम्मद्दंसण-सुद्धो सिरिणंदि-गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥

तस्स णिमित्तं लिहियं जंबूदीवस्स तह य पण्णत्ती ।
जो पढइ सुणइ एदं सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १५७ ॥
(जैन साहित्य संशोधक, खं. १. जंबूदीवपण्णत्ति. लेखक पं. नाथूरामजी प्रेमी)

यथा–जंबूदीवपण्णत्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है। किन्तु यहां माघनन्दिको श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पड़ता है कि संभवत: यहां हमारे माघनन्दिसे ही तात्पर्य है।

माघनन्दि सिद्धान्तवेदीके संबन्धका एक कथानक भी प्रचलित है। कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकबार चर्याके लिये नगरमें गये थे। वहां एक कुम्हारकी कन्याने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसीके साथ रहने लगे। कालान्तरमें एकबार संघमें किसी सैद्धान्तिक विषयपर मतभेद उपस्थित हुआ और जब किसीसे उसका समाधान नहीं हो सका तब संघनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दिके पास जाकर किया जाय। अत: साधु माघनन्दिके पास पहुंचे और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था मांगी। माघनन्दिने पूछा, 'क्या संघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है?' मुनियोंने [illegible] ' यह सुनकर माघनन्दीको पुन: वैराग्य हो गया और वे अपने सुरक्षित रखे हुए पीछी कमंडलु लेकर पुन: संघमें आ मिले। जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृष्ठ १५१ पर 'एक ऐतिहासिक स्तुति' शीर्षकसे इसी कथानकका एक भाग छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकोंकी एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनन्दिने अपने कुम्हार-जीवनके समय कच्चे घड़ोंपर थाप देते समय गाते गाते बनाया था।

यदि इस कथानकमें कुछ तथ्यांश हो भी तो संभवत: वह उन माघनन्दि नामके आचार्योंमेंसे किसी एकके संबन्धका हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें आया है। (देखो जैनशिलालेखसंग्रह). इनमेंसे नं. ४७१ के शिलालेखमें शुभचंद्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं। शिलालेख नं. १२९ में विना किसी गुरु-शिष्य संबन्धके माघनन्दिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है। यथा——

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने ।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥ ४ ॥

ये दोनों आचार्य हमारे षट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथमें इनके प्रारम्भिक नाम, धाम व गुरु-परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता। धवलाकारने उनके संबन्धमें केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरीमें सम्मिलित यतिसंघको धरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने श्रुत-रक्षासंबन्धी उनके अभिप्रायको समझकर अपने संघमेंसे दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखनेमें समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओंमें पारंगत थे। उन दोनोंको धरसेनाचार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया। धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की। एकको

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि

अधिकाक्षरी और दूसरेको हीनाक्षरी विद्या बताकर उनसे उन्हे षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको कहा। जब विद्याएं सिद्ध हुई तो एक बडे बडे दांतोंवाली और दूसरी कानी देवीके रूपमें प्रगट हुई। इन्हें देख कर चतुर साधकोंने जान लिया कि उनके मंत्रोंमें कुछ त्रुटि है। उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी वेशी करके पुनः साधना की, जिससे देवियां अपने स्वाभाविक सौम्यरूपमें प्रकट हुई। उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखानेके योग्य पात्र हैं। फिर उन्हें क्रमसे सब सिद्धान्त पढ़ा दिया। यह श्रुताभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुष्पोपहारोंद्वारा शंख, तूर्य और वादित्रोंकी ध्वनि की। इसीसे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतबलि रक्खा। दूसरेकी दंतपंक्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतोंने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया। ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागमके रचयिता हुए।

इन दोनोंने धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ-रचना की, अतः धरसेनाचार्य उनके शिक्षागुरु थे। पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं मिलता। ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना-कथाकोषमें भी धरसेनाचार्यकी कथा दी है। उसमें कहा है कि धरसेनाचार्यने जिस मुनिसंघको पत्र भेजा था उसके संघाधिपति महासेनाचार्य थे और उन्होंने अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतबलिको उनके पास भेजा। यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्तने संघाधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आधार परसे उसे लिख रहे हैं।

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें भविष्यवाणी के रूपमें एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्रके वांमिदेश (ब्रह्मदेश?) में वसुंधरा नामकी नगरी होगी। वहांके राजा नरवाहन और रानी सुरूपाको पुत्र न होनेसे राजा खेदखिन्न होगा। तब सुबुद्धि नामके सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देंगे। राजाके तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर पुत्रप्राप्ति होगी और वे उस पुत्रका नाम पद्म रक्खेंगे। फिर राजा सहस्रकूट चैत्यालय बनवायेंगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेंगे। सेठजी भी राजप्रासादसे पद पदपर पृथ्वीको जिनमंदिरोंसे मंडित करेंगे। इसी समय वसंत ऋतुमें समस्त संघ वहां एकत्र होगा और राजा सेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चलावेंगे। उसी समय राजा अपने मित्र मगधस्वामीको मुनींद्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ वैराग्यसे जैनी दीक्षा धारण करेंगे। इसी समय एक लेखवाहक वहां आवेगा। वह जिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियोंकी तथा (परोक्षमें) धरसेन गुरुकी वन्दना करके लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे वांचेंगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चौथे प्राभृतशास्त्रका व्याख्यान प्रारम्भ करनेवाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियों को पठन, श्रवण और चिन्तनक्रिया कराकर आषाढ़ शुक्ला एकादशीको शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमेंसे एककी भूत रात्रिको बलिविधि करेंगे और दूसरेके चार दांतोंको सुन्दर बना देंगे। अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम

भूतबलि और चार दांत समान हो जानेसे सुबुद्धि मुनिका नाम पुष्पदन्त होगा[1]। इसके लेखकका समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है। अतएव उसमें कही गई बातोंपर कोई जोर नहीं दिया जा सकता।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेख (नं. १०५) में पुष्पदन्त और भूतबलिको स्पष्ट रूपसे संघभेद-कर्ता अर्हद्बलिके शिष्य कहा है। यथा—

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥ २५ ॥
अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक सं. १३२० का है, तथापि संभवतः लेखकने किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्बलिके शिष्य कहा होगा। यदि ऐसा हो तो यह भी संभव है कि ये इन दोनोंके दीक्षा-गुरु हों और धरसेनाचार्यने जिस मुनि-सम्मेलनको पत्र भेजा था वह अर्हद्बलिका युग-प्रतिक्रमणके समय एकत्र किया हुआ समाज ही हो, और वहींसे उन्होंने अपने अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलिको धरसेनाचार्यके पास भेजा हो। पट्टावलीके अनुसार अर्हद्बलिके अन्तिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ समयमें २१+१९=४० वर्षका अन्तर पड़ता है जिससे उनका समसामायिक होना असंभव नहीं है। केवल इतना ही है कि इस अवस्थामें, लेख लिखते समय धरसेनाचार्यकी आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें पुष्पदन्तका सम्पर्क एक और व्यक्तिसे बतलाया गया है। अंकुलेश्वरमें चातुर्मास समाप्त करके जब वे निकले तब उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वे वनवास देशको चले गये[2]। ('जिणवालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवास-विसयं गदो' पृष्ठ ७१।) दट्ठूण का साधारणतः दृष्ट्वा अर्थात् देखकर अर्थ होता है। पर यहां पर यदि दट्ठूण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है तो यह नहीं मालूम होता कि वहां जिनपालित कहांसे आ गये? दट्ठूणका अर्थ द्रष्टुं अर्थात् देखनेके लिये भी हो सकता है,[3] जिसका तात्पर्य यह होगा कि पुष्पदन्त अंकुलेश्वरसे निकलकर जिनपालितको देखनेके लिये वनवास चले गये। संगतिकी दृष्टिसे यह अर्थ ठीक बैठता है। इन्द्रनन्दिने जिनपालितको पुष्पदन्तका भागिनेय अर्थात् भनेज कहा, है। पर इस रिश्तेके कारण वे उन्हें देखनेके लिये गये यह कदाचित् साधुके आचारकी दृष्टिसे ठीक न समझा जाय इसलिये वैसा अर्थ नहीं किया। वनवास देशसे ही वे गिरिनगर

पुष्पदन्त और जिनपालित

---

१ विबुधश्रीधर–श्रुतावतार (मा. जै. ग्रं. २१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह, पृ. ३१६).

२ विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलिने अंकुलेश्वरमें ही षट्खंड आगमकी रचना की। (तन्मुनिद्वयं अंकुलेसुरपुरे गत्वा मत्वा षडंगरचनां कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य...)

३ जैसे, रामो तिसमुद्द-मेहलं पुहइं पालेऊण समत्थो। पउम च. ३१, ४०. संसार-गमण-भीओ इच्छइ घेत्तूणं पव्वज्जं। पउम च. ३१, ४८.

गये थे और वहांसे फिर वनवास देशको ही लौट गये। इससे यही प्रान्त पुष्पदन्ताचार्यकी जन्मभूमि ज्ञात होती है। वहां पहुंचकर उन्होंने जिनपालितको दीक्षा दी और 'वीसदि सूत्रों' की रचना करके उन्हें पढ़ाया, और फिर उन्हें भूतबलिके पास भेज दिया। भूतबलिने उन्हें अल्पायु जान, महाकर्मप्रकृति पाहुडके विच्छेद-भयसे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर आगेकी ग्रन्थ-रचना की। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों इस सिद्धान्त ग्रंथके रचयिता हैं और जिनपालित उस रचनाके निमित्त कारण हुए।

पुष्पदन्त भूतबलीसे जेठे थे

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच अवस्थामें पुष्पदन्त ही ज्येष्ठ प्रतीत होते हैं। धवलाकारने अपनी टीकाके मंगलाचरणमें उन्हें ही पहले नमस्कार किया है और उन्हें 'इसि-समिइ-वइ' (ऋषिसमिति-पति) अर्थात् ऋषियों और मुनियोंकी सभाके नायक कहा है। उनकी ग्रंथ-रचना भी आदिमें हुई और भूतबलिने अपनी रचना अन्ततः उन्हींके पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए। इन बातोंसे उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वे स्पष्टतः भूतबलिसे पूर्व पट्टाधिकारी हुए बतलाये गये हैं।

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच किसने कितना ग्रंथ रचा

वर्तमान ग्रंथमें पुष्पदन्तकी रचना कितनी है और भूतबलिकी कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। पुष्पदन्तने आदिके प्रथम 'वीसदि सूत्र' रचे। पर इन वीस सूत्रोंसे धवलाकारका समस्त सत्प्ररूपणाके वीस अधिकारोंसे तात्पर्य है, न कि आदिके २० नम्बर तकके सूत्रोंसे, क्योंकि, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर रचना की (पृ. ७१)। जहांसे द्रव्यप्रमाणानुगम अर्थात् संख्याप्ररूपणा प्रारंभ होती है वहांपर भी कहा गया है कि—

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणं पडिबोहणठ्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।

अर्थात्—'अब चौदह जीवसमासोंके अस्तित्व को जान लेनेवाले शिष्योंको उन्हीं जीवसमासोंके परिमाण बतलानेके लिये भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं'।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा अधिकारके कर्ता पुष्पदन्त और शेष समस्त ग्रंथके कर्ता भूतबलि ठहरते हैं।

श्रुतपंचमीका प्रचार

धवलामें इस ग्रंथकी रचनाका इतना ही इतिहास पाया जाता है। इससे आगेका वृत्तान्त इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें मिलता है। उसके अनुसार भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना पुस्तकारूढ करके ज्येष्ठ शुक्ला ५ को चतुर्विध संघके साथ उन पुस्तकोंको उपकरण मान श्रुतज्ञानकी पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथिकी प्रख्याति जैनियोंमें आजतक चली आती है और उस तिथिको वे श्रुतकी पूजा करते हैं[1]। फिर भूतबलिने उन षट्खण्डागम पुस्तकोंको जिनपालितके हाथ

---

1 ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः। तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप। अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥
इन्द्रनन्दि—श्रुतावतार

पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। पुष्पदन्त उन्हें देखकर और अपने चिन्तित कार्यको सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघसहित सिद्धान्तकी पूजा की।

५ आचार्य—परम्परा

धरसेनाचार्य से पूर्वकी गुरु—परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर

ग्रंथरचना करनेवाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रंथ में इस सम्बन्ध की कुछ सूचना महावीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तक की परम्परासे मिलती है। वह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान्‌के पश्चात् क्रमश: गौतम, लोहार्य और जम्बूस्वामी समस्त श्रुत के ज्ञायक और अन्तमें केवलज्ञानी हुए। उनके पश्चात् क्रमश: विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, ये पांच श्रुतकेवली हुए। उनके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अंग और दशपूर्वके पारंगामी हुए। तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस, ये पांच एकादश अंगोंके धारक हुए, और इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचारंग के धारक और शेष श्रुतके एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगों और पूर्वोका एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ (६५–६६)। यह परम्परा इस प्रकार है––

महावीर की शिष्य–परम्परा

१ गौतम
२ लोहार्य
३ जम्बू
} ३ केवली

४ विष्णु
५ नन्दिमित्र
६ अपराजित
७ गोवर्धन
८ भद्रबाहु
} ५ श्रुतकेवली

९ विशाखाचार्य
१० प्रोष्ठिल
११ क्षत्रिय
१२ जय
१३ नाग
१४ सिद्धार्थ
१५ धृतिसेन
१६ विजय
१७ बुद्धिल
१८ गंगदेव
१९ धर्मसेन
} ११ दशपूर्वी

२० नक्षत्र
२१ जयपाल
२२ पाण्डु
२३ ध्रुवसेन
२४ कंस
} ५ एकादशांगधारी

२५ सुभद्र
२६ यशोभद्र
२७ यशोबाहु
२८ लोहार्य
} ४ आचारांगधारी

आचार्य-परम्परा में नाम भेद

ठीक यही परम्परा धवलामें आगे पुन: वेदनाखंडके आदिमें मिलती है। इन दोनों स्थानोंपर तथा बेल्गोलके शिलालेख नं. १ में नं. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रम्ह हेमकृत श्रुतस्कंध व शिलालेख नं. १०५ (२५४) में उस स्थान पर सुधर्मका नाम मिलता है। यही नहीं, स्वयं धवलाकारद्वारा ही रची हुई 'जयधवला' में भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुधर्मका नाम है। इस उलझनको सुलझानेवाला उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' में पाया जाता है। वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुधर्म था। यथा—

'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर-सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं ॥ १० ॥

(जं. सा. सं. १ पृ. १४९)

नं. ४ पर विष्णुके स्थानमें भी नामभेद पाया जाता है। जंबूदीवपण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कंधमें उस स्थानपर 'नन्दी' या नन्दीमुनि नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुधर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं। इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वे ही एक स्थानपर संक्षेपसे विष्णु और दूसरे स्थानपर नन्दि नामसे निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे नं. १८ के गंगदेवके विषयमें पाई जाती है।

नं. ५ और ६ के आचार्योंका शिलालेख नं १०५ में विपरीत क्रमसे उल्लेख किया गया है, अर्थात् वहां अपराजितका नाम पहिले और नंदिमित्र का पश्चात् किया गया है। संभवत: यह छंद-निर्वाहमात्रके लिये है, कोई भिन्न मान्यताका द्योतक नाहीं।

आगेके अनेक आचार्योंके नाम भी शिलालेख नं. १०५ में भिन्न क्रमसे दिये गये हैं जिसका कारण भी छंदरचना प्रतीत होता है और इसी कारण संभवत: धर्मसेनका नाम यहां भिन्न क्रमसे सुधर्म दिया गया है।

उसी प्रकार नं. ११ और १२ का उल्लेख श्रुतस्कंधमें विपरीत है, अर्थात् जयका नाम पहले और क्षत्रियका नाम पश्चात् दिया गया है। क्षत्रियके स्थानमें शिलालेख नं १ में कृत्तिकार्य नाम है जो अनुमानत: प्राकृत पाठ 'क्खत्तियारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नंदिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें नं. १७ के बुद्धिलके स्थानपर बुद्धिलिंग व नं. १८ के गंगदेवके स्थानपर केवल 'देव' नाम है।

नं. २१ के जयपालके स्थानपर जयधवलामें 'जसपाल' तथा हरिवंशपुराणमें यश:पाल नाम दिये हैं।

नं. २३ के ध्रुवसेनके स्थान पर श्रुतावतार व शिलालेख नं. १०५ में द्रुमसेन तथा श्रुतस्कंधमें 'धुतसेन' नाम है।

नं. २६ के यशोभद्रके स्थान पर श्रुतावतारमें 'अभयभद्र' नाम है।

नं. २७ के यशोबाहुके स्थानपर जयधवलामें जहबाहु, श्रुतावतारमें जयबाहु व नंदिसंघ प्राकृत पट्टावलीमें व आदिपुराणमें भद्रबाहु नाम है। संभवतः ये ही नंदिसंघकी संस्कृत पट्टावलीके भद्रबाहु द्वितीय हैं।

इन सब नाम-भेदोंका मूल कारण प्राकृत नामों परसे भ्रमवश संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कहीं कहीं लिपिमें भ्रम होनेसे भी पाठ-भेद पड़ जाना संभव है।

उक्त आचार्य-परंपराका प्रस्तुत खण्डमें समय नहीं दिया गया है। किंतु धवलाके वेदनाखण्डके आदिमें, जयधवलामें व इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें गौतम स्वामीसे लगाकर लोहार्य तकका समय मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमें तीन केवली, १०० वर्षमें पांच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्षमें पांच एकादशांगधारी और ११८ वर्षमें चार एकांगधारी आचार्य हुए। इस प्रकार महावीर निर्वाणसे लोहाचार्य (द्वि.) तक ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

धरसेनाचार्य के समयका विचार

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थमें तो इसके संबन्धमें इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य परम्परामें धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां यह आचार्य परम्परा पाई जाती है वहां सर्वत्र यह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें प्रस्तुत ग्रंथोंके निर्माणका वृत्तान्त विस्तारसे दिया है। किंतु लोहार्यके पश्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्टतः सूचित नहीं किया। प्रस्तुत, जैसा ऊपर बता आये हैं, उन्होंने कहा है कि इन आचार्योंकी गुरु-परंपराका कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्यके पश्चात् चार और आचार्योंका नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त और उन्हें आरातीय तथा अंगों और पूर्वोके एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहार्यके पश्चात् चार आरातीय यतियोंका जिस प्रकार इन्द्रनन्दिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे जान पड़ता है कि संभवतः वे सब एक ही कालमें हुये थे। इसीसे श्रीयुक्त पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने उन चारोंका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्बलि आदि आचार्योंका समय मुख्तारजी क्रमशः १० वर्ष अनुमान करते हैं। (समन्तभद्र पृ. १६१) इसके अनुसार धरसेनाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ६८३ + २० + १० + १० = ७२३ वर्ष पश्चात् आता है।

किंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली इसका समर्थन नहीं करती। यथार्थतः यह पट्टावली अन्य सब परम्पराओं और पट्टावलियोंसे इतनी विलक्षण है और उन विलक्षणताओंका प्रस्तुत आचार्योंके काल-निर्णयसे इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक

प्रतीत होता है और चूंकि यह पट्टावली, जहां तक हमें ज्ञात है, केवल **जैनसिद्धान्तभास्कर,** भाग १, किरण ४, सन् १९१३ में छपी थी जो अब अप्राप्य है, अतः उसे हम यहां पूरी बिना संशोधनका प्रयत्न किये उद्धृत करते हैं—

नन्दि—आम्नायकी पट्टावली

श्रीत्रैलोक्याधिपं नत्वा स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम् ।
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूलसंघगणाधिपाम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कारगणोत्तंसे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्नं श्रीगणाधिपम् ।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि श्रूयतां सज्जना जनाः ॥ ३ ॥

पट्टावली

अंतीम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य **गोयम-मुणिंदो** ।
बारह-वासे य गये **सुधम्म**-सामी य संजादो ॥ १ ॥
तह बारह-वासे पुण संजादो **जम्बु**-सामि मुणिणाहो ।

[illegible] उक्किट्ठो ॥ २ ॥
वासट्ठि-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जंबू य ।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पंच जणा बासट्ठि-वासे गये सुसंजादा ।
पढमं चउदह-वासं **विण्हुकुमारं** मुणेयव्वं ॥ ४ ॥
णंदिमित्त वास सोलह तिय **अपराजिय** वास बावीसं ।
इग-हीण-वीस वासं **गोवद्धण भद्दबाहु** गुणतीसं ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा **विण्हु णंदिमित्तो** य ।
अवराजिय गोवद्धण तह **भद्दबाहु** य संजादा ॥ ६ ॥
सद-वासट्ठि सुवासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा ।
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय **विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण** मुणी ।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुद्धिलिंग देव धम्मसेणं ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर ॥
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) **कमेणेयं** ॥ ९ ॥
अंतिम जिण-णिव्वाणे तियसय-पण-चालवास आदेसु ।
एगादहंगधारिय पंच जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥
णक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।
अठारह वीस-वासं गुणचालं चोद बत्तीसं ॥ ११ ॥

सद तेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा ।
वासं सत्ताणवदिय दसंग नव अंग अट्ठधरा ॥ १२ ॥

सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहु कमेण च ।
लोहायरय मुणीसं च कहियं च जिणागमे ॥ १३ ॥

छह अट्ठारह वासे तेवीस बावण (पणास) वास मुणिणाहं ।
दस णव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥

पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु ।
उप्पणा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली ।
अडवीसं इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥

इगसय-अठार-वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा ।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगहित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥

सत्तरि-चउ-सद-युतो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।
अठ--वरस बाललीला सोडस-वासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥

पणरस-वासे रज्जं कुणंति मिच्छोवदेससंयुत्तो ।
चालीस-वरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥ १९ ॥

प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् की कालगणना इसप्रकार आती है–

वीर निर्वाणके पश्चात्

१ गौतम	केवली	१२	९ विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०
२ सुधर्म	,,	१२	१० प्रोष्ठिल	,,	१९
३ जम्बूस्वामी	,,	३८	११ क्षत्रिय	,,	१७
		६२	१२ जयसेन	,,	२१
			१३ नागसेन	,,	१८
४ विष्णु	श्रुतकेवली	१४	१४ सिद्धार्थ	,,	१७
५ नन्दिमित्र	,,	१६	१५ धृतिषेण	,,	१८
६ अपराजित	,,	२२	१६ विजय	,,	१३
७ गोवर्धन	,,	१९	१७ बुद्धिलिंग	,,	२०
८ भद्रबाहु	,,	२९	१८ देव	,,	१४
		१००	१९ धर्मसेन	,,	१४(१६)
					१८१(१८३)

२० नक्षत्र	ग्यारह अंगधारी	१८
२१ जयपाल	,,	२०
२२ पांडव	,,	३९
२३ ध्रुवसेन	,,	१४
२४ कंस	,,	३२
		१२३
२५ सुभद्र	दश नव व आठ	६
२६ यशोभद्र	अंगधारी	१८
२७ भद्रबाहु	,,	२३

२८ लोहाचार्य	,,	५२(५०)
		९९(९७)
२९ अर्हद्बलि	एक अंगधारी	२८
३० माघनन्दि	,,	२१
३१ धरसेन	,,	१९
३२ पुष्पदन्त	,,	३०
३३ भूतबलि	,,	२०
		११८
	कुलजोड़	६८३

नन्दि-आम्नायकी पट्टावलीकी विशेषताएं

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और समष्टिरूपसे भी वर्ष संख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन केवलियों, पांच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय क्रमशः वही ६२, १००, और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः कहीं दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहां तकका योग ३४५ वर्ष नहीं आसकता। इसके आगे जिन पांच एकादशांगधारियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहां १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र एकांगधारी कह कर श्रुतज्ञानकी परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दश, नव और आठ अंगके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अंगोंका ज्ञाता था। इससे दश अंगोंका अचानक लोप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोडनेसे ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहां भी भूल है। तथा उनसे आगे पांच और आचार्योंके नाम गिनाये गये हैं जो एकांगधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिवल्लि (अर्हद्बलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतारमें विनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहां नहीं पाये जाते। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार भी अंग-परंपराका कुल काल ६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परंतु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहांपर उसके अन्तर्गत वे पांच आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे ग्रंथकर्ता धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी सम्मिलित हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशांगधारियों और उनके पश्चात्‌के आचार्योंके समयोंमें अन्तर पड़ता है वह क्यों और किसप्रकार ?

कालसंबन्धी अंकोंपर विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर अन्यत्र पांच एकादशांगधारियों और चार एकांगधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहां इस पट्टावलीमें उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षमें अन्य पांच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी हैं ।

जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिरूपसे दिया जाता है वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है । किंतु जहां एक एक व्यक्तिका काल निर्दिष्ट किया जाता है वहां ऐसी भूलकी संभावना बहुत कम हो जाती है । हिन्दु पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर दो राजवंशोंका काल एक ही वंशके साथ दे दिया गया है । स्वयं महावीर तीर्थंकरके निर्वाणसे पश्चात्‌के राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोंमें पाया जाता है उसमें भी इसप्रकारकी एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाणके समयके संबन्धमें दो मान्यतायें हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्षका अन्तर पड़ गया है । (देखो आगे वीरनिर्वाण संवत्)। प्रस्तुत परंपरामें इन २२० वर्षोंके कालमें भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है ।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्बलि आदि आचार्य अंगज्ञाताओंकी परंपरामें थे तो उनके नाम सर्वत्र परंपराओंमें क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्हद्बलिके द्वारा स्थापित किया गया संघभेद प्रतीत होता है । उनके पश्चात् प्रत्येक संघ अपनी अपनी परंपरा अलग रखने लगा, जिसमें स्वभावतः संघभेदके पश्चात्‌के केवल उन्हीं आचार्योंके नाम रक्खे जा सकते थे जो उसी संघके हों या जो संघभेदसे पूर्वके हों । अतः केवल लोहार्य तककी ही परंपरा सर्वमान्य रही । संभव है कि इसी कारण काल-गणनामें भी वह गड़बड़ी आगई हो, क्योंकि अंगज्ञाताओंकी परंपराको संघ-पक्षपातसे बचानेके लिये लेखकोंका यह प्रयत्न हो सकता है कि अंग-परंपराका काल ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमें अर्हद्बलि आदि संघ-भेदसे संबन्ध रखनेवाले आचार्य भी न दिखाये जावें ।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पट्टावलीको प्रमाण मान सकते हैं, विशेषतः जब कि उसकी वार्ता प्रस्तुत ग्रन्थों व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध जाती है? इस पट्टावलीकी जांच करनेके लिये हमने सिद्धान्तभवन आराको उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजनेके लिये लिखा, किंतु वहांसे पं. भुजबलिजी शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावलीकी मूल प्रति मिल नहीं रही है । ऐसी अवस्थामें हमें उसकी जांच मुद्रित पाठ परसे ही करनी पड़ती है । यह पट्टावली प्राकृतमें है और संभवतः एक प्रतिपरसे बिना कुछ संशोधनके छपाई गई होनेसे उसमें अनेक भाषादि-दोष हैं । इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके संबन्धमें कुछ कहना अशक्य है । पट्टावलीके ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है । तीसरा श्लोक सदोष है । पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता

स्वयं पट्टावलीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपनी उस प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पट्टावलीको प्रस्तुत कर रहा है। पट्टावलीको नन्दि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ और कुन्दकुन्दान्वयकी कहनेका यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्वयमें कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि लेखक, उक्त अन्वयका था और ये सब आचार्य उक्त अन्वयमें माने जाते थे। इस पट्टावलीमें जो अंगविच्छेदका क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है वह अन्यत्रकी मान्यताके विरुद्ध जाती है। किंतु उससे अकस्मात् अंगलोपसंबन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्योंका २२० वर्षका काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्पराके संबन्धमें हरिवंशपुराणके कर्तासे लगाकर श्रुतावतारके कर्ता

इन्द्रनन्दितकके सब आचार्योंने धोखा खाया है और उन्हे वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावलीके कर्ताको थे। समयाभावके कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किंतु साधक बाधक प्रमाणोंका संग्रह करके इसका निर्णय किये जानेकी आवश्यकता है।

यदि यह पट्टावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ और ६८३ वर्षके भीतर पड़ता है।

धरसेनकृत जोणिपाहुड

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिके समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है। प्रस्तुत ग्रन्थकी उत्थानिकामें कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्रके उत्तरमें आन्ध्रदेशसे दो साधु, जो पीछे पुष्पदन्त और भूतबलि कहलाये, उनके पास पहुंचे तब धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षाके लिये उन्हे कुछ मन्त्रविद्याएं सिद्ध करनेके लिये दीं। इससे धरसेनाचार्यकी मन्त्रविद्यामें कुशलता सिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के अंक ९ में श्रीयुत् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारका लिखा हुआ योनिप्राभृत ग्रन्थका परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओंमें है, उसका विषय मन्त्र-तन्त्रवाद है, तथा वह १५५६ वि. संवत्में लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नामकी ग्रन्थ-सूचीके आधारपर से धरसेनद्वारा वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है[1]। इस ग्रंथकी एक प्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट पूनामें है, जिसे देखकर पं. बेचरदासजीने जो नोट्स लिये थे उन्हीं परसे मुख्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रंथका नाम तो योनिप्राभृत ही है किंतु उसके कर्ताका नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इन महामुनिने उसे कूष्माण्डिनी महादेवीसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलिके लिये लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रंथका धरसेनकृत होना बहुत संभव जंचता है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करनेवाले मुनि

---

१ योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्। (बृहट्टिप्पणिका जै. सा. सं. १, २ (परिशिष्ट)

प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे[1] जोणिपाहुडकी इस प्रतिका लेखन-काल संवत् १५८२ है, अर्थात् वह चारसौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथका उल्लेख धवलामें भी आया है। जो इस प्रकार है—

'जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो'

(धवला. अ. प्रति. पत्र ११९८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नामका मंत्रशास्त्रसंबन्धी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ अवश्य है। उपर्युक्त अवस्थामें आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभृत ग्रंथके होनेमें अविश्वासका कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्टिप्पणिकामें जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नहीं होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, पृ. ६६६) में श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भंडारकर इंस्टीट्यूटवाला 'योनिप्राभृत' और उसीके साथ गुंथा हुआ 'जगत्सुंदरी योगमाला' संभवत: हरिषेणकृत है, किंतु हरिषेणके समयमें एक और प्राचीन योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहट्टिप्पणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमजीने कहा है कि 'वह सूची एक श्वेतांबर विद्वान्ने प्रत्येक ग्रंथ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रामाणिक समझी जाती है'। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार धरसेनका काल वीर निर्वाणसे ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ वर्ष पश्चात् पडता है, अत: अपने पट्टकालसे १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रंथ रचा होगा। इस समीकरणसे प्राकृत पट्टावली और बृहट्टिप्पणिकाके संकेत, इन दोनोंकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरेसे स्वतंत्र आधारपर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

१ धवलामें पण्हसमणोंको नमस्कार किया है और अन्य ऋद्धियोंके साथ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा—

णमो पण्हसमणाणं ॥ १८ ॥ औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा। एदेसु पण्हसमणेसु केसिं गहणं। चदुण्हं पि गहणं। प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः

धवला. अ. प्रति ६८४

जयधवलाकी प्रशस्तिमें कहा गया है कि वीरसेनके ज्ञानके प्रकाशको देखकर विद्वान् उन्हें श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमण कहते थे। यथा—

यमाहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनः प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रवणसत्तमम् ॥ २२ ॥

तिलोयपण्णत्ति गाथा ७० में कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम मुनि 'वज्रयश' नामके हुए। यथा—
पण्हसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम। (अनेकान्त, २, १२ पृ. ६६८)

षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धसे भी पड़ता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ़ हो चुके तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने, जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका-ग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमें संदेह नहीं रहता कि यहां उन्हींसे अभिप्राय है। यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी ग्रन्थकी रचनाकी वार्ताको प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि, उन्हें धवला और जयधवलामें इसका कोई संकेत नहीं मिला। किंतु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोंपर टीका बनानेकी बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रंथके उल्लेख धवला और जयधवलामें अनेक जगह पाये जाते हैं।

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये ईस्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी षट्खण्डागमकी रचनाका समय उपरोक्त ठीक जंचता है।

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। यह स्थान काठियावाड़के अन्तर्गत है। यह बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्वाणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन कालसे अबतक महत्वपूर्ण है। मौर्य राजाओंके समयसे लगाकर गुप्त काल अर्थात् ४ थी, ५ वी शताब्दितक इसका भारी महत्व रहा जैसा कि यहांपर एक ही चट्टान पर पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तवंशी स्कन्धगुप्तके समयके लेखोंसे पाया जाता है।

भौगोलिक उल्लेख

धरसेनाचार्यने ' महिमा ' में सम्मिलित संघको पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होता है, जो कि आन्ध्र देशके अन्तर्गत वेणाक नदीके तीरपर था। वेण्या नामकी एक नदी बम्बई प्रान्तके सतारा जिलेमें है और उसी जिलेमें महिमानगढ़ नामका एक गांव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है। इससे अनुमानतः यहीं सतारा जिलेमें वह जैन मुनियोंका सम्मेलन हुआ था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि सतारा जिलेका भाग उस समय आन्ध्र देशके अन्तर्गत था। आन्ध्रोंका राज्य पुराणों और शिलादि लेखोंपरसे ईस्वी पूर्व २३२ से ई. सन् २२५ तक पाया जाता है। इसके पश्चात् कमसे कम इस भागपर आन्ध्रोंका अधिकार नहीं रहा। अतएव इस देशको आन्ध्र विषयान्तर्गत लेना इसी समयके भीतर माना जा सकता है। गिरिनगरसे लौटते हुए पुष्पदंत और भूतबलिने जिस अंकुलेश्वर स्थानमें वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निस्सन्देह गुजरातमें भड़ौंच जिलेका प्रसिद्ध नगर अंकलेश्वर ही होना चाहिये। वहांसे पुष्पदन्त जिस बनवास देशको गये वह उत्तर कर्नाटकका ही प्राचीन नाम है जो तुंगभद्रा और वरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है। प्राचीन कालमें यहां कदम्ब वंशका राज्य था। जहां इसकी राजधानी ' वनवासि ' थी वहां अब भी उस

नामका एक ग्राम विद्यमान है। तथा भूतबलि जिस द्रमिल देशको गये वह दक्षिण भारतका वह भाग है जो मद्राससे सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी कांचीपुरी थी। प्रस्तुत ग्रंथकी रचना-संबन्धी इन भौगोलिक सीमाओंसे स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन कालमें काठियावाड़से लगाकर देशके दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियोंका प्रचुरतासे विहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक और साहित्यिक आदान-प्रदान सुचारुरूपसे चलता था। यह परिस्थिति विक्रमकी दूसरी शताब्दितक के समयका संकेत करती है।

६. वीर-निर्वाण-काल

पूर्वोक्त प्रकारसे षट्खंडागमकी रचनाका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् सातवीं शताब्दिके अन्तिम या आठवीं शताब्दिके प्रारम्भिक भागमें पड़ता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवानका निर्वाणकाल क्या है।

जैनियोंमें एक वीरनिर्वाण संवत् प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वां वर्ष चालू है। इसे लिखते समय मेरे सन्मुख 'जैनमित्र' का ता. १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिसपर वीर सं. २४६५ भादों सुदी १, दिया हुआ है। यह संवत् वीरनिर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-गणनाके अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है। अतः आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण संवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा। इस समय विक्रम संवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्षसे प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार निर्वाण संवत् और विक्रम संवत् में २४६६–१९९६ = ४७० वर्ष का अन्तर है। दोनों संवतोंके प्रारम्भ मासमें भेद होनेसे कुछ मासोंमें यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अतः इस मान्यताके अनुसार महावीरका निर्वाण विक्रम संवत्से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम संवत्के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गड़बड़ी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूंकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण संवत् और विक्रम संवतमें पया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् विक्रमके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुंगकृत स्थविरावली[1] तपागच्छ

---

१. विक्कम-रज्जारंभा पुरओ सिरि-वीर-णिव्वुइ भणिया। सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कम-कालाउ जिणकालो ॥ (मेरुतुंग-स्थविरावली)

पट्टावली,[1] जिनप्रभसूरिकृत पावापुरीकल्प,[2] प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित[3] आदि ग्रंथोंमें उल्लेख है कि विक्रमसंवत् का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

श्रीयुत बैरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मतको मान देकर निश्चित किया कि चूंकि जैन ग्रंथोंमें ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूंकि विक्रमका राज्यारंभ उनकी १८ वर्षकी आयुमें होना पाया जाता है, अत: वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षमें १८ वर्ष और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रमसंवतसे ४८८ वर्षपूर्व महावीरका निर्वाण हुआ[4]।

एक और तीसरा मत हेमचंद्राचार्य के उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है। हेमचन्द्रने अपने परिशिष्टपर्वमें कहा है कि महावीरकी मुक्ति से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ[5]। यहां उनका तात्पर्य स्पष्टतः चन्द्रगुप्त मौर्यसे है। और चूंकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रम-तक का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अत: वीरनिर्वाणका समय विक्रमसे २५५ + १५५ = ४१० वर्षपूर्व ठहरा। इस मतके अनुसार ४७० मेंसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रमपूर्व वीरनिर्वाणकाल ठहरता है। पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी[6] डॉ. चार्पेंटियर[7] आदिने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणविजयजीने[8] भी इसी मतकी पुष्टि की है।

किन्तु दिगम्बरसम्प्रदायमें जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उलझनको बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इन उल्लेखोंके अनुसार शकसंवत्की उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे कुछ मास अधिक ६०५ वर्ष

---

१. तद्राज्यं तु श्रीवीरात् सप्तति-वर्ष-शत-चतुष्टये ४७० संजातम्। (तपागच्छपट्टावली)

२. मह मुक्ख-गमणाओ पालय-नंद-चंदगुत्ताई-राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। (जिनप्रभसूरि-पावापुरीकल्प)

३. इत: श्रीविक्रमादित्य: शास्त्यवन्तीं नराधिप:। अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥
(प्रभाचन्द्रसूरि-प्रभावकचरित)

४. Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915.

५. एवं च महावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृप:॥ (परिशिष्ट-पर्व)

६. Sacred books of the East XXII.

७. Indian Antiquary XLIII.

८. ' वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना, ' संवत् १९८७.

पश्चात् हुई[1] तथा जो विक्रमसंवत् प्रचलित है और जिसका अन्तर वीरनिर्वाण कालसे ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या राज्यकालसे नहीं किन्तु विक्रमकी मृत्युसे हुआ था[2]। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उससे पूर्व प्रचलित वीर और बुद्धके निर्वाणसंवत् मृत्युकालसेही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उलझन इस प्रकार सुलझती है। प्रथम शकसंवत् को लीजिये। यह वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम संवत् और शक संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रमसंवत् का प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ६०५ – १३५ = ४७० वर्ष पश्चात् हुआ। अब विक्रमसंवत् पर विचार कीजिये जो विक्रमकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेरुतुंगाचार्यने विक्रमका राज्यकाल ६० वर्ष कहा है[3], अतएव ४७० वर्षमेंसे ये ६० वर्ष निकाल देनेसे विक्रम के राज्यका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। इस प्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् विक्रमका राज्य प्रारम्भ [illegible] विक्रमसंवत्‌का प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। जिन मतोंमें विक्रमके राज्यसे पूर्व या जन्मसे पूर्व ४७० वर्ष बतलाये गये हैं उनमें विक्रमके जन्म, राज्यकाल व मृत्युके समयसे संवत्-प्रारंभके सम्बन्धमें लेखकोंकी भ्रान्ति ज्ञात

---

१. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्। मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥
(जिनसेन-हरिवंशपुराण)

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो. . . . . ॥ ८५० ॥
(नेमिचन्द्र - त्रिलोकसार)

एसो वीरजिणिंद – णिव्वाण – गद – दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदी। तावदिय – कालो कुदो ६०५–५, एदम्हि काले सग-णरिंद-कालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिण-णिव्वुदि-कालागमणादो। वुत्तं च––
पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥

२. छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरण-पत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥११॥
पंच-सए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिण-महुरा-जादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥
(देवसेन–दर्शनसार)

षट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि। सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥
(वामदेव–भावसंग्रह)

समारूढे पूत-त्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥
(अमितगति-सुभाषितरत्नसंदोह)

मृते विक्रम-भूपाले सप्तविंशति-संयुते। दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥ १५७ ॥
(रत्ननन्दि–भद्रबाहुचरित)

३ विक्रमस्य राज्यं ६० वर्षाणि। (मेरुतुंग-विचारश्रेणी, पृष्ठ ३, जै. सा. संशोधक २)

होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाणसे नन्द राजातक ६० वर्षका अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्षका। इस प्रकार नन्दोंका राज्यकाल ९५ वर्ष पड़ता है। किंतु अन्य लेखकोंने चन्द्रगुप्तके राज्यकाल तकके १५५ वर्षोंको नन्दवंशका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंको नन्दकाल तक भी कायम रखा हैं। इस प्रकार जो ६० वर्ष बढ़ गये उसे उन्होंने अन्तमें विक्रमकालमें घटाकर जन्म या राज्य-कालसेही संवत्‌का प्रारम्भ मान लिया और इस प्रकार ४७० वर्षकी संख्या कायम रखी। इस मतका प्रतिपादन पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने किया है[1]।

इस मतका बुद्धनिर्वाण व आचार्य-परम्पराकी गणना आदिसे कैसा सम्बन्ध बैठता है, यह पुनः विवादास्पद विषय है जिसका स्वतंत्रतासे विचार करना आवश्यक है। यहां पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी मृत्युके साथ प्रचलित विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत षट्खंडागमका रचना काल विक्रम संवत् ६१४ – ४७० = १४४, शकसंवत् ६१४ – ६०५ = ९ तथा ईस्वी सन् ६१४ – ५२७ = ८७ के पश्चात् पड़ता है।

७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाके अन्तमें निम्न नौ गाथाएं पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है—

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुंदी (अहिलहुंदं)।
महु सो **एलाइरियो** पसियउ वर**वीरसेणस्स** ॥ १ ॥
वंदामि उसहसेणं तिहुवण-जिय-बंधवं सिवं संतं।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासियं दिट्ठं ॥ २ ॥
अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिद्धा सिद्धा **पसिद्ध आइरिया**।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
अज्जज्ज**णंदि**सिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स **चंदसेणस्स**।
तह णत्तुवेण **पंचत्थुहण्यं**भाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा **वीरसेणेण** ॥ ५ ॥
अट्ठतीसम्हि सासिय **विक्कम**रायम्हि एसु संगरमो। (?)
पासे **सुतेरसीए** भाव-विलग्गे **धवल-पक्खे** ॥ ६ ॥

---

१ अनेकान्त, १ पृ. १४.

[illegible] कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिधे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
बोद्दणराय-णरिंदे णरिंद-चूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यतः इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथासे स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका नाम **वीरसेन** है और उनके गुरुका नाम **एलाचार्य**। फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम **आर्यनन्दि** और दादा गुरुका नाम **चन्द्रसेन** कहा गया है। संभवतः एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनकी शाखाका नाम भी **पंचस्तूपान्वय** दिया है। पांचवीं गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारकपदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वी तककी गाथाओंमें इस टीकाका नाम '**धवला**' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगोंके सहित दिया है और **जगतुंगदेव** के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वी गाथामें पुनः राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें '**बोद्दणराय**' पढ़ा आता है। वे नरेन्द्रचूड़ामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिद्धान्तग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकने इस टीकाकी रचना की।

टीकाकार वीरसेनाचार्य

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका '**जयधवला**' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था। उसकी प्रशस्तिमें भी वीरसेनके संबन्धमें प्रायः ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि वह प्रशस्ति[1] उनके

---

1 भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् । शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ १७ ॥
आसीदासीददासन्नभव्यसत्त्वकुमुद्वतीम् । मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥ १८ ॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥ १९ ॥
प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ २१ ॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥
प्रसिद्ध-सिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः । सार्द्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥ २३ ॥
पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥ २४ ॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥ २५ ॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् । कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २६ ॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनसमिद्धधीः । (जयधवला-प्रशस्ति)

शिष्यद्वारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहां उन्हें साक्षात् केवलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शंका नहीं रही थी। विद्वान् लोक उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धोंसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरंतन कालकी पुस्तकों (अर्थात् पुस्तकारूढ़ सिद्धांतों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ़ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हें वादि-वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है[1]।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें वीरसेनद्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने समस्त सिद्धान्तका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरुकी अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममें आये और वहांके आनतेन्द्रद्वारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। वहां उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरुकी बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छटवां खण्ड संक्षेपसे तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई[2]।

---

१ श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥
आदिपुराण-उत्थानिका.

२ काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी। श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः। उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात्। वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ ॥

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्थाका जीवन निश्चयतः इन सिद्धान्त ग्रंथोंके अध्ययन, संकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हें जिन विशेषणों और पदवियोंसे अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलभ्य रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक-प्रमाण होनेसे संसारका सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे थोडी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भवभूति कविके वे शब्द याद आते हैं

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

वीरसेनाचार्यका रचनाकाल

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं. ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था[1]। मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोंमें शक सं. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते हैं[२]। अतः जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चुके थे।

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥
प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥ १८२ ॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रंथरचनया संयुतां विरच्य दिवम्। यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन ?) गुरुनामा ॥ १८३ ॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्। जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रंथोऽभवट्टीका ॥ १८४ ॥

१ इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥
एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ ९ ॥ — जयधवला प्रशस्ति

२. Altekar: The Rashtrakutas and their times, p. 7 1. Dr. Altekar, on page 87 of his book says 'His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalguna S'uddha 10, S'aka 799 (i. e. March. 878 A. D.), when the Jayadhavala tika of Virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छटवीं गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यतः हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमें जगतुंगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाती है। इनमेंसे प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं[1]। इन्हींके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगतुंगका उल्लेख होना चाहिये।

अब कुछ प्रशस्तिका उन शंकास्पद गाथाओंपर विचार कीजिये। गाथा नं. ६ में 'अट्ठतीसम्हि' और 'विक्कमरायम्हि' सुस्पष्ट हैं। शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अडतीसवां वर्ष हम जगतुंगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सबन्ध बैठता और न जगतुंगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का संबन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गाथामें शतसूचक शब्द गडबडीमें है। किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवत्के कहनेका है। किंतु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेनने यहां विक्रम संवत्का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहां शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्रायः समस्त जैन लेखकोंने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवत्के लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करनेसे जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रक्खा है। अकलंकचरितमें अकलंकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका संबन्ध एक ही काल गणनासे जोड़ा गया

---

१. देखो भारतके प्राचीन राजवंश. ३. पृ. ३६, ६५-६७.

है[1]। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो। त्रिलोकसारकी गाथा नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य लिखते हैं—

'श्रीवीरनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते। तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३९४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते'।

यहां विक्रमांक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत्के

संस्थापकसे है। उक्त अवतरणपर डॉ. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवत्से ही हो सकता है। किन्तु ऐसा नहीं है। शक संवत्की सूचनामें ही लेखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है। शक और विक्रमके संबन्धकी कालगणनाके विषयमें जैन लेखकोंमें कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है[2] उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रमके राज्यमें पड़ता है और ६०५ वर्षसे शककाल प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गाथामें यदि 'विक्कमरायम्हि' से शकसंवत्की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथाके शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किन्तु शक संवत् ७८८ के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते'। संभवतः उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं. ९ में जो बोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्दणराय संभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या वह वड्डिगकाही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वड्डिगका तो उल्लेख मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन

---

1 Inscriptions at Sravana Belgola, Intro. p. 84 and न्याय कु. चं. भूमिका पृ. १०२

२ वीरजिणे सिद्धिगदे चउ-सद-इगसट्ठि वास-परिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥८६॥

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंच-वरिसेसु। पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥८९॥ तिलोयपण्णत्ति

स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे। 'जगतुंगदेवरज्जे' और 'बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते' पाठोंपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

अमोघवर्षके राज्यके प्रारंभिक इतिहासको देखनेसे जान पड़ता है कि संभवतः गोविन्दराजने अपने जीवनकालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों। नवसारीके शक ७३८ के ताम्रपटोंमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बड़ीकी सूचना नहीं है, किंतु सूरतसे मिले हुए शक संवत ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके समनके पश्चात् अमोघवर्षके पुनः राज्यारोहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृत्तान्त बड़ौदासे मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटोंमेंभी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवनकालमें तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया[१]। अतएव शक ७३८ में जगतुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारूढ़ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पड़ता है।

यदि यह कालसंबन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुल रचनाकाल व धवलाके प्रारंभकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला टीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात ७५९ शक में। तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमें २४ वर्ष लगना चाहिये। अतः उसकी रचना ७३८ – २४ = ७१४ शकमें प्रारंभ हुई होगी, और चूंकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोकोंकी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अतः वीरसेनस्वामीके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पड़ता है[२]।

---

१ Altekar : The Rashtrakutas and their times p. 71 ft

२ आजसे कोई ३० वर्ष पूर्व विद्वद्वर पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपनी विद्वद्रत्नमाला नामक लेखमालामें वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रूपसे जिनसेनका जन्मकाल शक संवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरुका जन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा'। इससे वीरसेनस्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पड़ता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे संख्या जोड़कर प्रेमीजीने किया था और लिखा था कि 'जिनसेन-स्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पड़ता है। विद्वद्रत्नमाला पृ. २५ आदि, व पृ. ३६ इन हमारे कविश्रेष्ठोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोंको प्रेमीजीका वह ८९ पृष्ठोंका पूरा लेख पढ़ना चाहिये।

अब हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमें सूर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका द्योतक पद अशुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव '**णेमिचंदम्मि**' की जगह शुद्ध पाठ '**मीणे चंदम्मि**' प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पड़ती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यत्यय हो गया जान पड़ता है। शुक्रकी स्थिति सिंह राशिमें बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

संवत्सरके निर्णयमें नौ ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ-क्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान

नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिके उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार है, और इस समय गुरु मीनमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा बारह वर्षमें होती है, अतः शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें सात राशियां आगे बढ़ी। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है। अतः गत ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पांचवी राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्बन्ध कुंभम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्षमें वह कोई पांच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब धवलाकारने इतने ग्रहोंकी स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिके **चावम्हि वरणिवुत्ते** पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिवुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमें आते देर न लगी कि संभवतः शुद्ध पाठ **तरणि-वुत्ते** (तरणिपुत्ते) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलाके समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्हीं राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालके लिये उपयुक्त नहीं हो सकते।

अब ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बता देनें पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमें था। प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है। प्रशस्तिमें '**कोणे**' शब्द आया है। कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है[1]। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुंडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोनेमें आती है, इसीसे संभवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल '**भावविलग्गे**' और '**कुलविल्लए**' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नहीं हुआ। **कुल** का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,[2] और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ 'कुलविलये' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था। गाथामें मात्रापूर्तिके लिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति '**भावविलग्गे**' पद से होती है। 'भावविलग्गे' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह '**भाणुविलग्गे**' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अतः ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रशस्तिके समयसूचक पद्योंका पूरा संशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिद्ध हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष-ज्ञानका भी पता चल जाता है।

अब हम उन तीन पद्योंको शुद्धतासे इस प्रकार पढ़ सकते हैं—

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्गे धवल-पक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि तरणि-वुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि।
कत्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

---

१ Apte : Sanskrit English Dictionary.

२ ,, ,, ,, ,,

इस पर से धवला की जन्मकुंडली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है—

धवला नामकी सार्थकता

वीरसेनस्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रक्खा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने यह नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात है कि यह टीका कार्तिक मासके धवल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अतएव संभव है इसी निमित्तसे रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका वर्द्दिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारंभकालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलती है[1]। उनकी इस उपाधिकी सार्थकता या तो उनके शरीरके अत्यन्त गौरवर्णमें हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्त्विक प्रकृतिमें। अमोघवर्ष बड़े धार्मिक बुद्धिवाले थे। उन्होंने अपने वृद्धत्वकालमें राज्यपाट छोड़कर वैराग्य धारण किया था और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि प्रकट हुई होगी। अतः संभव है उनकी यह 'अतिशय धवल' उपाधि भी धवलाके नामकरणमें एक निमित्तकारण हुआ हो।

८. धवलासे पूर्वके टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि जयधवलाकी प्रशस्तिके अनुसार वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाद्वारा सिद्धान्त ग्रन्थोंकी बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तकशिष्यकोंसे बढ़ गये[2]। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वीरसेनसे भी पूर्व इस सिद्धान्त ग्रन्थकी अन्य टीकाएं लिखी गई थीं? इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक टीकाओंका उल्लेख किया है जिसके आधारसे षट्खण्डागमकी धवलासे पूर्व रची गई टीकाओंका यहां परिचय दिया जाता है।

---

१ रेऊ: भारतके प्राचीन राजवंश, ३, पृ. ४०.

२ पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥

(जयधवलाप्रशस्ति)

'परिकर्म' और उसके रचयिता कुन्दकुन्द

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और **कषायप्राभृत** इन दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे कुन्दकुन्दपुरके **पद्मनन्दि** मुनिको प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा जिसका नाम **परिकर्म** था[१]। हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिसे हमारे उन्हीं प्रातःस्मरणीय **कुन्दकुन्दाचार्य** का ही अभिप्राय हो सकता है जो दिगम्बर जैन संप्रदायमें सबसे बड़े आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथ जैन सिद्धान्तके सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। दुर्भाग्यतः उनकी बनायी यह टीका प्राप्य नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकोंने उसके कोई उल्लेखादि दिये। किंतु स्वयं **धवला** टीकामें **परिकर्म** नामके ग्रन्थका अनेकबार उल्लेख आया है। धवलाकारने कहीं '**परिकर्म**' से उद्धृत किया है,[२] कहीं कहा है कि यह बात '**परिकर्म**' के कथनपरसे जानी जाती है[४] और कहीं अपने कथनका परिकर्मके कथनसे विरोध आनेकी शंका उठाकर उसका समाधान किया है[५]। एक स्थानपर उन्होंने परिकर्मके कथनके विरुद्ध अपने कथनकी पुष्टि भी की है और कहा है कि उन्हींके व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए, परिकर्मके व्याख्यानको नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध जाता है[६]। इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि '**परिकर्म**' इसी षट्खण्डागमकी टीका थी। इसकी पुष्टि एक और उल्लेखसे होती है जहां ऐसा ही विरोध उत्पन्न होनेपर कहा है कि यह कथन उस प्रकार नहीं है, क्योंकि, स्वयं '**परिकर्मकी**' प्रवृत्ति इसी सूत्रके बलसे हुई है[७]। इन उल्लेखोंसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि '**परिकर्म**' नामका ग्रंथ था, उसमें इसी आगमका व्याख्यान था और वह ग्रंथ वीरसेनाचार्यके सन्मुख विद्यमान था। एक उल्लेखद्वारा धवलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि '**परिकर्म**' ग्रंथको सभी आचार्य प्रमाण मानते थे[८]।

उक्त उल्लेखोंमेंसे प्रायः सभीका सम्बन्ध षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंके विषयसे ही है जिससे इन्द्रनन्दिके इस कथनकी पुष्टि होती है कि वह ग्रंथ प्रथम तीन खण्डोंपर ही लिखा गया था। उक्त उल्लेखोंपरसे 'परिकर्म' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लगता। किंतु

---

१ एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्। गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुन्दकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥
इन्द्र. श्रुतावतार.

२ 'त्ति परियम्मे वुत्तं' (धवला अ. १४१)
'परियम्मम्मि वुत्तं' (,, ,, ६७८)

४ 'परियम्मवयणादो णव्वदे' (,, ,, १६७)
'इदि परियम्मवयणादो' (,, ,, २०३)

५ 'ण च परियम्मेण सह विरोहो (धवला. अ. २०१)
परियम्मवयणेण सह एदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति ण (,, ,, २०४)

६ परियम्मेण एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे? एदेण सह विरुज्झदे, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदे। तेण एदस्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वं, ण परियम्मस्स तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। (धवला अ. २५९)

७ परियम्मादो असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ सेडीए पमाणमवगदमिदि चे ण, एदस्स सुत्तस्स बलेण 'परियम्मपवुत्तीदो' (धवला अ. पृ. १८६)

८ 'सयलाइरियसम्मदपरियम्मसिद्धत्तादो'। (धवला अ. पृ. ५४२)

ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रंथ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके। धवलाकारने कुन्दकुन्दके अन्य सुविख्यात ग्रंथोंका भी कर्ताका नाम दिये बिना ही उल्लेख किया है। यथा, वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे (धवला. अ. पृ. २८९)

इन्द्रनन्दिने जो इस टीकाको सर्व प्रथम बतलाया है और धवलाकारने उसे सर्व-आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रंथके कुन्दकुन्दाचार्यकृत माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती। यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रंथ किस भाषामें लिखा गया था, किन्तु उसके जो 'अवतरण' धवलामें आये हैं वे सब प्राकृतमें ही हैं, जिससे जान पड़ता है कि वह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी। कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रंथ भी प्राकृतमें ही हैं।

धवलामें परिकर्मका एक उल्लेख इस प्रकारसे आया है—

" 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि " (ध. १११०)

इसका कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे मिलान कीजिये—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं विआणाहि ॥ २६ ॥

इन दोनों अवतरणोंके मिलानसे स्पष्ट है कि धवलामें आया हुआ उल्लेख नियमसारसे भिन्न है, फिर भी दोनोंकी रचनामें एक ही हाथ सुस्पष्टरूपसे दिखाई देता है। इन सब प्रमाणोंसे कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के अस्तित्वमें बहुत कम सन्देह रह जाता है।

धवलाकारने एक स्थानपर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है। यथा— 'रूवाहियाणि त्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झइ' (धवला अ. पृ. १४३)। बहुधा वृत्तिरूप जो व्याख्या होती है उसे सूत्र भी कहते हैं। जयधवलामें यतिवृषभाचार्यको 'कषायप्राभृत' का 'वृत्तिसूत्रकर्ता' कहा है। यथा—

'सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ' (जयध० मंगलाचरण गा. ८)

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था। इन्द्रनन्दिने परिकर्मको ग्रंथ कहा है। वैजयन्ती कोषके अनुसार ग्रंथ वृत्तिका एक पर्याय-वाचक नाम है। यथा— 'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः' (वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रोंका ही विवरण हो, शब्द रचना संक्षिप्त हो और फिर भी सूत्रके समस्त अर्थोंका जिसमें संग्रह हो।) यथा—

'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्त-सद्द-रयणाए संगहिय-सुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्त-ववएसादो।
(जयध० अ. ५२)

२ शामकुंडकृत पद्धति

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है, वह शामकुंड नामक आचार्य-कृत थी। यह टीका छठवें खण्डको छोड़कर प्रथम पांच खण्डोंपर तथा दूसरे सिद्धान्तग्रंथ (कषायप्राभृत) पर भी थी। यह टीका पद्धति रूप थी। (वृत्तिसूत्रके विषम-पदोंका भंजन अर्थात् विश्लेषणात्मक विवरणको पद्धति कहते हैं।) यथा—

वित्तिसुत्त-विसम-पयाभंजिए विवरणाए पइहइ-थवएसादो (जयध. पृ. ५२)

इससे स्पष्ट है कि शामकुंडके सन्मुख कोई वृत्तिसूत्र रहे हैं जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी। हम ऊपर कह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म संभवत: वृत्तिरूप ग्रंथ था। अतः शामकुंडने उसी वृत्तिपर और उधर कषायप्राभृतकी यतिवृषभाचार्यकृत वृत्तिपर अपनी पद्धति लिखी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस समस्त टीकाका परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाडी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी[1]। इस टीकाके कोई उल्लेख आदि धवला व जयधवलामें अभीतक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

३ चूडामणिकर्ता तुम्बुलूराचार्य

इन्द्रनन्दिद्वारा उल्लेखित तीसरी सिद्धान्तटीका तुम्बुलूर नामके आचार्यद्वारा लिखी गई। ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नामके एक सुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलूराचार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पद्मनन्दि आचार्यकी कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होता। इन्होंने छठवें खण्डको छोड़ शेष दोनों सिद्धान्तोंपर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूडामणि' था और परिमाण चौरासी हजार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाडी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवें खंडपर सात हजार प्रमाण 'पञ्चिका' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचनाका प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख धवला व जयधवलामें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवलादिसिद्धान्त ग्रंथोंके प्रशस्तिसंग्रह' में दिया गया है उसमें पंचिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है[2]। यथा—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥.......पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसणि-योगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभिरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचिय—सरूवेण भणिस्सामो।

जान पड़ता है यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठम खंडकी वह पंचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाडी थी, किंतु इस पंचिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।

भट्टाकलंकदेवने अपने कर्णाटक शब्दानुशासनमें कनाडी भाषामें रचित 'चूडामणि' नामक तत्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यानका उल्लेख किया है। यद्यपि वहां इसका प्रमाण ९६ हजार

---

१ काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन। आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कात्स्न्यात् ॥ १६२
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः। षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन ॥ १६३ ॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता ॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

२ वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्तभवनका प्रथम वार्षिक रिपोर्ट, १९३५.

बतलाया है जो भट्टाकलंकके कथनसे अधिक है [illegible] उक्त महाशास्त्र इसी तुम्बुलूराचार्यकृत 'चूडामणि' से है ऐसा जान पडता है[1]। इनके रचना-कालके विषयमें इन्द्रनन्दिने इतनाही कहा है कि शामकुंडसे कितने ही काल पश्चात् तुम्बुलूराचार्य हुए[2]।

४ समन्तभद्र-स्वामीकृत टीका

तुम्बुलूराचार्यके पश्चात् कालान्तरमें समन्तभद्र स्वामी हुए, जिन्हें इन्द्रनन्दिने 'तार्किकार्क' कहा है। उन्होंने दोनों सिद्धान्तोंका अध्ययन करके षट्खण्डागमके पांच खंडोंपर ४८ हजार श्लोकप्रमाण टीका रची। इस टीकाकी भाषा अत्यंत सुंदर और मृदुल संस्कृत थी[3]।

यहां इन्द्रनन्दिका अभिप्राय निश्चयतः आप्तमीमांसादि सुप्रसिद्ध ग्रन्थोंके रचयितासे ही है, जिन्हें अष्टसहस्रीके टिप्पणकारने भी 'तार्किकार्क' कहा है। यथा—

तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां.......आप्तमीमांसाम् ....

(अष्टस. पृ. १ टिप्पण)

धवला टीकामें समन्तभद्रस्वामीके नामसहित दो अवतरण हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। इनमेंसे प्रथम पत्र ४९४ पर है। यथा—

'तहा समंतभद्दसामिणा वि उत्तं, विधिविषक्तप्रतिषेधरूप........इत्यादि'

यह श्लोक बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका है। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर है। यथा—

'तथा समंतभद्रस्वामिनाप्युक्तं, स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।'

यह आप्तमीमांसाके श्लोक १०६ का पूर्वार्ध है। और भी कुछ अवतरण केवल 'उक्तं च' रूपसे आये हैं जो बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थोंमें मिलते हैं। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल सका जिससे उक्त टीकाका पता चलता। श्रुतावतारके 'असन्ध्यां पलरि' पाठमें संभवतः आचार्यके निवासस्थानका उल्लेख है, किन्तु पाठ अशुद्धसा होनेके कारण ठीक ज्ञात नहीं होता[4]।

---

१ न चैषा (कर्णाटकी) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्र-ग्रंथसंदर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य नाटक कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रन्थानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात्। (समन्तभद्र. पृ. २१८)

२ तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च।
अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे। षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः॥१६५॥
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्। कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम्॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत्। इन्द्र. श्रुतावतार.

३ कालान्तरे ततः पुनरासंध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोऽभूत्॥१६७॥
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम्।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुनः॥१६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम्॥१६९॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

४ देखो, पं. जुगलकिशोर मुख्तारकृत समन्तभद्र पृ. २१२.

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रनिर्मित '**जीवसिद्धि**' का उल्लेख आया है[1], किंतु यह ग्रंथ अभीतक मिला नहीं है। कहीं यह समन्तभद्रकृत '**जीवट्ठाण**' की टीकाका ही तो उल्लेख न हो? समन्तभद्रकृत **गंधहस्तिमहाभाष्य**के भी उल्लेख मिलते हैं, जिनमें उसे **तत्त्वार्थ** या **तत्त्वार्थसूत्र**का व्याख्यान कहा है[2]। इस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर लिखा होगा। किंतु यह संभव है कि उन उल्लेखोंका अभिप्राय समन्तभद्रकृत इन्हीं सिद्धान्तग्रंथोंकी टीकासे हो। इन ग्रन्थोंकी भी '**तत्त्वार्थमहाशास्त्र**' नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रन्थोंकी '**चूडामणि**' टीकाको अकलंकदेवने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है।

इन्द्रनन्दिने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धान्तकी भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सहधर्मीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यादि-शुद्धि-करण-प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है[3]। संभव है कि यहां समन्तभद्रकी उस भस्मक व्याधिकी ओर संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हे कुछ काल अपने मुनि आचारका अतिरेक करना पड़ा था। उनके इन्ही भावों और शरीरकी अवस्थाको उनके सहधर्मीने द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थकी टीका लिखनेमें अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो।

यदि समन्तभद्रकृत टीका संस्कृतमें लिखी गई थी और वीरसेनाचार्यके समय तक विद्यमान थी तो उसका धवला जयधवलामें उल्लेख न पाया जाना बड़े आश्चर्यकी बात होगी।

५ बप्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

सिद्धान्तग्रन्थोंका व्याख्यानक्रम गुरु-परम्परसे चलता रहा। इसी परम्परामें **शुभनन्दि** और **रविनन्दि** नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे **बप्पदेवगुरुने** यह समस्त सिद्धान्त विशेषरूपसे सीखा। वह व्याख्यान **भीमरथि** और **कृष्णमेख** नदियोंके बीचके प्रदेशमें **उत्कलिका** ग्रामके समीप **मगणवल्ली** ग्राममें हुआ था। भीमरथि कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब बेलगांव और धारवाड़ कहलाता है। वहीं यह बप्पदेव गुरुका सिद्धान्त-अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाबन्धको छोड़ शेष पांच खंडोंपर '**व्याख्याप्रज्ञप्ति**' नामकी

---

१ जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्। वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥

हरिवंशपुराण. १. ३०.

२ तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः। स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

(हस्तिमल्ल. विक्रान्तकौरवनाटक, मा. ग्रं. मा.)

तत्त्वार्थ-व्याख्यान-षण्णवति-सहस्र-गंधहस्ति-महाभाष्य-विधायक-देवागम-कवीश्वर-स्याद्वाद-विद्याधिपति-समन्तभद्र......।(एक प्राचीन कन्नड ग्रन्थ, देखो समन्तभद्र. पृ. २२०)

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य।

प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्॥

(विद्यानन्द. आप्तमीमांसा)

३ विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।

द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात् प्रतिनिषिद्धम् ॥ १७० ॥

इन्द्र. श्रुतावतार.

टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी संक्षेपमें व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खंडोंके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पांच खंडों और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाबंधकी टीकाका 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इस सब रचनाकी भाषा प्राकृत थी[1]।

धवलामें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमें आये हैं। एक स्थानपर उसके अवतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है। यथा—

लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो (ध. १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेदसे वह भिन्न-मान्यताको लिए हुए है और इसलिये उसका हमारे मतसे ऐक्य नहीं है। यथा—

'एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कथं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुधसुदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो (ध. ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके सूत्र कहे जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका माननेमें आशंका उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जयधवलामें एक स्थानपर लेखकने बप्पदेवका नाम लेकर उनके और अपने बीचके मतभेदको बतलाया है। यथा—

चुण्णिसुत्तम्मि बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० संखेज्जा समया त्ति परूविदो (जयध० १८५)

इन अवतरणोंसे बप्पदेव और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। धवलाकार वीरसेनाचार्यके परिचयमें हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनन्दिके अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पांच टीकाएं षट्खंडागमके पुस्तकारूढ होनेके काल (विक्रमकी २ री शताब्दि) से धवलाके रचना काल (विक्रमकी ९ वी शताब्दि) तक रची गई जिसके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूसरी शताब्दीमें, शामकुंड तीसरीमें, तुम्बुलूर चौथीमें, समन्तभद्र पांचवीमें और बप्पदेव छठवीं और आठवीं शताब्दीके बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

---

१ एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया। आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् ॥ १७१ ॥

शुभ-रवि-नन्दिमुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोः सरितोः। मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण। श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥ १७३ ॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपंचखंडे तु। व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खंडं च ततः संक्षिप्य ॥ १७४ ॥
षण्णां खंडानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥ १७५ ॥
व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्। अष्टसहस्रग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबंधे ॥ १७६ ॥
इन्द्र. श्रुतावतार.

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएं कहां गई और उनका पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विच्छिन्न हो गया ? हम धवलाकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-शिष्योंसे बढ़ गये। जान पड़ता है कि इसी टीकाके प्रभावमें उक्त सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदोंके संग्रह, आलोचन व मंथनद्वारा उन पूर्ववती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अन्धकारमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचा सकी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर संक्षेपमें सरल और सुस्पष्टरूपसे गोम्मटसारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दीओंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालोंमें बन्द पड़ी रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियां अभी भी दक्षिणके किसी शास्त्रभंडारमें पड़ी हुई प्रकाशकी बाट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताडपत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताडपत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भण्डारोंकी इस दृष्टिसे भी खोजबीन करते रहना चाहिए।

९. धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

धवला और जयधवलाको देखनेसे पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके सन्मुख बहुत विशाल जैन साहित्य प्रस्तुत था। सत्प्ररूपणाका जो भाग अब प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने सत्कर्मप्राभृत व कषायप्राभृतके नामोल्लेख व उनके विविध अधिकारोंके उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं[1]। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतितर्कका 'सम्मइसुत्त' (सन्मतिसूत्र) नामसे उल्लेख किया है और एक स्थलपर उसके कथनसे विरोध बताकर उसका समाधान किया है, तथा उसकी सात गाथाओंको उद्धृत किया है[2]। उन्होंने अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थ-राजवार्तिकका 'तत्त्वार्थभाष्य' नामसे उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कहीं शब्दशः और कहीं कुछ परिवर्तनके साथ दिये हैं[3]। इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ संस्कृत व प्राकृत पद्य बहुधा 'उक्तं च' कहकर और कहीं कहीं बिना ऐसी सूचनाके उद्धृत किये हैं उनमेंसे हमें ६ कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय व उसकी जयसेनकृत

(हाशिये पर: सत्प्ररूपणामें उल्लिखित साहित्य)

---

१ पृ. २०८, २२१, २२६ आदि

२ पृ. १५ व गाथा नं. ५, ६, ७, ८, ९, ६७, ११.

३ पृ. १०३, २२६, २३२, २१४, २३९.

टीकामें[1], ७ तिलोयपण्णत्तिमें[2], १२ वट्टकेरकृत मूलाचारमें[3], १ अकलंकदेवकृत लघीयस्त्रयीमें[4], २ मूलाराधनामें[5], [illegible] शाकटायन-न्यासमें,[7] १ देवसेन-कृत नयचक्रमें[8], व १ विद्यानन्द आप्तपरीक्षामें[9] मिले हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, व जीवप्रबोधनी टीकामें इसकी ११० गाथाएं पाई गई हैं जो स्पष्टतः यहांपर यहींसे ली गई हैं। कई जगह तिलोयपण्णत्तिकी गाथाओंके विषयका उन्हीं शब्दोंमें संस्कृत पद्य अथवा गद्यद्वारा वर्णन किया है[10] व यतिवृषभाचार्यके मतका भी यहां उल्लेख आया है[11]। इनके अतिरिक्त इन गाथाओंमेंसे अनेक श्वेताम्बर साहित्यमें भी मिली हैं। सन्मतितर्ककी सात गाथाओंका हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएं आचारांगमें[12], १ बृहत्कल्पसूत्रमें[13], ३ दशवैकालिकसूत्रमें[14], १ स्थानांग टीकामें[15], १ अनुयोगद्वारमें[16] व २ आवश्यक-निर्युक्तीमें[17] मिली हैं। इसके अतिरिक्त और विशेष खोज करनेसे दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें प्रायः सभी गाथाओंके पाये जानेकी संभावना है।

किंतु वीरसेनाचार्यके सन्मुख उपस्थित साहित्यकी विशालताको समझनेके लिये उनकी समस्त रचना अर्थात् धवला और जयधवलापर कमसे कम एक विहंगम-दृष्टि डालना आवश्यक है। यह तो कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उनके सन्मुख पुष्पदन्त, भूतबलि व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र-साहित्य प्रस्तुत था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रंथोंके अनेक संस्करण छोटे-बड़े पाठ-भेदोंको रखते हुए उनके सन्मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों और तज्जन्य मतभेदोंका उल्लेख और यथाशक्ति समाधान किया है[18]।

सूत्र-पुस्तकोंमें पाठभेद व मतभेद

कहीं कहीं सूत्रोंमें परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोंपर टीकाकारने निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रगट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममें निपुण आचार्य करें। हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते,

---

१ गाथा नं. १, १३, ४६, ७२, ७३, १९८.
२ गाथा नं. २०, ३५, ३७, ५५, ५६, ६०.
३ गाथा नं. १८, ३१, (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२.
४ गाथा नं. ११. ५ गाथा नं. १६७, १६८. ६ गाथा नं. ५८, १६७, १६८, ३०, ७४.
७ गाथा नं. २. ८ गाथा नं १०. ९ गाथा नं. २२.
१० देखो पृ. १०, २८, २९, ३२, ३३, आदि. ११ देखो पृ. ३०२.
१२ गाथा नं. १४, १४९, १५०, १५१, १५२ (पाठभेद). १३ गाथा नं. ६२.
१४ गाथा नं. ३४, ७०, ७१. १५ गाथा नं. ८८. १६ गाथा नं. १४. १७ गाथा नं. ६८, १००.
१८ केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्संतरं छम्मासा। धवला अ. ३४५.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु उवलब्भइ, तदो एत्थ उवएसं लद्धूण वत्तव्वं। धवला. अ. ५९१.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु विदियमद्धमस्सिदूण परूविद-अप्पाबहुअभावादो। धवला. अ. १२०६.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाठो। धवला. अ. १२४३.

क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला[1]। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किंतु वर्तमान कालमें वे हैं नहीं, और अब उनके पाससे सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रामाणिकता नष्ट करनेसे डरनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये[2]'। कहीं कहीं तो सूत्रोंपर उठाई गई शंका पर टीकाकारने यहांतक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूछताछ गौतमसे करना चाहिये, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कहा है[3]'।

सूत्रविरोधका कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किंतु एकान्तग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रोंका नहीं है, किंतु इन सूत्रोंके **उपसंग्रहकर्ता आचार्य** सकल श्रुतके ज्ञाता न होनेसे उनके द्वारा विरोध आ जाना संभव है[4]'। इससे वीरसेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठ-भेदादि परंपरागत आचार्योंद्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारसे चला करता था जिसके अनुसार कोई **सूत्राचार्य** थे[5], कोई **उच्चारणाचार्य**[6], कोई **निक्षेपाचार्य**[7] और कोई **व्याख्यानाचार्य**[8]। इनसे भी ऊपर '**महावाचकोंका**' पद ज्ञात होता है[9]। कषायप्राभृतके प्रकाण्ड ज्ञाता **आर्यमंक्षु** और **नागहस्तिको**

१ तदो तेहि सुत्तेहि एदेसिं सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेसं लद्धूण इदं सुत्तं इदं वासुत्तमिदि आगम-णिउणा भणंतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था अलद्धोवदेसत्तादो। धवला. अ. ५६३.

२ होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स संभवत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो। × × चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा, ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि संपहि उवलब्भंति। तदो थप्पं काऊण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायण-भीरूहि आयरिएहि वक्खाणेयव्वाणि। धवला. अ. ५६७.

३ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा ? गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोद-पदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अभिप्पाओ कहिओ। धवला. अ. ५६७.

४ कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो। × × कधं सुत्ताणं विरोहो ? ण, सुत्तोवसंघाराणमसयलसुद-धारयाइरियपरतंताणं-विरोह-संभव-दंसणादो। धवला. अ. ५८९.

५ सुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धो उवलब्भदे। तम्हा तेसु सुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धेण, ध. २९४.

६ एसो उच्चारणाइरिय-अभिप्पाओ। धवला अ. ७६४. एदेसिमणियोगद्दाराणमुच्चारणाइरियो-वएसबलेण परूवणं वत्तइस्सामो। जयध. अ. ८४२.

७ णिक्खेवाइरिय-परूविद-गाहाणमत्थं भणिस्सामो। धवला. अ. ८६३.

८ वक्खाणाइरिय-परूविदं वत्तइस्सामो। धवला. अ. १२३५.

वक्खाणाइरियाणमभावादो। धवला. अ. ३४८.

९ महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण . . . . . महावाचयाणमज्जणंदीणं उवदेसेण। धवला. अ. १४५७. महावाचया अज्जिणंदिणो संतकम्मं करेंति। ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति। धवला. अ. १४५८. अज्जमंखु-णागहत्थि-महावाचय-मुहकमल-विणिग्गयस्स सम्मत्तस्स। जयध. अ. १७३.

अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दिका भी महावाचकरूपसे एक जगह उल्लेख है। संभवतः ये स्वयं वीरसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख धवलाकी प्रशस्तिमें भी किया गया है।

धवलाकारने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहां सूत्रोंपर इन आचार्योंका कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरुके उपदेशके बल पर[1] व परंपरागत उपदेशद्वारा[2] तथा सूत्रोंसे अविरुद्ध अन्य आचार्योंके वचनोंद्वारा[3] किया है।

धवला पत्र १०३६ पर तथा जयधवलाके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य विरचित कषायप्राभृत आचार्यपरंपरासे आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्योंको प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र रचे। वीरसेन और जिनसेनके सन्मुख, जान पड़ता है, उन दोनों आचार्योंके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे, क्योंकि, उन्होंने अनेक जगह उन दोनोंके नामोल्लेख किया है[4] तथा उन्हें महावाचकके अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है। यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-संख्या-क्रमका भी वीरसेनने बड़ा ध्यान रक्खा है[5]।

सूत्रों और उनके व्याख्यानोंमें विरोधके अतिरिक्त एक और विरोधका उल्लेख मिलता है जिसे धवलाकारने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएं थी जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्तिको स्वीकार करते थे, क्योंकि, वह ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परंपरागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य-परंपरागत नहीं है। धवलामें इस प्रकारके तीन मतभेद हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें उपशमश्रेणीकी संख्या ३०४ बताकर कहा है—

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति

'केवि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरिय-परंपरागदमिदि जं वुत्तं होदि। पुव्वुत्त-वक्खाणमपवाइज्ज-माणं वाउं आइरियपरंपरा-अणागदमिदि णायव्वं।'

---

१ कथमेदं णव्वदे ? गुरूवदेसादो। धवला. अ. ३१२.

२ सुत्ताभावे सत्त चेव खंडाणि कीरंति त्ति कधं णव्वदे ? ण, आइरिय-परंपरागदुवदेसादो। धवला. अ. ५९२.

३ कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो सुत्त-समाणादो। धवला. अ. १२५७. सुत्तेण विणा .... कुदो णव्वदे ? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो। धवला. अ. १२३७.

४ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति। जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। (धवला. अ. १४४०.) एत्थ दुवे उवएसा . . महावाचयाण-मज्जमंखुसवणाणमुवदेसेण लोगपूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंत-कम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि। जयध. अ. १२३९.

५ जइवसह-चुण्णिसुत्तम्मि पत्त-संकमसंभादो। . . जइवसहठविद-बारहंकादो। जयध. अ. २४.

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणमें पांचकी कमी करते हैं। यह पांचकी कमीका व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य-परंपरागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त नहीं है, वाम है और आचार्यपरंपरासे आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी संख्या ६०५ बताकर कहा गया है---

एसा **उत्तर-पडिवत्ती**। एत्थ दस अवणिदे **दक्खिण-पडिवत्ती** हवदि।

अर्थात् यह (६०५ की संख्यासंबंधी) उत्तर प्रतिपत्ति है। इसमेंसे दश निकाल देनेपर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जाती है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें ही संयतोंकी संख्या ८९९९९९९७ बतलाकर कहा है 'एसा **दक्खिण-पडिवत्ती**'। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निरसन करके, फिर कहा है 'एत्तो **उत्तर-पडिवत्तिं** वत्तइस्सामो' और तत्पश्चात् संयतोंकी संख्या ६९९९९९९६ बतलाई है। यहां इनकी समीचीनताके विषयमें कुछ नहीं कहा।

दक्षिण-प्रतिपत्तिके अंतर्गत एक और मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्योंने उक्त संख्याके संबंधमें जो शंका उठाई है उसका निरसन करके धवलाकार कहते हैं--

'जं दूसणं भणिदं तण्ण दूसणं, बुद्धिविहूणाइरियमुहविणिग्गयत्तादो।'

अर्थात् 'जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि, वह बुद्धिविहीन आचार्योंके मुखसे निकली हुई बात है'। संभव है वीरसेन स्वामीने किसी समसामयिक आचार्यकी शंकाको ही दृष्टिमें रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वारमें आया है जहां तिर्यंच और मनुष्योंके सम्यक्त्व और संयमादि धारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं---

'एत्थ वे उवदेसा, तं जहा--तिरक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा **दक्खिणपडिवत्ती**। दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णि पक्ख तिण्णि दिवस अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। एसा **उत्तरपडिवत्ती**, उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराए णागदमिदि एयट्ठो धवला. अ. ३३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और संयमासंयमादि धारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें (जन्मसे) २ मास और मुहूर्तपृथक्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमें गर्भसे ८ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् होती है। किन्तु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त, तथा मनुष्योंमें ८ वर्षके उपरान्त होती है। धवलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहां भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परंपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अनृजु और आचार्य-परम्परासे अनागत कहा है।

हमने इन उल्लेखोंका दूसरे उल्लेखोंकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है इनसे धवलाकारका तात्पर्य जैन समाजके भीतरकी किन्हीं विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हो ?

धवलामें जिन अन्य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए हैं वे इस प्रकार हैं। **तिलोकप्रज्ञप्तिको** धवलाकारने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खूब उपयोग किया है[1]।

तिलोयपण्णत्ति सूत्र व यतिवृषभाचार्य

हम ऊपर कह आये हैं कि सत्प्ररूपणामें तिलोयपण्णत्तिके मुद्रित अंशकी सात गाथाएं ज्योंकि त्यों पाई जाती हैं और उसके कुछ प्रकरण भाषा-परिवर्तन करके ज्योंके त्यों लिखे गये हैं। इस ग्रंथके कर्ता **यतिवृषभाचार्य** कहे जाते हैं जो जयधवलाके अन्तर्गत **कषायप्राभृतपर चूर्णिसूत्र** रचनेवाले यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते हैं[2]। सत्प्ररूपणामें भी यतिवृषभका उल्लेख आया है[3] व आगे भी उनके मतका उल्लेख किया गया है[4]।

पंचत्थिपाहुड

कुंदकुंदके पंचास्तिकायका '**पंचत्थिपाहुड**' नामसे उल्लेख आया है और उसकी दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं[5]। सत्प्ररूपणामें उनके ग्रंथोंके जो अवतरण पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। **परिकर्म** ग्रंथके उल्लेख और उसके साथ कुंदकुंदाचार्यके संबन्धका विवेचन भी हम ऊपर कह आये हैं[6]।

गृद्धपिच्छाचार्यकृत तत्वार्थसूत्र

धवलाकारने **तत्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत** कहा है और उसके कई सूत्र भी उद्धृत किये हैं[7]। इससे तत्वार्थसूत्रसंबन्धी एक श्लोक व श्रवणबेलगोलके कुछ शिलालेखोंके उस कथनकी पुष्टि होती है जिसमें उमास्वातिको '**गृद्धपिछोपलाछित**' कहा है। सत्प्ररूपणामें भी तत्वार्थसूत्रके अनेक उल्लेख आये हैं।

---

१ तिरियलोगो त्ति **तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो**। धवला. अ. १४३.
चंदाइच्चबिंबपमाणपरूवयतिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला. अ. १४३.
तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि। धवला. अ. २५९.

२ Catlogue of Sans. & Prak. Mss. in C. P. & Berar, Intro. p. X V.

३ **यतिवृषभोपदेशात्** सर्वघातिकर्मणां इत्यादि। धवला. अ. ३०२.

४ एसो दंसणमोहणीय-उवसामओ त्ति **जइवसहेण** भणिदं। धवला. अ. ४२५.

५ धवला. अ. २८९ '**वुत्तं**' च '**पंचत्थिपाहुडे**' कहकर चार गाथाएं उद्धृत की गई हैं जिनमेंसे दो पंचास्तिकायमें क्रमशः १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं। अन्य दो '**ण य परिणमइ सयं सो**' आदि व '**लोयायासपदेसे**' आदि गाथाएं हमारे सन्मुख वर्तमान पंचास्तिकायमें दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु वे दोनों गो. जीवमें क्रमशः नं. ५७० और ५८९ पर पाई जाती हैं। धवलाके उसी पत्रपर आगे पुनः वही '**वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे**' कहकर तीन गाथाएं उद्धृत की हैं जो पंचास्तिकायमें क्रमशः २३, २५ और २६ नं. पर मिलती हैं। (पंचास्तिकायसार, आरा, १९२०.)

६ देखो ऊपर पृ. ४६ आदि.

७ देखो पृ. १५१, २३२, २३६, २३९, २४०.

आचारांग — धवलामें एक गाथा [illegible] जी महाराज

पंचत्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

धवला. अ. २८९

यह गाथा वट्टकेरकृत मूलाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ ३९९ ॥

यदि उक्त गाथा यहींसे धवलामें उद्धृत की गई हो तो कहा जा सकता है कि उस समय मूलाचारकी प्रख्याति आचारांगके नामसे थी ।

स्वामी समन्तभद्रके जो उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं उनका परिचय हम षट्खंडागमकी अन्य टीकाओंके प्रकरणमें करा ही आये हैं ।

पूज्यपादकृत सारसंग्रह — धवलाकारने नयका निरूपण करते हुए एक जगह पूज्यपादद्वारा सारसंग्रहमें दिया हुआ नयका लक्षण उद्धृत किया है । यथा—

सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः— अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति ।
धवला. अ. ७०० वेदनाखंड

पहले अनुमान होता है कि संभव है पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिको ही यहां सारसंग्रह कहा गया हो । किन्तु उपलब्ध सर्वार्थसिद्धिमें नयका लक्षण इस प्रकारसे नहीं पाया जाता । इससे पता चलता है कि पूज्यपादकृत सारसंग्रह नामका कोई और ग्रन्थ धवलाकारके सन्मुख था । ग्रंथके नामपरसे जान पड़ता है कि उसमें सिद्धान्तोंका मथितार्थ संग्रह किया गया होगा । संभव है ऐसे ही सुन्दर लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर धनञ्जयने अपने नाममालाकोषकी प्रशस्तिमें पूज्यपादके 'लक्षण' को अपश्चिम अर्थात् बेजोड़ कहा है । यथा—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २०३ ॥

पूज्यपाद भट्टारक अकलंक — अकलंकदेवकृत तत्वार्थराजवार्तिकका धवलाकारने खूब उपयोग किया है और, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेरके साथ उसके अनेक अवतरण दिये हैं । किन्तु न तो उनके साथ कहीं अकलंकका नाम आया और न 'राजवार्तिकका' । उन अवतरणोंको प्रायः 'उक्तं च तत्वार्थभाष्ये' या 'तत्वार्थभाष्यगत' प्रकट किया गया है । धवलामें एक स्थान (प. ७००) पर कहा गया है—

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि—सामान्य-नय-लक्षणमिदमेव । तद्यथा, प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः इति ।

इसके आगे 'प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्' आदि उक्त लक्षणकी व्याख्या भी दी गई है। यही लक्षण व व्याख्या तत्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयधवला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या दी गई है और वहां उसे 'तत्वार्थभाष्यगत' कहा है। '**अयं वाक्यनयः तत्वार्थभाष्यगतः**'। इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिकका असली प्राचीन नाम '**तत्वार्थभाष्य**' है और उसके कर्ता अकलंकका सन्मानसूचक उपनाम 'पूज्यपाद भट्टारक' भी था। उनका नाम भट्टाकलंकदेव तो मिलता ही है।

प्रभाचन्द्र भट्टारक

धवलाके वेदनाखंडान्तर्गत नयके निरूपणमें (प. ७००) प्रभाचन्द्र भट्टारकद्वारा कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

'**प्रभाचन्द्र भट्टारकै**रप्यभाणि— प्रमाण-व्यपाश्रय-परिणाम-विकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति।'

ठीक यही लक्षण 'प्रमाणव्यपाश्रय' आदि जयधवला (प. २६) में भी आया है और उसके पश्चात् लिखा है 'अयं नास्य नयः प्रभाचन्द्रो यः'। यह हमारी प्रतिकी अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप 'अयं वाक्यनयः **प्रभाचन्द्रीयः**' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ न्याय-ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्यायकुमुदचन्द्रोदय। इस दूसरे ग्रंथका अभी एक ही खंड प्रकाशित हुआ है। उन दोनों ग्रंथोंमें उक्त लक्षणका पता लगानेका हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तब हमने न्या. कु. चं. के सुयोग्य सम्पादक पं. महेन्द्रकुमारजीसे भी इसकी खोज करनेकी प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करनेके पश्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करनेपर भी उस लक्षणका पता नहीं लग रहा। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रकृत कोई और भी ग्रंथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धिमें नहीं आया और उसीके अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हों?

धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला

धवलामें 'इति' के अनेक अर्थ बतलानेके लिये '**एत्थ उवउज्जंतओ सिलोगो**' अर्थात् इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययः।
प्रादुर्भावे समाप्तं च इति शब्दं विदुर्बुधाः॥ धवला. अ. ३८७

यह श्लोक **धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला**का है और वहां वह अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार पाया जाता है—

हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥ ३९॥

इन्हीं धनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोष भी है जिसमें उन्होंने अपने **द्विसंधान काव्य**को तथा अकलंकके प्रमाण और पूज्यपादके लक्षणको अपश्चिम कहा है अर्थात् उनके

समान फिर कोई नहीं लिख सका[१] ।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कोषकार धनञ्जय, पूज्यपाद और अकलंकके पश्चात् हुए । किन्तु कितने पश्चात् इसका अभीतक निर्णय नहीं होता था । धवलाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धनञ्जयका समय धवलाकी समाप्तिसे अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है ।

धवलामें कुछ ऐसे ग्रंथोंके उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके संबंधमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहांके और किसके बनाये हुए हैं । इस प्रकारका एक उल्लेख **जीवसमास**का है । यथा, (धवला प. २८९) **जीवसमासाए** वि उत्तं—

छप्पंचणव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥

यह गाथा 'उक्तं च' रूपसे सत्प्ररूपणामें भी दो बार आई है और गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी है ।

एक जगह धवलाकारने **छेदसूत्र** का उल्लेख किया है । यथा—

ण च दव्वित्थिणवुंसयवेदाणं चेलादिचाओ अत्थि **छेदसुत्तेण** सह विरोहादो ।
धवला. अ. ९०७.

एक उल्लेख कर्मप्रवादका भी है । यथा—

'सा **कम्मपवादे** सवित्थरेण परूविदा' (धवला. अ. १३७१)

जयधवलामें एक स्थानपर **दशकरणीसंग्रह**का उल्लेख आया है । यथा—

....शुष्ककुड्यपतितसिकतामुष्टिवदनन्तरसमये निर्वर्तते कर्मैर्यापथं वीतरागाणामिति । **दसकरणीसंगहे** पुण पयडिबंधसंभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणट्ठाणेसु वि बंधणाकरण-मोवट्टणाकरणं च दो वि भणिदाणि त्ति । जयध० अ. १०४२.

इस अवतरणपरसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी बन्ध, उदय, संक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है ।

ये थोडेसे ऐसे उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलापर एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं । हमें विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूक्ष्म अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बंधमें बहुतसी नई बातें ज्ञात होंगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथियां सुलझ सकेंगी ।

---

१ देखो पृ. ५३.

१०. षट्खंडागमका परिचय

पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें ग्रंथके मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका परिचय कराया है। वहां इसे 'खंडसिद्धान्त' कहा है और इसके खंडोंकी संख्या छह बतलाई है[1]। इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम 'षट्खंड सिद्धान्त' प्रकट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं[2]। धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई। अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवलको आगम सिद्धान्त'[3], गोम्मटसारके टीकाकारने परमागम[4] तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनन्दिने षट्खंडागम[5] कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी बडी भारी सार्थकता भी है। सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परासे आया है[6]। इस प्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते है किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

ग्रंथ नाम

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है। धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हे उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामीतक पहुँचती है। पुष्पदन्त और भूतबलिने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और

१ तदो एवं खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। (पृ. ७१)
इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि।
(पृ. ७४)

२ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। (पृ. २०.) आगमः सिद्धान्तः। (पृ. २९.)
कृतान्तागम-सिद्धान्त-ग्रंथाः शास्त्रमतः परम्॥ (धनंजय-नाममाला ४)

३ ण उ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम॥ (महापु. १, ९, ८.)

४ एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानादयः प्ररूपणाः भगवदर्हद्‌गणधरशिष्य-प्रशिष्यादिगुरुपर्वागतया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिताः परमागमे पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिताः (गो. जी. टी. २१.) परमागमे निगोद-जीवानां द्वैविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात्। (गो. जी. टी. ४४२.)

५ षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः॥१३७॥ षट्खंडागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः॥१३८॥ षट्खंडागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम्॥ १४६॥ एवं षट्खंडागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना॥ १४९॥ षट्खंडागमगत-खंड-पंचकस्य पुनः॥ १६८॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

६ राद्ध-सिद्ध-कृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः समयागमौ (हैम. २, १५६.) पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः। द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः। (धवला अ. ७१६)

पूर्व आचार्योंके उपदेशोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है[1]। आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता[2], क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके बराबरका प्रमाण माना जाता है[3]।

पुष्पदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्पराकी मर्यादाको लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनन्दिद्वारा निर्दिष्ट नाम **षट्खंडागम** स्वीकार किया है।

षट्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम '**जीवट्ठाण**' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा १ प्रकृति समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं हैं। इस खंडका परिमाण धवलाकारने **अठारह हजार पद** कहा है (पृ. ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थान और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहां विस्तारसे वर्णन किया गया है।

जीवट्ठाण

दूसरा खंड **खुद्दाबंध** (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मबन्ध करनेवाले जीवका कर्मबन्धके भेदोंसहित वर्णन किया गया है।

२ खुद्दाबंध

यह खंड अ. प्रतिके ४७५ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

तीसरे खंडका नाम **बंधस्वामित्वविचय** है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबंधसंबन्धी विषयोंका बंधक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है।

३ बंधस्वामित्व-विचय

---

१ 'भूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः' (१९७) 'किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्' (२०६) 'जिणा ण अण्णहावाइणो' (२२१) 'आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं आइरिएहि पोत्थेसु चडावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो' (२२१) 'प्रतिपाद्यकार्योपलंभात्' (२२९) 'आप्तोक्तत्वतः' (२५८) 'प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तारः' (३४९)

२ 'किमित्यागमे तत्र तस्य तत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् (२०६)

३ सुदकेवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ गो. जी. ३६९.

यह खंड अ. प्रतिके ५७६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है। चौथे खंडका नाम **वेदना** है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसी खंडके अन्तर्गत **कृति** और **वेदना** अनुयोगद्वार हैं। किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विस्तारके कारण इस खंडका नाम वेदना रक्खा गया है[1]।

४ वेदना

कृतिमें औदारिकादि पांच शरीरोंकी संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओंका वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागाभागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन है।

इस खंडका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया गया है। यह समस्त खंड अ. प्रतिके ६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंडं समत्ता (खंडो समत्तो)।

पांचवें खंडका नाम **वर्गणा** है। इसी खंडमें बंधनीयके अन्तर्गत वर्गणा अधिकारके अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनका पहला भेद बंध, इन अनुयोगद्वारोंका भी अन्तर्भाव कर लिया गया है।

५ वर्गणा

स्पर्शमें निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शोंका वर्णन करके प्रकृतमें कर्म-स्पर्शसे प्रयोजन बतलाया है।

कर्ममें पूर्वोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान, ६ अधः, ७ ईर्यापथ, ८ तप, ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कर्म-द्रव्य-प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है।

इस खंडका प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मबन्धके योग्य वर्गणाओंका विस्तारसे कथन किया है।

यह खंड अ. प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ है और वहां कहा है—

एवं विस्ససोवचय-परूवणाए समत्ताए **बाहिरिय-वग्गणा** समत्ता होदि।

---

[1] कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं **पहाणत्ताभावादो**। तं पि कुदो णव्वदे ? **संखेवेण परूवणादो**।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि भूतबलिने पांच खंडोंके पुष्पदन्त विरचित

६ महाबंध सूत्रोंसहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् महाबंध नामके छठवें खंडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की[1]।

धवलामें जहां वर्गणाखंड समाप्त हुआ है वहां सूचना की गई है कि—

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अनुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि-भडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि'। (धवला. क. १२५९-१२६०)

अर्थात् बंधविधान चार प्रकारका है— प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने (वीरसेनाचार्यने) उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जानेपर बंधविधान समाप्त होता है।

ऐसा ही एक उल्लेख जयधवलामें भी पाया जाता है जहां कहा गया है कि, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका वर्णन विस्तारसे महाबंधमें प्ररूपित है और उसे वहांसे देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुनः प्रकाशित करनेमें कोई फल नहीं। यथा—

सो पुण पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसबंधो बहुसो परूविदो (चूर्णिसूत्र)। सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेस-विसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो, ण एत्थ पुणो परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो महाबंधाणुसारेणेत्थ पयडि-ट्ठिद-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होई। जयध. अ. ५४८

इससे इन्द्रनन्दिके कथन की पुष्टि होती है कि छठवां खंड स्वयं भूतबलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है।

किंतु इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्यने एलाचार्यसे

सत्कर्म-प्राभृत सिद्धान्त सीखनेके अनन्तर निबन्धनादि अठारह अधिकारोंद्वारा सत्कर्म नामक छठवें खंडका संक्षेपसे विधान किया और इस प्रकार छहों खंडोंकी बहत्तर हजार ग्रंथप्रमाण धवला टीका रची गई। (देखो ऊपर पृ. ३८)

धवलामें वर्गणाखंडकी समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलिकृत महाबंधकी सूचनाके पश्चात् निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम सातासात, दीर्घ-

---

१ तेन ततः परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा। षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः॥१३७
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः। द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खंडपंचकस्यान्वक्॥१३८
सूत्राणि षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खंडम्॥१३९
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा। इन्द्र, श्रुतावतार.

ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त निकाचित-अनिकाचित कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व, इन अठारह अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है और इस समस्त भागको चूलिका कहा है। यथा—

एसो उवरिम-गंथो चूलिया णाम।

इन्द्रनन्दिके उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेपसे छठवां खंड ठहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला षट्खंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। विबुध श्रीधरके मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिन्द्धान्तद्वयं वीरसेननामा मुनिः पठित्वाऽपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पंच-खंडे षट्-खंडं संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासप्ततिसहस्रप्रमितां धवलनामांकितां लिखाप्य विंशतिसहस्रकर्मप्राभृतं विचार्य वीरसेनो मुनिः स्वर्गं यास्यति। (विबुध श्रीधर. श्रुतावतार मा. ग्रं. मा. २१, पृ. ३१८)

दुर्भाग्यतः महाबंध (महाधवल) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और सत्कर्म नामोंकी इस उलझनको सुलझाना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु मूडबिद्रीमें सुरक्षित महाधवलका जो थोडासा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नामसे है और उसपर एक पंचिकारूप विवरण है जिसके आदिमें ही कहा गया है—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं। ..... चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि पुणो फास (कम्म-पयडि-बंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंध-विधाणणामणियोगो[1] खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थ-विसम पदाणमत्थे थोरुद्धयेण (?) पंचियसरूवेण भणिस्सामो। (वीरवाणी सिं'भ रिपोर्ट, १९३५)

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोंमेंसे कृति और वेदनाका वेदना खंडमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके बंध और बंधनीयका वर्गणाखंडमें और बंधविधान[1] नामक अणुयोगद्वारका खुद्दाबंधमें विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है। इनसे शेष अठारह अनुयोगद्वार सब सत्कर्ममें प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अतिगंभीर होनेसे उसके विषय पदोंका अर्थ संक्षेपमें पंचिकारूपसे यहां कहा जाता है।

इससे जान पड़ा कि महाधवलका मूलग्रंथ संतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना और वर्गणाखंडमें वर्णित प्रथम छहको छोडकर शेष निबंधनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है।

---

१ यहां पाठमें कुछ त्रुटि जान पडती है, क्योंकि, धवलाके अनुसार खुद्दाबंधमें बंधकका वर्णन है और बंधविधान महाबंधका विषय है।

महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कबकी और किसकी है ? संभवतः यह वही पंचिका है जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है। (देखो ऊपर पृ. ४९)

किंतु जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौवीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित

स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदयके प्ररूपणमें व्यापार करता है। यथा---

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अत्थाहियारो ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमण्णियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्णुदयपरूवणे य वावारो। जयध. अ. ५१२.

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौवीस अनुयोगद्वारोंका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूंकि ये चौवीस अधिकार तीसरे अर्थात् बंधस्वामित्वविचयके पश्चात् क्रमसे वर्णन किये गये हैं, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खंडोंका नाम **संतकम्म** या **सत्कर्मपाहुड** महाधिकार है।

किन्तु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौवीस अनुयोगद्वारोंसे जीवट्ठाणके थोडेसे भागको छोडकर शेष समस्त षट्खंडागमकी उत्पत्ति हुई है। अतः जयधवलाके उल्लेखपरसे इस समस्त ग्रंथका नाम भी **सत्कर्म** महाधिकार सिद्ध होता है। इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ग्रंथके दो उल्लेखोंसे अच्छी तरह हो जाती है। पृ. २१७ पर कषायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उपदेशमें मतभेदका उल्लेख किया गया है। यथा—

'एसो **संतकम्म-पाहुड**-उवएसो। **कसायपाहुड**-उवएसो पुण.......'

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शंका की गई कि इनमेंसे एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह संभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किन्तु आचार्योंके वचन हैं। इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कषायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि, उनमें तीर्थंकरद्वारा कथित, गणधरद्वारा रचित तथा आचार्यपरंपरासे आगत अर्थका ही ग्रंथन किया गया है। यथा—

'आइरियकहियाणं **संतकम्म-कसाय-पाहुडाणं** कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण....... (पृ. २२१)

यहां स्पष्टतः कषाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खंडागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वोंकी रचनामें उक्त चौवीस अनुयोग-

द्वारोंका नाम **महाकर्मप्रकृतिपाहुड** है। उसीका धरसेन गुरुने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्ठाणके अन्त व खुद्दाबंधके आदिकी एक गाथासे प्रकट होता है---

जयउ **धरसेणणाहो** जेण **महाकम्मपयडिपाहुडसेलो**।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ।। (धवला अ. ४७५)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएं एक ही अर्थकी द्योतक हैं। अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त **षट्खंडागमका** नाम **सत्कर्मप्राभृत** है। और चूंकि इसका बहुभाग धवला टीकामें ग्रथित है, अतः समस्त **धवलाको भी सत्कर्मप्राभृत** कहना अनुचित नहीं। उसी प्रकार महाबंध या निबंधनादि अठारह अधिकार भी इसीके एक खंड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं। और जिस प्रकार खंड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदनाखंडमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बंधनके प्रथम भेद बंधका वर्गणाखंडमें अन्तर्भाव कर लिया गया है, उसी प्रकार निबन्धनादि अठारह अधिकारोंका महाबंध नामक खंडमें अंतर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे महाधवलान्तर्गत उक्त पंचिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है।

सत्कर्मप्राभृत षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवलाकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यतः दो विभाग हैं। प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवट्ठाण, खुद्दाबंध व बंध-स्वामित्वविचय हैं। इनका मंगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही बार जीवट्ठाणके आदिमें किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या बंधककी मुख्यतासे है। **जीवट्ठाणमें** गुणस्थान और मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या आदि रूपसे जीवतत्वका विचार किया गया है। **खुद्दाबंधमें** सामान्यकी अपेक्षा बंधक, और **बंधस्वामित्वविचयमें** विशेषकी अपेक्षा बंधकका विवरण है।

दूसरे विभागके आदिमें पुनः मंगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थतः कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारोंका क्रमशः वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमें प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओंका विवरण होनेसे उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। इन चौबीसोंमेंसे द्वितीय अधिकार **वेदना**का विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खंड खडा हो गया। बंधनके तीसरे भेद बंधनीयमें वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्वके कारण **वर्गणा** नामका पांचवां खंड हो गया। इसी बंधनके चौथे भेद बंधविधानके खूब विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका **महाबंध नामक छठवां खंड** बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हींके आजूबाजूकी वस्तु रह गये।

धवलाकी रचनाके पश्चात् उसके सबसे बड़े पारगामी विद्वान् नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन दो ही विभागोंको ध्यानमें रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्डकी रचना की, ऐसा प्रतीत

होता है । तथा उसके छहों खंडोंका ख्याल करके उन्होंने गर्वके साथ कहा है कि 'जिस प्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा छह खंड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमें कर लेता है, उसी प्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया '—

> जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।
> तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥ गो. क.

इससे आचार्य नेमिचंद्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका अभिमान था और तभीसे उत्कृष्ट सिद्धान्तके ज्ञाताको इस पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पडी । जो इसके केवल प्रथम तीन खंडोंमें पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पडता है, त्रैविद्यदेवका पद दिया जाता था । श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदवियोंसे अलंकृत पाये जाते हैं । इन उपाधियोंने वीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य और महावाचककी पदवियोंका सर्वथा स्थान ले लिया । किंतु थोडे ही कालमें गोम्मटसारने इन सिद्धान्तोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया । आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुनः सुअवसर मिल रहा है ।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बंध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वाणीसे माना जाता है । शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न भिन्न हो गया । द्वादशांग श्रुतका प्रस्तुत ग्रंथमें विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ. ९१ से)। इनमेंसे बारहवें अंगको छोडकर शेष सब ही नामोंके अंग-ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अब भी पाये जाते हैं । इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यताके कहांतक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खंडमें किया जायगा, यहां केवल यह बात ज्ञान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्वेताम्बर साहित्यमें हैं वे दिगम्बर साहित्यमें नहीं हैं और जिस बारहवें अंगका श्वेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्गमस्थान है ।

षट्खंडागमका द्वादशांगसे सम्बंध

बारहवें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं । इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेदोंमेंके द्वितीय आग्रायणीय पूर्वसे ही जीवट्ठाणका बहुभाग और शेष पांच खंड संपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद नीचेके वंशवृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा ।

१. बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका द्वितीय भेद

आग्रायणीय पूर्व.
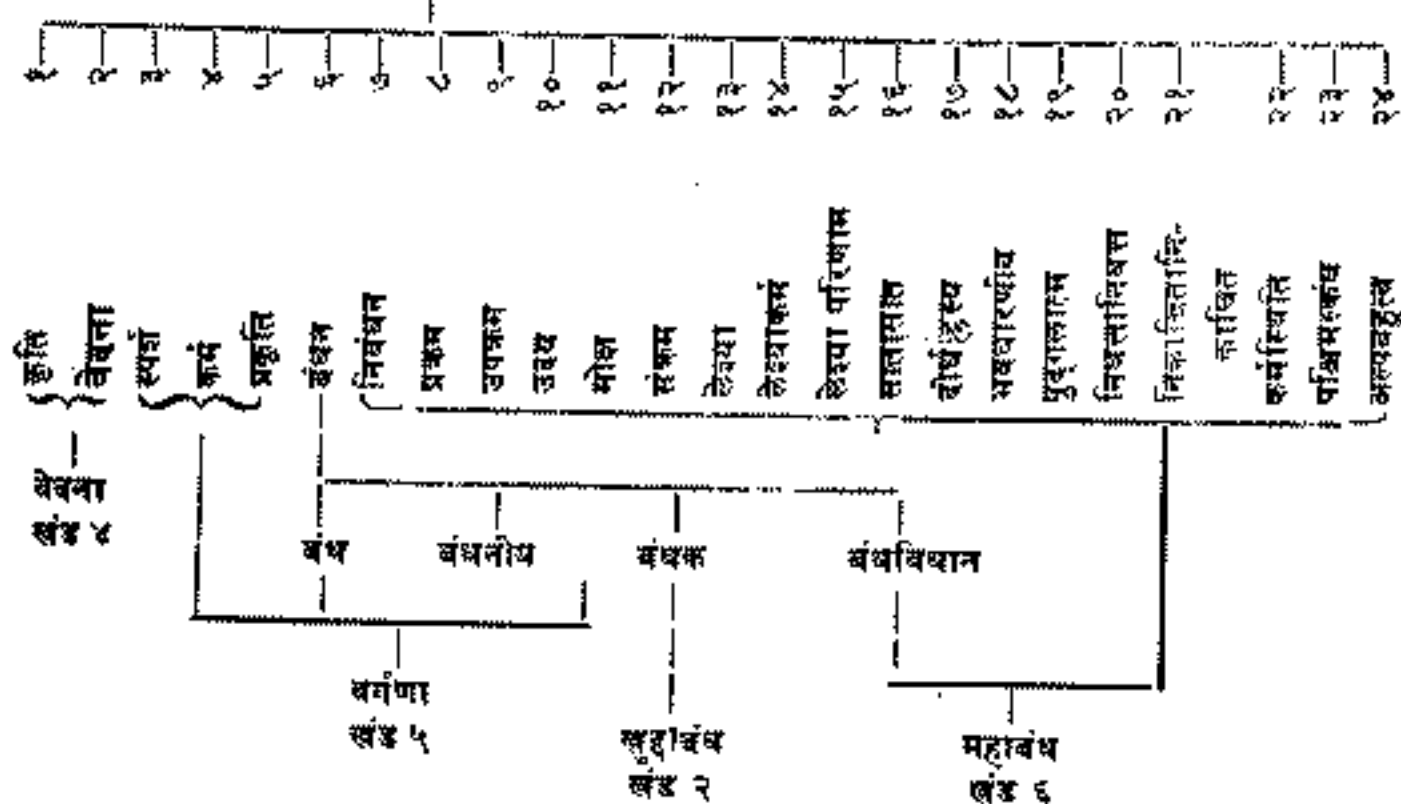
इस वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि आग्रायणीय पूर्वके चयनलब्धि अधिकारके चतुर्थ भेद कर्म प्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोगद्वारोंसे ही चार खंड निष्पन्न हुए हैं। इन्हींके बंधन अनुयोगद्वार के एकभेद बंधविधानसे जीवट्ठाण का बहुभाग और तीसरा खंड बंधस्वामित्वविचय किस प्रकार निकले यह आगेके वंश वृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।

बंधकके ११ अनुयोगद्वारोंमें पांचवा द्रव्यप्रमाणानुगम है। वही जीवट्ठाणकी संख्या प्ररूपणाका उद्गमस्थान है।

२ बंधविधान
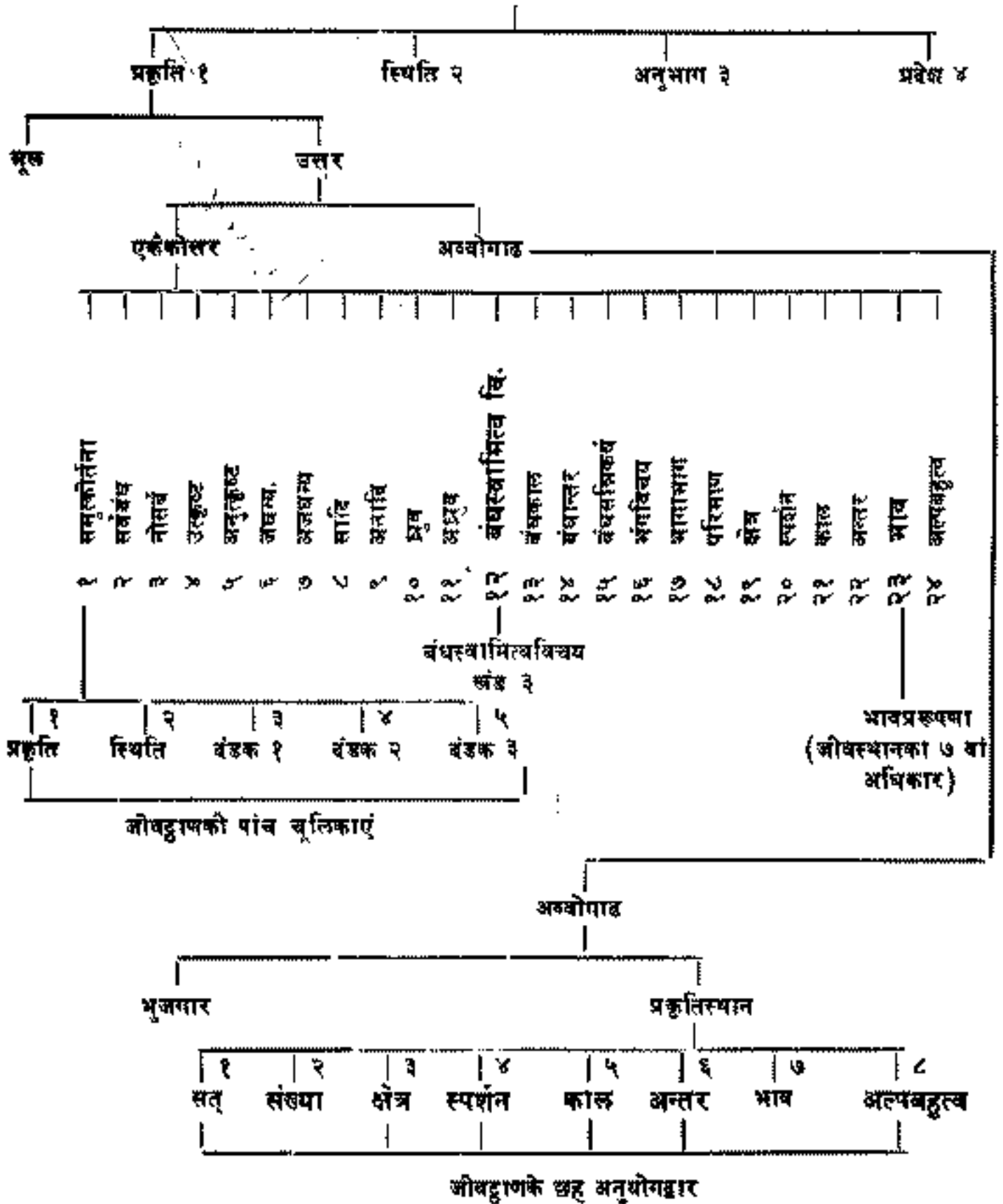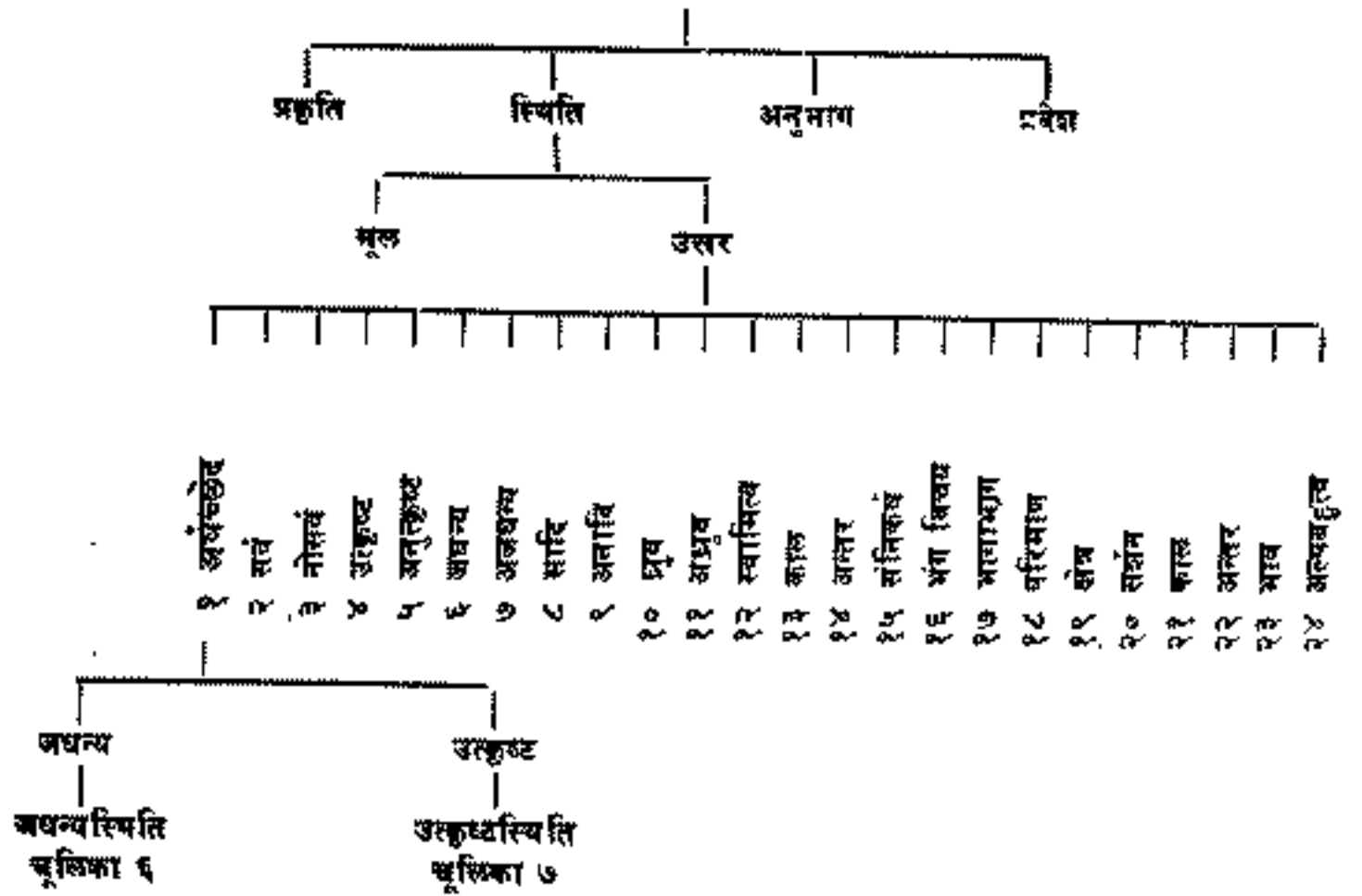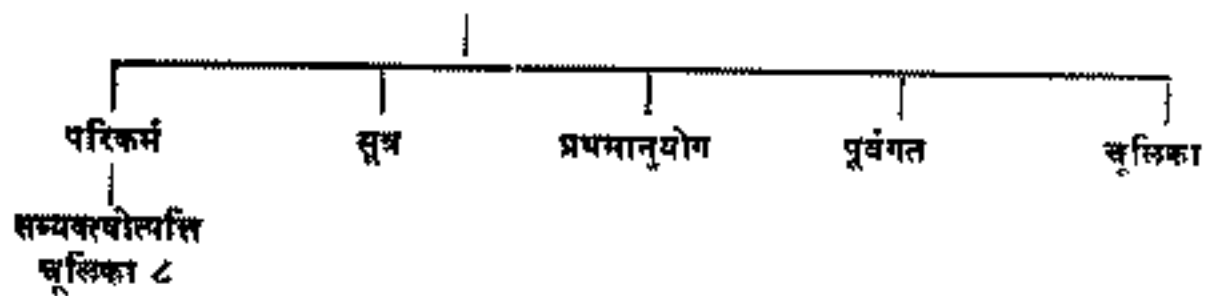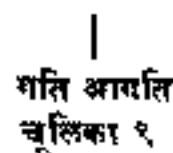
इन वंश–वृक्षोंसे षट्खंडागमका द्वादशांगश्रुतसे सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणीके साहित्यके विस्तारका भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जीवट्ठाणकी उत्थानिकामें कहा गया है कि धरसेन गुरुसे सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको आये और वहां उन्होंने 'विंशति' सूत्रोंकी रचना करके और उन्हें जिनपालितको पढ़ाकर भूतबलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चले गये थे, के पास भेजा। भूतबलिने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त षट्खंडागमकी सूत्र-रचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं। किंतु उन सूत्रोंकी संख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सत्तर है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाये हुए बीस सूत्र कहनेसे धवलाकारका तात्पर्य क्या है? धवलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर जो ओघालाप प्रकरण लिखा है वह बीस प्ररूपणाओंको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है। और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचंद्र सि. च. ने गोम्मटसार जीवकाण्डमें संगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएं गोम्मटसारके शब्दोंमें इस प्रकार हैं—

> गुणजीवा[1] पज्जत्ती[1] पाणा[1] सण्णा[1] य मग्गणाओ[14] य।
> उवओगो[1] वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं।

अतएव विंशति सूत्रसे इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य ज्ञात होता है। इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहां चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके भीतर आजाता है।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावोंको मोह कहते हैं और मन, वचन व कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके चंचल होनेको योग कहते हैं। इन्हीं मोह और योगके निमित्तसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणोंकी क्रमविकासरूप अवस्थाओंका **गुणस्थान** कहते हैं।

ऐसे गुणस्थान चौदह हैं– १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

१. मिथ्यात्व अवस्थामें जीव अज्ञानके वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्मका उदय है। सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टि के बीचकी अवस्थाएं हैं। चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरतका चारित्र थोड़ा सुधरता है, प्रमत्तविरतका चारित्र पूर्ण तो होता है, किंतु परिणामोंकी अपेक्षा अप्रमत्तविरतसे चारित्रकी क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशम हो जाता है और बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीयके क्षयसे उत्पन्न होता है। तेरहवें गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु योगोंका सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थानमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तथा योगोंका अभाव हो जानेसे मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्दका अर्थ खोज करना है। अतएव जिन जिन धर्मविशेषोंसे जीवोंकी खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषोंको **मार्गणा** कहते हैं। ऐसी मार्गणाएं चौदह हैं--गति, इन्द्रिय काय, योग, वेदकषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार।

१. **गति** चार प्रकारकी हैं– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव.

२. **इन्द्रियां** द्रव्य और भावरूप होती हैं और वे पांच प्रकारकी हैं– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र.

३. एकेन्द्रियसे पांच इन्द्रियों तककी शरीररचनाको **काय** कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४. आत्मप्रदेशोंकी चंचलताका नाम **योग** है इसीसे कर्मबंध होता है। योग तीन निमित्तोंसे होता है– मन, वचन और काय।

५. पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेषको **वेद** कहते हैं।

६. जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्रको कषे अर्थात् घात पहुंचावे वह **कषाय** है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७. मति, श्रुति [illegible] और कुअवधि रूपसे **ज्ञान** आठ प्रकारका होता है।

८. मन व इन्द्रियोंकी वृत्तिके निरोधका नाम **संयम** है और यह संयम हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिसे प्रकट होता है। सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम, ये संयमके सात भेद हैं।

९. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये **दर्शनके** चार भेद हैं।

१०. कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति व शरीरके वर्णोंका नाम **लेश्या** है। इसके छह भेद हैं–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११. जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रगट होते हैं उसे भव्यत्व कहते हैं। तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२. तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम **सम्यक्त्व** है, और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हो जाते हैं।

१३. मनके द्वारा शिक्षादिके ग्रहण करनेको संज्ञा कहते हैं और ऐसी संज्ञा जिसमें हो वह **संज्ञी** कहलाता है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होते हैं।

१४. औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले सत्प्ररूपणाके अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इस प्रकार है। प्रथम सूत्रमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नामनिर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वे सूत्रमें मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आवश्यकता बतलाई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (संख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वें सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम सत् प्ररूपणाका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमेंही ओघ और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वें सूत्रसे २३ वें सूत्रतक चला है। २४ वें सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्रतक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वें सूत्रतक है। यहांपर नरकादि चारों गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रियतक शुद्ध तिर्यंच होते हैं, संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे संयतासंयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असंयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं। प्रमत्तसंयतसे आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३ वें सूत्रसे ३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और फिर १०० वें सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणामें योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण किया गया है। तत्पश्चात् ११० वें सूत्रतक वेद, ११४ तक कषाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक संयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्या, १४३ तक भव्य, १७१ तक सम्यक्त्व, १७४ तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है।

प्रतियोंमें सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहां प्रथम मंगलाचरण व तीसरे सूत्र 'तं जहा' की पृथक गणना नहीं की। किन्तु टीकाकारने स्पष्टतः उनका सूत्ररूपसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मंगलाचरण सूत्रके व्याख्यानमें इस ग्रंथका मंगल, निमित्त, हेतु परिणाम, नाम और कर्ताका विस्तारसे विवेचन करके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें द्वादशांगका पूरा परिचय कराया है और उसमें द्वादशांग श्रुतसे जीवट्ठाणके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्रके व्याख्यानमें गति आदि चौदह मार्गणाओंके नामोंकी निरुक्ति और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषयका खूब विस्तार सहित न्यायशैलीसे विवेचन किया है। टीकाकारकी शैली सर्वत्र प्रश्न उठाकर उनका समाधान करनेकी रही है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथमें कोई छह सौ शंकाएं उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये हैं। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकारने विषयको खूब ही छाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये सब युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये है, आगमकी मर्यादाको लिए हुए हैं, और आगम ही यहां सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यात विषयकी गंभीरता, सूक्ष्मता और तुलनात्मक विवेचन हम अगले

खंडमें करेंगे जिसमें सत्प्ररूपणाका आलाप प्रकरण भी पूरा हो जावेगा। तबतक पाठक स्वयं सूत्रकार और टीकाकारके शब्दोंका स्वाध्याय और मनन करनेकी कृपा करें।

१२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बटा हुआ है। प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य। सूत्रोंकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी संख्या है १७७। वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग संस्कृतमें है। उद्धृत पद्योंकी संख्या २२१ है जिनमें १७ संस्कृतमें और शेष सब प्राकृतमें हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्यके सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था। किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमें संस्कृतका प्राधान्य हो गया और उनकी टीकामें जो संस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलताका द्यो[illegible] और संस्कृतका बढ़ा, यहांतक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है— **मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री** और **अपभ्रंश**।

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रांतमें प्रचलित थी वह **मागधी** कहलाती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझमें आ जाती हैं—

मागधी

१. **र** के स्थानमें **ल**, जैसे राजा—लाजा, नगर—णगल,

२. **श, ष** और **स**के स्थानपर **श**। जैसे, शम—शम, दासी—दाशी, मनुष—मनुश।

३. संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिंग रूपमें **ए**। जैसे देवः—देवे, नरः—णले,

उदाहरण—

अले कुंभीलआ! कहेहि, कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीलए अंगुलीअए शमाशादिए। (शकुंतला)

'अरे कुंभीलक! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुलीको पाया'।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत **अर्धमागधी** इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अब श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथोंमें पाया जाता है, इसीलिये डॉ. याकोबीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें 'ए' विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप 'ए' व 'म्मि' के अतिरिक्त 'अंसि' लगाकर भी बनाया जाता है।

अर्धमागधी

उदाहरण:-

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ (आचारांग)

क्रोधादि व मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोड़ डाला। इस प्रकार वीर वधसे विरत होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करें।

सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा। (आचारांग)
श्मशानमें या शून्यागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें (साधु निवास करे)

ये मागधीकी प्रवृत्तियां अर्धमागधीमें भी धीरे धीरे कम होती गई हैं।

प्राचीन शूरसेन अर्थात् मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम **शौरसेनी** है। वैयाकरणोंने इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है। प्रवचनसारादि कुंदकुंदाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमें हैं। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियोंकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसका वैयाकरणोंकी शौरसेनीसे पृथक् निर्देश करनेके हेतु उसे '**जैन शौरसेनी**' कहनेका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथकी प्राकृत मुख्यतः यही है।

शौरसेनी

शौरसेनीकी विशेषताएं ये हैं कि उसमें र का ल क्वचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थानपर स ही होता है, और कर्ताकारक पुल्लिंग एकवचनमें ओ होता है। इसकी अन्य विशेषताएं ये हैं कि शब्दोंके मध्यमें त के स्थानपर द, थ के स्थानपर ध, भ के स्थानपर कहीं कहीं ह और पूर्वकालिक कृदन्तके रूप संस्कृत प्रत्यय, त्वा के स्थानपर त्ता, इअ या दूण होता है। जैसे-

सुतः- सुदो; भवति-भोदि या होई; कथम्-कधं; कृत्वा-करित्ता, करिअ, करिदूण; आदि

उदाहरण-

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं राग-रहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ प्रवच. २, ८७.
णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ प्रवच. १, ६२.

अर्थात् आत्मा रागयुक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है । यह जीवोंका बंधसमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

घातिया कर्मोंसे रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं ।

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गउडवह आदि काव्योंमें पाया जाता है । संस्कृत नाटकोंमें जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पात्र बातचीत तो शौरसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमें हैं, ऐसा विद्वानोंका मत है । इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है । पउमचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और श्वेतांबर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है । पर यहां भी जैनियोंने इधर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है । जैन महाराष्ट्रीमें सप्तशती व सेतुबंध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्वित्वमें न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमें भी होता है । महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह द में परिवर्तित नहीं होता । उसी प्रकार थ यहां ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है । जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है । जैसे–

महाराष्ट्री

जानाति-जाणइ; कथम्-कहं; भूत्वा-होऊण; आदि ।

उदाहरणार्थ—

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरहो राया ।
पविसरइ नियम-नयरिं साएयं जण-धणाइण्णं ॥
(पउम. च. ३१, ३८, पृ. १३२.)

अर्थात् सब प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं ।

अपभ्रंश

क्रमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है; उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है। इस भाषापर भी जैनियों का प्राय: एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस भाषाका अभीतक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएँ थी उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकी, किसी समय संभवत: वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियोंके करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरिउ, सावयधम्म-दोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकाश न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रियां आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए हैं।

इस भाषाकी संज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्–पुत्तु; पुत्रेण–पुत्तें; पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य–पुत्तहु; पुत्रे–पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहि, आदि।

क्रियामें, करोमि–करउं; कुर्वन्ति–करहिं; कुरुथ–करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किंतु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकबंदी इन शब्दोंकी एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशका उदाहरण—

> सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु।
> धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु॥

सावयधम्मदोहा॥ ४॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख धर्मके आधीन है। रे जीव! वह धर्म कर जो अरहंतका कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यंजनसम्बंधी कुछ विलक्षणताएं सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं। जैसे, स्वरोंमें ऐ और औ, ऋ और ऌ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमश: अइ, अउ, अथवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश; मध्यवर्ती

व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ङ, ञ् आदि सबके स्थानपर हलन्त अवस्थामें अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामें ण में परिवर्तन। ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुंच गये और वहांसे फिर भाषाके रूपमें परिवर्तन हो चला।

इन सब प्राकृतोंमें **प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका** ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त **धवल सिद्धान्त** अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है। तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा। सो भी उपलभ्य एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पांचवीं छठवीं पीढ़ीकी प्रतियोंपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका। ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है। तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा।

१. प्रस्तुत ग्रंथमें **त** बहुधा **द** में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, **सूत्रोंमें**—गदि–गति; चदु–चतुः; वीदराग–वीतराग; मदि–मति, आदि। **गाथाओंमें**—पव्वद–पर्वत; अदीद-अतीत; तदिय-तृतीय, आदि। **टीकामें**—अवदारो-अवतारः; एदे-एते; पदिद-पतित; चिंतिदं-चिंतितम्; संठिदं-संस्थितम्; गोदम-गौतम, आदि।

किन्तु अनेक स्थानोंपर **त** का लोप भी पाया जाता है, यथा—**सूत्रोंमें**—गइ-गति; चउ–चतुः; वीयराय-वीतराग; जोइसिय-ज्योतिष्क; आदि। **गाथाओंमें**—हेऊ-हेतुः; पयई-प्रकृतिः, आदि। **टीकामें**—सम्मइ–सम्मति; चउव्विह–चतुर्विध; सव्वघाइ–सर्वघाति; आदि।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतः **ति** या **ते** के स्थानपर **दि** या **दे** पाये जाते हैं। जैसे, (**सूत्रोंमें अत्थि** के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है) **गाथाओंमें**—णयदि-नयति; छिज्जदे-छिद्यते; जाणदि-जानाति; लिंपदि-लिम्पति; रोचेदि-रोचते; सद्दहदि-श्रद्दधाति; कुणदि–करोति; आदि। **टीकामें**—कीरदे, कीरदि-क्रियते; खिवदि-क्षिपति; उच्चदि-उच्यते; जाणदि–जानाति; परूवेदि-प्ररूपयति; वददि–वदति; विरुज्झदे-विरुध्यते; आदि।

किन्तु **त** का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा—**गाथाओंमें**—होइ, हवइ–भवति; कहेइ–कथयति; वक्खाणइ–व्याख्याति; भमइ–भ्रमति; भण्णइ–भण्यते, आदि। **टीकामें**—कुणइ–करोति; वण्णेइ–वर्णयति; आदि।

२. क्रियाओंके पूर्वकालिक रूपोंके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं— **इय**— छड्डिय–त्यक्त्वा। **दु**—कट्टु-कृत्वा। **अ**—अहिगम्म-अधिगम्य। **दूण**—अस्सिदूण-आश्रित्य। **ऊण**—अस्सिऊण,

बद्धूण, मोत्तूण, दाऊण, चिंतिऊण, आदि ।

३. मध्यवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते है । यथा—सूत्रोंमें-वेदग—वैदक । गाथामें—एगदेस-एकदेश, टीकामें—एगत्त-एकत्व ; बंधग-बन्धक ; अप्पाबहुग—अल्पबहुत्व ; आगास-आकाश ; जाणुग-ज्ञायक ; आदि ।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है । यथा— सूत्रोंमें—सांपराइय-साम्परायिक ; एइंदिय-एकेन्द्रिय ; सामाइय-सामायिक ; काइय-कायिक । गाथाओंमें—तित्थयर—तीर्थंकर ; [illegible] समाइण्ण-समाकीर्ण ; अहियार-अधिकार । टीकामें—एय-एक ; परियम्म-परिकर्म ; किदियम्म-कृतिकर्म ; वायरण-व्याकरण ; भडारएण-भट्टारकेण, आदि ।

४. मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द और प के लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कुछके लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं । यथा—ग—संजोग-संयोग ; संजोग-संयोग ; चाग-त्याग ; जुग-युग ; आदि । त— वितीद-व्यतीत । द—छदुमत्थ-छद्मस्थ बादर-बादर ; जुगादि-युगादि ; अणुवाद-अनुवाद ; वेद, उदार, आदि ।

५. ख और थ के स्थानमें प्राय: ह पाया जाता है, किंतु कहीं कहीं थ के स्थानमें ध और ध के स्थानमें ध ही पाया जाता है । यथा—पुध-पृथक् ; कधं-कथम् ; ओधि-अवधि ; (सू. १३१) सोधम्म-सौधर्म (सू. १६९) ; साधारण (सू. ४१) ; कदिविधो-कतिविधः ; (गा. १८) आधार (टी. १९)

६. संज्ञाओंके पंचमी-एकवचनके रूपमें सूत्रोंमें व गाथाओंमें आ तथा टीकामें बहुतायतसे दो पाया जाता है । यथा— सूत्रोंमें—णियमा-नियमात् । गाथाओंमें—मोहा-मोहात् । तम्हा-तस्मात् । टीकामें—णाणादो, पढमादो, केवलादो, विदियादो, खेत्तदो, कालदो, आदि ।

संज्ञाओंके सप्तमी-एकवचनके रूपमें म्मि और म्हि दोनों पाये जाते हैं । यथा—सूत्रोंमें—एकम्मि (३६, ४३, १२९, १४८, १४९) आदि । एक्कम्हि (६३, १२७) । गाथाओंमें—एक्कम्मि, लोयम्मि, पक्खम्हि, मदम्हि, आदि । टीकामें—वत्थुम्मि, चइदम्हि, जम्हि, आदि ।

दो गाथाओंमें कर्ताकारक एकवचनकी विभक्ति उ भी पाई जाती है । जैसे थावरु (१३५) एक्कु (१४६) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षणका शक ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है ।

७. जहां मध्यवर्ती व्यंजनका लोप हुआ है वहां यदि संयोगी शेष स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है । जैसे—तित्थयर-तीर्थंकर ; पयत्थ-पदार्थ ; वेयणा-वेदना ; गय-गत ; गज ; विमग्गया-विमार्गगाः, आहारया-आहारकाः, आदि ।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् ऊ व ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें य श्रुति पाई गई है । किन्तु हेमचन्द्रके नियमका[1] तथा जैन शौरसेनीके अन्यत्र प्रयोगोंका[2]

विचार करके नियमके लिये इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रंथमें प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी । (देखो ऊपर पाठसंशोधनके नियम पृ. १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे—वालुवा-वालुका; बहुवं-बहुकं; विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पज्जव' में बिना उ के सामीप्यके भी नियमसे व श्रुति पाई जाती है।

८. वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण पाये जाते हैं सूत्रोंमें-- अड्डाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५); आउ-अप् (३९) इड्डि-ऋद्धि (५९) ओधि, ओहि-अवधि (११५, १३१); ओरालिय-औदारिक (५६); छदुमत्थ-छद्मस्थ (१३२); तेउ-तेजस (३९); पज्जव-पर्याय (११५); मोस-मृषा (४९); वेंतर-व्यन्तर (९६); णेरइय-नारक, नारकी (२५); गाथाओंमें— इक्खय-इक्ष्वाकु (५०); उराल-उदार (१६०); इंगाल-अंगार (१५१); खेत्तण्हू-क्षेत्रज्ञ (५२); चाग-त्याग (९२); फड्डय-स्पर्धक (१२१); सस्सेदिम-संस्वेदज (१३९)।

गाथाओंमें आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—कायोली-बीवध (८८); घुम्मंत-भ्रमत् (६३); चोक्खो-शुद्ध (२०७); णिमेण-आधार (७); भेज्ज-भीरु; (२०१); मेर-मात्रा, मर्यादा (९०).

टीकाके कुछ देशी शब्द--अल्लियइ-उपसर्पति (२२०); चडविय-आरूढ (२२१); छड्डिय त्यक्त्वा (२११); णिसुढिय-नत (६८); वोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोडेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते है। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि, उसमें न तो अनिवार्य रूपसे, और न विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकवचन वर्तमान कालमें दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओंके रूपमें त्तु व दूण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति म्हि, क के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर ध आदेश, तथा द और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोंमें इ, पूर्व कालिक क्रियाके रूपमें ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभीमें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भी संस्कार पड़ा है। ऐसी ही भाषाको पिशेल आदि पाश्चमिक विद्वानोंने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

---

१ अवर्णो य श्रुतिः (८, १, १८०,) टीका—क्वचिद् भवति, पियइ ॥ १८० ॥

२ डॉ उपाध्ये; प्रवचनसारकी भूमिका, पृ. ११५

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है। यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्ष प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और

जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं० २०३ लीजिये जो यहां इस प्रकार पाई जाती है—

रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो॥

इसी गाथाने **गोम्मटसार** (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो॥

यहांकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इस प्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें शौरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहां '**लभइ बहुअं हि**' है वहां गो. जी. ५१६ में '**लभदि बहुगं पि**' पाया जाता है। गाथा २१० में यहां '**एग-णिगोय**' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह '**एग-णिगोद**' है। ऐसे स्थलोंपर गोम्मटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित
प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित
प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयतः कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, महावरेदार और विषयके अनुसार संस्कृतकी तर्कशैलीसे प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंको या स्फुट छोटी मोटी खंड रचनाओंको छोडकर दिगम्बर साहित्यमें अभीतक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्यका बहुत बडा भाग आगे प्रकाशित होनेवाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता आयगा त्यों त्यों इस प्राकृतके स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

इसी कारण ग्रंथकी संस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमार्जित और न्यायशास्त्रके ग्रंथोंके अनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन के नियमोंमें कह

आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथमें **अरिहंत:** शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहननात् अरिहंत: आदि की गई है। संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। **अर्ह्** धातुसे बना **अर्हत्** होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमशः **अर्हन्** और **अर्हन्तः** होते हैं। यदि **अरि+हन्** से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो **अरिहन्तृ** होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप **अरिहन्ता** और **अरिहन्तारः** होना चाहिये। चूंकि यहां व्युत्पत्तिमें **अरिहननात्** कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्तः शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथमें **अरिहन्ता** कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृतमें **अरिहन्तः** जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम **हन्** धातुसे बना हुआ '**अरिहा**' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के '**मघवा बहुलम्**' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलावें तो बहुवचनमें अरिहन्तः हो सकता

है। संस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द **अर्हत्** के प्राकृत रूप **अरहंत, अरिहंत, अरुहंत** परसे ही संस्कृतमें रूढ़ हो गया हो। विद्वानोंका मत है कि **गोविन्द** शब्द संस्कृतके **गोपेन्द्र** का प्राकृत रूप है[१]। किन्तु पीछे से संस्कृतमें भी वह रूढ़ हो गया और उसीकी व्युत्पत्ति संस्कृतमें दी जाने लगी। उस अवस्थामें अरिहन्तः शब्द अकारान्त जैन संस्कृतमें रूढ़ माना जा सकता है। वैयाकरणोंको इसका विचार करना चाहिये।

उपसंहार.

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके वचनोंकी उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतमने **द्वादशांग श्रुत**के रूपमें ग्रंथ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए **धरसेनाचार्य**तक आया। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादके अन्तर्गत **पूर्वों**के तथा पांचवें अंग **व्याख्याप्रज्ञप्ति**के कुछ अंशोंको **पुष्पदन्त** और **भूतबलि** आचार्योंको पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी छह हजार सूत्रोंमें रचना की। इसीकी प्रसिद्धि **षट्खंडागम** नामसे हुई। इसकी टीकाएं क्रमशः **कुन्दकुन्द, शामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र** और **बप्पदेव**ने बनाईं, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएं अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार **वीरसेनाचार्य** हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका **धवला**की रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठवां खंड **महाबंध** है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे की थी। अतएव पंचिकादिकको छोड़ उसपर विशेष टीकाएं नहीं रची गईं। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि **महाधवल**के नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आचार्य **गुणधर** हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने **कषायप्राभृत**की रचना की। इसका **आर्यमंक्षु** और **नागहस्ति**ने व्याख्यान किया और **यतिवृषभ आचार्य**ने चूर्णिसूत्र रचे। इसपर भी **वीरसेनाचार्य**ने टीका

१ Keith: History of Sans. Lit., p. 24.

लिखी। किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीकाका नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथोंकी केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्रपर शेष रही थी जो सैकड़ों वर्षोंसे मूडबिद्रीके भंडारमें बन्द थी। गत २०।२५ वर्षोंमें उनमेंसे धवला व जयधवलाकी प्रतिलिपियां किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं। महाबंध या महाधवल अब भी दुष्प्राप्य है। उनमेंसे धवलाके प्रथम अंशका अब प्रकाशन हो रहा है। इस अंशमें द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात् जीवसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है। सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है। टीकामें जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्योंके पद्य २२१ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं. टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें और शेष संस्कृतमें है। यह सब प्राकृत प्रायः वही शौरसेनी है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्योंके ग्रंथ रचे पाये जाते हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनोंकी शैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और प्रौढ़ है।

टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रंथोंकी

संकेत-सूची

संकेत	ग्रंथ नाम
१ अनु. सू.	अनुयोगद्वारसूत्र
२ अभि. रा. को.	अभिधानराजेन्द्रकोष
३ अलं. चि.	अलङ्कारचिन्तामणि
४ अष्टश.	अष्टशती
५ अष्टस.	अष्टसहस्री
६ आचा. नि.	आचाराङ्ग-निर्युक्ति
७ आ. नि.	आवश्यक-निर्युक्ति
८ आ. प.	आलापपद्धति
९ आ. पु.	आदिपुराण
१० आ. मी.	आप्तमीमांसा
११ इन्द्र. श्रुता.	इन्द्रनन्दिश्रुतावतार
१२ उत्त.	उत्तराध्ययन
१३ औप. सू.	औपपातिकसूत्र
१४ क. ग्रं.	कर्मग्रंथ
१५ क. प्र.	कर्मप्रकृति
१६ क. प्र. य. उ. टी.	कर्मप्रकृति यशोविजय उपाध्यायकृत वि. टी.
१७ कसायपाहुडचुण्णि	(लिखित)
१८ गुण. क्र. प्र.	गुणस्थान-क्रमारोह-प्रकरण
१९ गो. क.	गोम्मटसार कर्मकांड
२० गो. जी.	,, जीवकांड
२१ गो. जी. जी. प्र., टी.	गोम्मटसार जीवकांड जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका.
२२ गो. जी., मं. प्र., टी.	गो० जी० मंदप्रबोधिनी टीका.
२३ जयध.	जयधवला (लिखित)
२४ जी. द. सू.	जीवट्ठाण दव्वाणिओगद्दार सुत्त
२५ जी. वि. प्र.	जीवविचारप्रकरण
२६ जी. सं. सू.	जीवट्ठाण संतपरूवणा
२७ ज्यो. क.	ज्योतिष्करण्डक सटीक
२८ णाया सु.	णायाधम्मकहासुत्त
२९ तत्त्वार्थ भा.	तत्त्वार्थभाष्य (श्वे.)
३० त. रा. वा.	तत्त्वार्थराजवार्तिक
३१ त. श्लो. वा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
३२ त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र
३३ ति. प.	तिलोयपण्णत्ति
३४ द. भ.	दशभक्ति
३५ द. वै.	दशवैकालिक
३६ देशीना.	देशीनाममाला
३७ द्र. सं. वृ.	द्रव्यसंग्रहवृत्ति
३८ धवला.	धवला (लिखित)
३९ न. च.	नयचक्र
४० न्या. कु. च.	न्यायकुमुदचन्द्र
४१ नं. सू.	नन्दिसूत्र
४२ पञ्चसं.	पञ्चसंग्रह (दि.)
४३ पञ्चा.	पञ्चास्तिकाय
४४ पञ्चाध्या.	पञ्चाध्यायी
४५ पञ्चा. वि.	पञ्चाशक सटीक वि.
४६ प. मु.	परीक्षामुख
४७ पा. उ.	पाणिनि उणादि
४८ पात. महाभा.	पातञ्जल महाभाष्य
४९ पु. सि.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
५० पं. सं.	पंचसंग्रह (श्वे.)
५१ प्र. क. मा.	प्रमेयकमलमार्तंड
५२ प्रज्ञा. सू.	प्रज्ञापना सूत्र
५३ प्रमाणनय.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

संकेत	ग्रंथ नाम
५४ प्रमाणमी.	प्रमाणमीमांसा (श्वे.)
५५ प्रवच.	प्रवचनसार
५६ प्र. सा. पू.	प्रवचनसारोद्धार पूर्वार्ध
५७ बा. अ.	बारस अणुवेक्खा
५८ बृ. क. सू.	बृहत्कल्पसूत्र
५९ बृ. स्व. स्तो.	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
६० ब्र. श्रु.	ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कंध
६१ भग. गी.	भगवद्गीता
६२ भग. सू.	भगवती सूत्र
६३ मू.	मूलप्रथम आवृत्ति
६४ मूलाचा.	मूलाचार
६५ मूलारा.	मूलाराधना (भगवती आराधना)
६६ रत्नक.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
६७ ल. क्ष.	लब्धिसार क्षपणासार
६८ लघीय.	लघीयस्त्रय
६९ ,, स्वो. वृ. लि.	,, स्वोपज्ञवृत्ति लिखित
७० लो. प्र.	लोकप्रकाश
७१ वि. भा.	विशेषावश्यक भाष्य
७२ स. त.	सन्मतितर्क
७३ स. त. टी.	सन्मतितर्क टीका
७४ स. त. सू.	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम-सूत्र
७५ स. सि.	सर्वार्थसिद्धि
७६ सम. सू.	समावायाङ्गसूत्र
७७ स्था. सू.	स्थानाङ्गसूत्र
७८ ह. पु.	हरिवंशपुराण

सत्प्ररूपणाकी

विषय-सूची

३

विषयकी उत्थानिका १३३–१६०

४

सत्प्ररूपणा १६०–४१०

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन-नाम-सुगुरुः श्रीजैन-सिद्धान्त-सद्-
वार्द्धिर्भूधर-पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रय-हिताः स्वर्गामरैरर्चिताः
कुर्युर्मे जिनधर्म-कर्मणि मतिं स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारक-पृथु-प्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादि-वृन्दारको मुनिः ॥ ३

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।
धवलीकृत-निःशेष-भुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धान्तं कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाक् ।
सोऽनाद्यनन्त-सन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ ६ ॥

---

१ श्रवणबेलगोल शिलालेख. नं. ३९ आदि । २ ब्रम्ह. नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष. पृ. ३५९ ।
३–४ संस्कृत महापुराण उत्थानिका । ५–६ जयधवलान्तर्गत ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सिरि-भगवंत-पुप्फदंत-भूदबलि-पणीदो

छक्खंडागमो

जीवट्ठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं ।
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध हैं, अनन्तस्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार करो। अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-शत्रुओंके जीतनेसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो।

१ अप्पुत्थ (मू. प्र.)

विशेषार्थ— ग्रंथ प्रारंभ 'सिद्ध'[1] इस पदसे करनेका प्रयोजन यह सूचित होता है कि प्रारंभमें स-कार का प्रयोग सुखदायक माना जाता है। 'सहो सुखदाहदो' (अलंकार चिंतामणि १।४९) सकार सुखदायक होता है, तथा हकार सुखदायक होता है।

'सिद्ध' शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योंको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निके द्वारा भस्म कर दिया है ऐसे कर्म-प्रपंच-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अरहंत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे जो अनादि कालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं, ऐसे सदाशिव और सांख्य मतका निराकरण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुंच चुके हैं, और वहांसे लौट कर कभी नही आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकरण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु 'संराधन' के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकाश हो गया है। इस व्याख्यासे जो मानते हैं कि, 'जिसप्रकार दीपक बुझ जाने पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर जाता है किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है, उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर, और न किसी विदिशाकी ओर ही जाता है। किंतु स्नेह अर्थात् रागपरिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है'* उस बौद्धमतका निरसन हो जाता है।

अनन्त[2]— जिसका अन्त अर्थात् विनाश नही है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा 'अन्त' शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त

---

१ आदौ सकार-प्रयोगः सुखदः। तथा च 'सहो सुखदाहदो'। अलं. चि. १, ४९. 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्ध-शब्दं आदितः प्रयुङ्क्ते' पात. महा.भा. पृ. ५७. सितं बद्धमष्ट-प्रकारं कर्मेन्धनं ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमान-शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धाः। अथवा, 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन्। अथवा, 'षिधु संराद्धौ' इति वचनात् सेधन्ति सिध्यन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म। अथवा, 'षिधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये च' इति वचनात् सेधन्ति स्म शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्म इति सिद्धाः। अथवा, सिद्धाः नित्याः अपर्यवसान-स्थितिकत्वात्। प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात्। आह च, —

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृति-सौध-मूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे॥ भग. सू. १, १, १, (टीका)।

* धवला, अ. पृ. ४७४.

२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः निरन्वयविनाशेनाविनश्यमानः। नास्यान्तः सीमास्त्यनन्तः केवलात्मतोऽनन्तत्वात्। अनन्तार्थ-विषयत्वाद्वाऽनन्तः अनन्तार्थ-विषय-ज्ञान-स्वरूपत्वात्। अनन्त-कर्मांश-जयनादनन्तः। अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः। अभि. रा. कोष.

पदार्थोंको जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अंशोंको जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय[१]— जिसके इन्द्रियां न हों, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियां अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशामें पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अरहंत परमात्मा छद्मस्थ दशाको उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्माओंके भाव-मन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकी तेरहवें गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अथवा, 'अणिंदिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिंदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं। निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावें, जिसका आचरण दूसरोंके लिये अहितकर हो। परंतु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण उनके स्वरूपको जाननेवाला कोई भी उसकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

अनुपम[२]— प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उनके स्वरूप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोडी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय हैं। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके स्वरूपको तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

१ 'न य विज्जइ तग्गहणे लिंगं पि अणिंदियत्तणओ'। पा. स. म. कोष अणिंदिय।

२ लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते। उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम्।

जयध. अ. पृ. १२४९.

आत्मस्थसुख – सुख जीवका सहजसिद्ध स्वाभाविक गुण होनेसे आत्मामें सर्वदा विद्यमान है। कर्मोके अभावमें वह स्वाभाविक गुण प्रगट होता है। इसलिये भगवान परमात्मा आत्मस्थ सुखस्वरूप है। इंद्रियजन्य सुख–दुःख आत्माके सुखगुणकी ही विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि नष्ट होनेपर वह आत्मस्थ सुखगुण आत्मासेही उत्पन्न (प्रगट) होता है।

जिस आत्मस्थगुणके द्वारा आत्मा, शान्ति संतोष या आनन्दका चिरकालतक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुस्वादु भोजनके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूंघनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तवनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परंतु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। दैववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब [illegible] करनेके पर भी [illegible] हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही सैकड़ों बाधाएं उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देखा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आरम्भादि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मस्थ, अनन्त सुख सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

---

१ अइसयमाद-समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥ प्रवच. १,१३. सपरं बाधा-सहियं विच्छिण्णं बंध-कारणं विसमं। जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ प्रवच. १, ७६. कर्म-पर-वशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पाप-बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥ रत्नक. १, १२.

अनवद्य—अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिक-विकाशको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि-मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यों त्यों उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती हैं। यहां तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारने अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर[1]—अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टि-भेदको ही दुर्नय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षग्राही रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमें जाननेवाले अन्धे ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि-भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहीं है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ है। और वह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नहीं करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अन्धकारके समान है। मंगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्नय-तिमिर' संज्ञा दी है। इसे सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा एक भी सम्यक् दृष्टि-भेद नहीं है, जिसका समन्वय नहीं होता है, अर्थात्, उसमें सभी सम्यक् दृष्टिभेदोंका समन्वय हो जाता है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने वे सर्वथा एकान्त दृष्टियां नहीं ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीको 'केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन[2]—मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके वशमें होकर ही यह जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ संसारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है, 'पर' क्या है, 'हित' क्या है, 'अहित' क्या है, इसका बोध करके आत्म-कल्याणकी ओर इसकी प्रवृत्ति

---

१. जह एए तह अन्ने पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे। स. त. १, १५. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आ. मी. १०८. तदनेकान्त-प्रतिपत्तिः प्रमाणम्। एक-धर्म-प्रतिपत्तिर्नयः। तत्प्रत्यनीक-प्रतिक्षेपो दुर्णयः। केवल-विपक्ष-विरोध-दर्शनेन स्व-पक्षाभिनिवेशात्। अष्टश. का. १०६. अर्थस्यानेकरूपस्य धीःप्रमाणं तदंशधीः, नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥ अष्टस. पृ. ९०.

---

२. सकलात्म-प्रदेश-निविड-निबद्ध-घाति-कर्म-मेघ-पटल-विघटन-प्रकटीभूतानन्त-ज्ञानादि-नव-केवल-लब्धित्वात् जिनः। गो. जी., जी.प्र.टी., गा. १. अनेक-विषम-भव-गहन-दुःख-प्रापण-हेतून् कर्मारातीन् जयन्ति निर्जरयन्तीति जिनाः। गो. जी., मं. प्र. टी., गा. १.

बारह-अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥
सयल-गण-पउम-रविणो विविहिद्धि-विराइया वि णिस्संगा ।
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥

होने लगती है; परिणामोंमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-प्राप्त अधिकारोंको छीननेसे ग्लानि करने लगता है ; उसके पहिले बांधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है ; सांसारिक कार्योंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावतः अरुचिका अनुभव होने लगता है ; तब कहीं समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सन्मुख हो रहा है । फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके विना नहीं; क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेका सामर्थ्य है । इसतरह जब यह जीव अधःकरणरूप परिणामोंको उल्लंघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिये । यहीं से जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते हैं , इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है । इसके आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे ' जिन ' संज्ञाको प्राप्त होता है, सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित है, इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी कर्मशत्रुओंके जीतनेसे साक्षात् जिन है, ऐसा समझना चाहिये ।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अनन्त आदि विशेषणोंसे युक्त अरहंत और सिद्ध दोनों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध बारह अंगोंसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगोंका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अतीचार) और तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन-रूप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये; अथवा, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान हैं, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान होने पर भी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो वीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होवें ॥ ३ ॥

पसियउ मह धरसेणो पर-वाइ-गओह[1]-दाण-वर-सीहो ।
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥
पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं ।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥
पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं ।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-बम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— इस मंगलरूप गाथामें 'विविहिद्धिविराइया वि णिस्संगा' तथा 'णीराया वि कुराया' इन दो पदोंमें विरोधाभास अलंकार है। जो नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान हैं वे संग अर्थात् परिग्रहरहित कैसा हो सकते हैं। उसी प्रकार जो नीराग अर्थात् वीतराग है उनके कुत्सित अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है ? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिए कि गणधरदेव 'विविहिद्धिविराइया वि' अर्थात् बल, बुद्धि आदि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त होने पर भी 'णिस्संगा' अर्थात् सब प्रकारके अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे तथा ऋद्धियोंके उपयोगसे रहित होते हैं। उसी प्रकार वे 'णीराया वि' अर्थात् वीतराग होने पर भी 'कुराया' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। अथवा, वीतराग होने पर भी अभी पृथ्वीमण्डलपर विराजमान है, मोक्षको नहीं गये हैं ॥ ३ ॥

जो परवादीरूपी हाथियोंके मदको आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदोन्मत्त भी हाथी नहीं ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खड़ा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिद्धान्तरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है, अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विवेकको प्राप्त कर लिया हैं, ऐसे श्री धरसेन आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कंटकोंको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं (वीरसेन) प्रणाम करता हूं ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा भूत-नामक व्यन्तर-जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत-सुन्दर बालोंसे बलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल-ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

---

१ मु. गओह

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं[1] ।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ ॥ १ ॥

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं[2] सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह–

णमो अरिहंताणं[3], णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं ॥ १ ॥ इदि ।

विशेषार्थ– जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धरसेन आचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी। इसका उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है ।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करे ।

विशेषार्थ– शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिये। पीछे जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये। इसके बाद शास्त्र-प्रणयनके प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये। अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये। फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायक्रमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परंपरा-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये। इसके बाद ग्रंथका व्याख्यान करना उचित है। ग्रंथरचनाका यह क्रम आचार्य परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रंथमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार अर्थात् व्यवहार-परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदन्त आचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारोंका व्याख्यान करनेके लिये मंगल–सूत्र कहते हैं –

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ– यह मंगलसूत्र णमोकार मंत्रके नामसे प्रसिद्ध है। इसके अन्तिम भागमें जो ' लोए ' अर्थात् ' लोकमें ' और ' सव्व ' अर्थात् ' सर्व ' पद आये हैं, उनका संबन्ध ' णमो अरिहंताणं ' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये। इसका खुलासा आचार्यने स्वयं आगे चलकर किया है ॥

---

१ मंगल-कारण-हेदू सत्थं सपमाण-णाम-कत्तारा । पढमं चिय कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥
ति. प. १, ७.
गाथैषा पञ्चास्तिकाये जयसेनाचार्यकृतव्याख्यया सहोपलभ्यते । अनगारधर्मामृतेऽस्याः संस्कृतच्छाया दृश्यते।

२. मु. छण्णं ३. अ. क. अरहंताणं ॥

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणाणं परूवयं ? ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो ।

शंका—यह सूत्र सकारण मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका प्ररूपण करता है यह कैसे संभव है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमें जब कि केवल मंगल अर्थात् इष्ट-देवताको नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोंका स्पष्टीकरण कैसे संभव है ?

समाधान— उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि यह मंगलसूत्र 'ताल-प्रलम्ब' सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे सकारण मंगलादि छहों अधिकारोंका प्ररूपण करता है ।

विशेषार्थ— जो सूत्र अधिकृत विषयोंके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोंकी सूचना करे उसे देशामर्शक सूत्र कहते हैं । इसलिये 'तालप्रलम्बसूत्र' के समान यह मंगलसूत्र भी देशामर्शक है । कल्पसूत्रके कल्पाकल्प नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है, जिसका भाव यह है कि तालवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियां हैं, उनके अभिन्न (बिना तोड़े या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है । इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है । उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामर्शक होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण और कर्ताका भी बोधक है ।

---

१ देशामर्शकस्य स्पष्टीकरणम्–

'जेणेदं सुत्तं देसामासियं, तेण उत्तासेसलक्खणाणि एदेण सूचिदाणि' । स. प्रती पृ. ४८६. 'एदं देसामासियसुत्तं कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण सुत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो' । स. प्रती पृ. ४६८. 'एदं देसामासियसुत्तं देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदाणेयत्थादो' । स. प्रती पृ. ५८९. । 'एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण आमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे' । स. प्रती पृ. ५९५. देसामासियसुत्तं आचेलक्कं त्ति तं खु ठिदिकप्पे लुत्तोऽथवादिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ।। मूलारा. ११२३

'देसामासिय' इत्यादि स्थितिकल्पे आचेलक्यमित्युपदिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकम् । बाह्यपरिग्रहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बाह्यपरिग्रहणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् । यथा 'तालपलंबं ण कप्पदि' त्ति सूत्रे तालशब्दो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनस्पतीनामुपलक्षणाय गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे, हरिदतणोसधिगुच्छा गुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य । एवं वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ।। तालेदि दलेदि त्ति य तलेव जादो त्ति उस्सिदो व त्ति । तालादिणो तरु त्ति य वणप्फदीणं हवदि णामं ।। तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बम् । प्रलम्बं च द्विविधं, मूलप्रलम्बं अग्रप्रलम्बं च । तत्र मूलप्रलम्बं भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलाङ्कुरादिकम्, ततोऽन्यदग्रप्रलम्बम्, अङ्कुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकम् । वनस्पतिकन्दादिकमनुभोक्तुं निर्ग्रन्थानामार्याणां च न युज्यते इति । यथा "तालपलंबं ण कप्पदि त्ति" इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्यः परिग्रहो मुमुक्षुणा ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् तद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् । लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रवत् ।। मूलारा. टी. आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्मे वदजेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जो समणकप्पो ।। मूलारा. ४२१ अहवा एगग्गहणे गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं । तेणऽग्गपलंबेण तु सूइया सेसगपलंबा ।। बृ. क. सू. ८५५.

तत्थ धाउ-णिक्खेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्दारेहि मंगलं परूविज्जदि । तत्थ धाऊ 'भू सत्तायां' इच्चेवमाइओ सयलत्थ-वत्थाणं सद्दाणं मूल-कारणभूदो । तत्थ 'मगि' इदि अणेण धाउणा णिप्पण्णो[1] मंगल-सद्दो । धाउ-परूवणा किमट्ठं कीरदे ? ण, अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो । उक्तं च—

> शब्दात्पदप्रसिद्धिः[2] पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
> अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति ।

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो[3] । सो वि छव्विहो / णाम-ट्ठवणा-

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररूपण किया जाता है । उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर, समस्त पदार्थोंकी अवस्थाके वाचक शब्दोंका जो मूल कारण है उसे धातु कहते हैं । उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है । अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड देने पर मंगल शब्द बन जाता है ।

शंका— यहां धातुका निरूपण किसलिये किया जा रहा है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त-विषयका प्ररूपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी । इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये ।

समाधान— ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है अर्थात् किस धातुसे कौन शब्द बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है । और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है । इसलिये यहांपर धातुका निरूपण किया गया है । कहा भी है —

शब्दसे पदकी प्रसिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

---

१ 'मङ्गेरलच्' पा. उ. ५, ७०.

२ श्लोकोऽयं 'व्याकरणात्पदसिद्धिः' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत-शाकटायनन्यास-सिद्ध-हैमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते ।

३ जुत्तीसु जुत्तं मग्गे जं चउभेएण होइ खलु ट्ठवणं । कज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समए ॥ नयच. २६९ निक्खिप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो । नियओ वा निच्छओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥ वि. भा. ९१२ निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेपः । निक्षिप्यते नामादि-भेदैर्व्यवस्थाप्यतेऽनेनास्मादिति वा निक्षेपः । वि. भा. ९१२ म. टी

दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि

> उच्चारियमत्थपदं[2] णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।
> अत्थं णयंति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया[3] ॥ ३ ॥

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवदारो भवदि । को णयो णाम ?

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराता है उसे निक्षेप कहते हैं । वह नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका, है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, । नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल ।

उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ— आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये । तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है । पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्व-निर्णयका उपदेश दिया है । गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है । जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं । 'णिक्खेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिको, और 'अत्थं णयंति तच्चंतं' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है ।

शंका— नय किसे कहते हैं ?

---

१ णामणिट्ठावणादो दव्वक्खेत्ताणि कालभावा य । इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ॥
तिं. प. १, ८.

२ जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि तेसिमक्खराणं कलावो अत्थपदं णाम । जयध. अ. पृ. १२.

३ गाथेयं पाठभेदेन जयधवलायामप्युपलभ्यते । तद्यथा, उच्चारियम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण । अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिया । जयध. अ.पृ.३० सुत्तं पयं पयत्थो पय-निक्खेवो य निणय-पसिद्धी । बृ. क. सू. ३०९.

णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं[1]।
परिमाण-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं ॥ ४ ॥
तित्थयर-वयण संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं[3] ॥ ५ ॥
दव्वट्ठिय-णय-पयई सुद्धा संगह-परूवणा-विसयो।
पडिरूवं पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहारो ॥ ६ ॥

अनेक गुण और उनके अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले आता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ— आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जांय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है। नय किसी विवक्षित पर्यायसहित ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विभक्ति सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

तीर्थंकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं ॥ ५ ॥

विशेषार्थ— जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है। शेष संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ॥ ५ ॥

संग्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति है, और वस्तुके

---

१ " अनन्त-पर्यायात्मकस्य वस्तुनः अन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्य-प्रयोगो नय इति अयं वाक्य-नयः तत्त्वार्थ-भाष्य-गतः। " जयध. अ. पृ. २६ स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः। आ. मी. १०६ वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्य-विशेषस्य याथात्म्य-प्रापण-प्रवण-प्रयोगो नयः। स. सि. १, ३३ प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः। त. रा. वा. १, ३३. प्रमाणेन वस्तु-संगृहीतार्थैकांशो नयः। श्रुत-विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नयः। आ. प. १२१. जीवादीन् पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः। स. भ. सू. १, ३५ जं णाणीण वियप्पं सुअ-भेयं वत्थु-अंस-संगहणं। तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥ न. च. १७४.

२ दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं। गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ पञ्चा. १० अपरिच्चत्त-सहावेणुप्पाद-व्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ प्रवच. २, ३.

३ एतामारभ्य वस्त्रो गाथाः सिद्धसेन-दिवाकर-प्रणीत-सन्मतितर्के प्रथमे काण्डे गाथाङ्क ३, ४, ५, ११ इति क्रमेणोपलभ्यन्ते।

मूल-णिमेणं[1] पज्जव-णयस्स उज्जुसुद-वयण-विच्छेदो[2] ।
तस्स दु सद्दादीया साहुपसाहा[3] सुहुमभेया ॥ ७ ॥

प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मात्मक है। उनमेंसे सामान्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है। उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते हैं। और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति है। जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसे ही संग्रह नय कहते हैं। तथा सत्स्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं। जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं। अजीव भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेदरूप है। इस-प्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब वह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते हैं। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावें, परंतु वे काल निमित्तक नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें काल निमित्तक भेदको प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है। द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादिकनय शाखा-उपशाखारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ— वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालनिमित्तक भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता से अर्थभेद इष्ट है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर

---

१ 'णिमेणमवि ठाणे' देशी ना. ४, ३७.

२ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः। स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ध. पु. १, पृ. ८४.

३ मु. साहपसाहा।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव-णयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ८ ॥

और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं, यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ---- उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी। एक स्वनिमित्त और दूसरा परनिमित्त। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुरुलघुगुणके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धीरूपसे निरंतर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद और व्यय हुआ करता है। इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णकारने कडेसे कुण्डल बनाया। यहां पर स्वर्णकारके निमित्तसे कडेरूप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी स्वपर-निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पडते हैं। और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है। इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होने चाहिये। स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है। इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है। और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अनन्त-कालसे अनन्त-पर्याय-परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है। और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य-रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा[1] हवंति, तव्विसयम्मि तब्भव[2]-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संभवादो। कधं दव्वट्ठिय-णये भाव णिक्खेवस्स संभवो ? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठियणयस्स वट्टमाणमवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो। संगहे सुद्ध-दव्वट्ठिए वि भाव-णिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुवकुक्खि[3]-णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति।

उन सात नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्भव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव हैं।

शंका-- द्रव्यार्थिकनयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं। इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नहीं हो सकता है। भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान-- ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अन्तर्निहित हैं, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है। यहां पर पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्यों कि जो महासत्ता अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट किये हुए है और जो सदाकाल अवस्थित है उसे ही भावरूपसे स्वीकार किया गया है।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है। और शुद्ध संग्रह नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता है। यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये।

---

१ णेगम-संगह-ववहारा सव्वे इच्छंति। कसाय-पाहुड-चुण्णि (जयध. अ.) पृ. १०

२ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत्। परापर-विवर्तव्यापि-द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु। प. मु. ४, ३-५.

३ मु., सुकुक्खि।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।
भावो दु पज्जवट्ठिय-परूवणा एस परमट्ठो[1] ॥ ९ ॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि । ण, तत्थ पज्जायस्सलक्खण-क्खइणो भावब्भुवगमादो ।

उज्जुसुदे[2] ट्ठवण-णिक्खेवं वज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति, तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो ।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व-णिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-गुण-ण्णिद-एग-दव्व-संभवादो । ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि, सद्दोवलद्धि-काले णियतव्वाचयत्तुवलंभादो[3] । सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु[4] वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति, तेसिं चेय तत्थ संभवादो । एत्थ किमट्ठं णय-परूवणमिदि ?

शंका— नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप है, और भाव पर्यायार्थिक नयकी प्ररूपणा है । यही परमार्थ सत्य है ॥ ९ ॥

सन्मतितर्कके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा ?

शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल पर्यायार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव किया है । परंतु यहांपर उसका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव किया गया है । इसलिये यह कथन ही सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है ।

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, जो पर्यायरूप स्वलक्षण क्षणिक है इसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायको विवक्षासे कथन किया है, और यहां पर द्रव्यसे अभिन्न वर्तमान पर्यायको द्रव्य मानकर कथन किया है । इसलिये कोई विरोध नहीं आता है ।

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नही होता है । और स्थापनानिक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है ।

---

१. स. त. १, ६. नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः ॥ त. श्लो. वा. १, ६. ६९ नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स । संगह ववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स ॥ वि. भा. ७५. पर्यायार्थिकेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिक-नयेन सामान्यात्मकत्वात् । स. सि. १, ६. वृत्ति.

२. उजुसुदो ठवण-वज्जे । कसाय-पाहुड-चुण्णि (जयध. अ.) पृ. ३०.

३. मु णियतवाच्यत्तुवलंभादो ।

४. सद्दणयस्स णाम-भाव-णिक्खेवा । कसाय-पाहुड-चुण्णि । (जयध. अ.) पृ. ३१.

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्षते ।

युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्[1] ॥ १० ॥
ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः[2] ॥ ११ ॥ इति ।

ततः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

शंका--- ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?

समाधान--- ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणान्वित एक द्रव्यही तो विषयरूपसे संभव है ।

विशेषार्थ--- पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है । इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है ।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी निज वाचकता पाई जाती है ।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं ।

विशेषार्थ--- शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही हैं । अतः उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता है । तथा उक्त तीनों नयवाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है ।

शंका--- यहां पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान--- जो पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं करता है, उसे पदार्थका समीक्षण कभी युक्त (संगत) होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

१. जो ण पमाण-णएहिं णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहादि ।
ति. प. १. ८२.

अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेव-णय-प्पमाणओ विहिणा । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ।
वि. भा. २७६४.

२. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास उच्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः ॥ लघीय. ६,२. णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदय-भावत्थो । णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥ति. प. १,८३. वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थु-एयंसं । जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं ॥ णाणासहाव-भरियं वत्थु गहिऊण तं पमाणेण । एयंतणासणट्ठं पच्छा णय-जुंजणं कुणह ॥ जम्हा णएण ण विणा होइ णरस्स सिय-वाय-पडिवत्ती । तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ न. च. १७२, १७३, १७५.

इदाणिं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो। तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर[1]-णिरवेक्खा मंगल-सण्णा। तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि। तत्थ जाई तब्भवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं। दव्वं दुविहं संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं चेदि। तत्थ संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं। समवाय-दव्वं णाम जं दव्वं दव्वम्मि[2] समवेदं। गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुद्धो-अविरुद्धो वा। किरिया णाम परिप्फंदणरूवा। तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-पड-त्थंभ-वेत्तादि[3]। संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मउली[4] इच्चेवमादि[5]। समवाय-दव्व-णिमित्तं[6] णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ। गुण-णिमित्तं णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ[7]। किरिया-णिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ[8]। ण च एदे चत्तारि णिमित्ते मोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं[9] णिमित्तंतरमत्थि।

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। इसप्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय, और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं। उनमेंसे, अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा रहित किसीकी 'मंगल' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं। वहां निमित्त चार प्रकारका है— जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। उन चार निमित्तोंमेंसे तद्भव और सादृश्य-लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते हैं।

१. नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम्। तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ॥ त. श्लो. वा. १. ५.

२. मु. जं. दव्वम्मि।

३. जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते। जातिहेतुः स विज्ञेयो गौरश्व इति शब्दवत् ॥ त. श्लो. वा. १, ५, ३.

४. मु. मोली।

५. संयोगि-द्रव्य-शब्दः स्यात्कुंडलीत्यादिशब्दवत्। समवायि-द्रव्य-शब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥ त. श्लो. वा. १, ५, ९.

६. मु. समवायणिमित्तं।

७. गुणप्राधान्यतो वृत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तकः। शुक्लः पाटल इत्यादि-शब्दवत्संप्रतीयते ॥ त. श्लो. वा. १, ५, ६.

८. कर्म-प्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते। चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥ त. श्लो. वा. १, ५, ७.

९. मु. अण्ण –

वच्चत्थ[1]-णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं। तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठ-विहो। तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो[2] य अजीवो य,

विशेषार्थ— किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थामें मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है। तथा एक ही समयमें नाना व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे, रंग, आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है।

द्रव्यके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य। उनमें, अलग अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं। जो पर्याय आदिककी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं। परिस्पंद अर्थात् हलन-चलनरूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ, वेत इत्यादि जाति-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ-मनुष्यादि संज्ञाएं, गौ-मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं। दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं। क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते हैं। गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्नसत्तावाला नहीं है। इसी प्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये। कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं। गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं। क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं। इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोंको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है। उस मंगलका आधार आठ प्रकारका है। जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव।

विशेषार्थ— मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये— १ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है

१ अ-क-वज्झत्थ। 'नामं पि होज्ज सन्ना तव्वच्चं वा तयत्थपरिसुन्नं॥ वि. भा. ३४००

२ अ - अजीवो च जीवा च, अजीवा च जीवो च, अजीवा च जीवा चेति।

जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य इदि[1]।

तत्थ ट्ठवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम। सा दुविहा सब्भावासब्भाव-ट्ठवणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भाव-ट्ठवणा। तव्विवरीया असब्भाव-ट्ठवणा।

उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं। यहां जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है। २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ८ अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं।

उन नामादि मंगलोंमेंसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं। किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना कहते हैं। वह स्थापना दो प्रकारकी है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भाव-स्थापना जानना चाहिये।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदिके द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदिमें ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके सूचक गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके रूपको अर्थात् तदाकार आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं।

१. 'किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम, यथा डित्थ इति। किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किञ्चिदेकाजीवनाम, यथा घट इति। किञ्चिदनेकाजीवनाम, यथा प्रासाद इति। किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम, यथा काहार इति। किञ्चिदेकाजीवानेक- जीवनाम, यथा मंदुरेति। किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम, यथा नगरमिति'। त. श्लो. वा. १, ५. जीवस्स सो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए। जीवाण जईण पि व अज्जीवाणं तु पडिमाणं॥ जीवस्साजीवस्स य जइणो बिंबस्स चेगओ समयं। जीवस्साजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं॥ जीवाणमजीवस्स य जईण बिंबस्स चेगओ समयं। जीवाणमजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं॥ वि. भा. ३४२४, ३४२५, ३४२६.

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रूवं लिहण-खणण-बंधण-क्खेवणादिएण ठविदं बुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सब्भाव-ट्ठवणा-मंगलं[1]। बुद्धीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरूवक्ख-वराडयादयो असब्भाव-ट्ठवणा-मंगलं[2]।

दव्व-मंगलं णाम आगाम-पज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा। तं दुविहं, आगम-णो-आगम-दव्वं चेदि। आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटोंमें वराडक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य अतदाकार वस्तुओंमें मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके गुण स्वरूपकी बुद्धिसे कल्पना करना असद्भाव स्थापना-मंगल है।

विशेषार्थ— जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौड़ी व पासोंमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं। आगे होनेवाली मंगल पर्यायको ग्रहण करनेके सन्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यमंगल कहते हैं। वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगमके भेदसे दो प्रकारका है।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं। आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं।

मंगल-प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले, किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, मंगल विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस मंगल प्राभृत शास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं।

विशेषार्थ— आगे होनेवाली पर्यायके सन्मुख, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यमंगल कहा है, और तद्विषयक ज्ञानको आगम कहा है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो मंगलविषयक शास्त्रका जानकार वर्तमान उसके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है। यहांपर जो मंगलविषयक

---

१ तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा तद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् कथंचित्सादृश्यसद्भावात्। त. श्लो. वा. १, ५.

२ मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात्। त. श्लो. वा. १, ५.

एयट्ठो । आगमादो अण्णो णो-आगमो । तत्थ[1] आगमदो दव्व-मंगलं णाम, मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा-वा, तस्सत्थ[2]-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दव्व मंगलं तिविहं । जाणुग-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर[3]-णो-आगम-दव्व-मंगलं तं तिविहं, मंगल.पाहुडस्स-केवल-णाणादि-मंगल-पज्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्टमाणादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयो-वयारादो भवदु धरिद-मंगल-पज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगल-ववएसो, ण

शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्य-मंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये । क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र-ज्ञानमें मंगल-विषयक शास्त्रकी शब्द रचना और मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचना ये मुख्य-रूपसे बाह्य निमित्त पड़ते हैं । वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो-आगममें किया है । अथवा, मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों बाह्य निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों बाह्य निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण कर लिया है ।

नो-आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त । उनमें जो ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माका उपचार करके धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परंतु भावी और भूत शरीर को मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें मंगलरूप पर्यायके अस्तित्वका अभाव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

---

१. आगमओऽणुवउत्तो मंगल-सद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लद्धि-जेहिओ वि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं ॥ अह नाणमागमो तो कह दव्वं दव्वमागमो कह णु । आगम-कारणमाया देहो सद्दो यतो दव्वं ॥ मंगल-पयत्थ जाणय-देहो भव्वस्स वा सजीवो त्ति । नो-आगमओ दव्वं आगम-रहिओ त्ति जं भणिअं ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स जं कारणं देहो ॥ जाणय-भव्व-सरीराइरित्तमिह दव्व-मंगलं होइ । जा मंगल्ला किरिया तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥ वि. भा. २९, ३०, ४४, ४५, ४६.

२. अ-तस्सद्द ।

३. मु. सरीरं ।

अण्णेसिं, तेसु ट्ठिद-मंगल-पज्जायाभावा ? ण, राय-पज्जायाहारत्तणेण अणागदादीद-जीवे वि राय-ववहारोवलंभा ।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि। तत्थ चुदं णाम कयलीघादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण झीयमाणायु-क्खय-पदिदं । चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायु-क्खय-पदिद-सरीरं । उत्तं च—

विशेषार्थ— आगमके बाह्य सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है। और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है। ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके बिना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है। अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं। जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है। मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्त्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है। इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त।

कदलीघात-मरणके विना पके हुए फलके समान कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुकर्मके क्षयसे अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं।

विशेषार्थ— जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है। वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है। उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके बिना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं।

कदलीघातके द्वारा छिन्न आयुके क्षय हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं। कहा भी है—

विस[1]-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहि[2] ।

आहारुस्सासाणं[3] णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ १२ ॥ इदि ॥

चत्तसरीरं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणी-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण, चत्तमिदि । तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्[4] । आत्मोपकारसव्यपेक्षं

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शस्त्राघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ— जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है । इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन कहते हैं ।

विशेषार्थ— प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएं न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, संघको छोड़कर अपने पैरोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थात् संन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

---

१. गो. क. ५७. २. मु. संकिलिस्सेहि । ३. मु. आहारो ।

४. पाओवगमणमरणं, पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउग्गमणमरणं' इति पाठः, भवान्तरप्रायोग्य संहननं संस्थानं चेह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन प्रवर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति । मूलारा. पृ. ११३. 'पाओवगमणं' पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम् । तदुक्तं-पाओवगमणं भणियं सम-विसमे पायवो जहा पडिलो । नवरं परप्पओगा कंपेज्ज जहा जलतरु व्व ॥ ५४४ अभिरा. कोष (पाओवगमण)

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्[1]। आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति[2]। तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्[3]। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम्[4]। मध्यममेतयोरन्तरालमिति ।

जिस संन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ—— इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधिमरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है । इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएं क्षपक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है । इस तरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं ।

जिस संन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ—— भक्त नाम भोजनका है, और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमें क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं ।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है ।

---

१. इंगिणीशब्देन, इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणम् । यत्पुनः स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । मूलारा. पृ. १२४. अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः, परपरिकर्मविवर्जनञ्च भवति । स्वयं पुनरिङ्गितदेशाभ्यन्तरे उद्वर्त्तनादि चेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । अभि. रा. कोष. (इंगिणी)

२. भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहारः । तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः । भक्तप्रतिज्ञा स्वपरवैयावृत्यसापेक्षं मरणम् । मूलारा. पृ. ११३.

३. उक्कस्सएण भत्त-पइण्णा कालो जिणेहि णिद्दिट्ठो । कालं हि संपहुत्ते बारिस वरिसाणि पुण्णाणि ।। जोगेहि विचित्तेहि दु खवेदि संवच्छराणि चत्तारि । वियडिणी य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेइ ।। आयंबिलणिव्वियडीहि दोण्णि आयंबिलेण एक्कं च । अद्धं णादि विगट्ठेहि तदो अद्धं विगट्ठेहि ।। मूलारा. २५७-२५९.

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं[1] काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि, तहा-मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो। मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्वयस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगलमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, पुव्वं ति-रयणाहारत्तेण मंगलत्तमुवगयस्स पच्छा भूद-पुव्व-णाएण मंगल-भावं पडि विरोहाभावादो। तदो मंगल-भावेण कत्थ वि णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेत्ति। ण चइदम्हि पददि, चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो। तो कम्हि एदं घेत्तव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए
जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं। जीवियासाए मरणासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं चुदं णाम।

शंका— संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान— ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता।

शंका— जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परंतु उसके शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें समावेश होना चाहिये। इस शरीरका च्यावितमें तो अन्तर्भाव हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें अन्तर्भाव किया जावे, तो आहारके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं। जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदली-घात व

१. तो णाउ विस्तिच्छेयं ऊसासनिरोहमादिणि कयाइं। अणहीयासे तेहिं वेयणसाहिहि ओमम्मि ॥ पडि-घातो वा विज्जू गिरिभित्ती कोणमाइ वा हुज्जा। संवहहत्थपायादओ व्व वातेण होज्जाहि ॥ एएहिं कारणेहिं पंडियमरण तु काउमसमत्थो। ऊसासगिद्धपट्ठं रज्जुग्गहणं च कुज्जाहि ॥ व्यव. सू. ५४६-५४८.

जीविद-मरणासाहि विणा सरूवोवलद्धिणिमित्तं चत्त[1]-बज्झंतरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्तदेहमिदि ।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीवः मङ्गलपर्यायं परिणंस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्ध्यादि-षोडशधा-प्रविभक्त–तीर्थंकर–नामकर्म–कारणैर्जीव–प्रदेश–निबद्ध-तीर्थंकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् यत्तन्नोकर्ममङ्गलं । तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।

समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं । आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अंतरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ— पूर्वमें बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरूपपर ध्यान देनेसे यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमें कदलीघातकी प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमें समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है । परंतु वहांपर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं ।

जो जीव भविष्यकालमें मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ— ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परंतु उससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमें ज्ञाताके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहांपर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमंगल ।

---

१. मु. णिमित्तं व चत्त– ।

तत्राचित्तमङ्गलम्—

> सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं ।
> सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो[1] ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।

इन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें– 'सिद्धार्थ' अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

अलंकारसहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये। यहां पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है।

विशेषार्थ— पंचास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं। वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों मंगलरूप माने गये। जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दनमालाकी स्थापना की। अरहंत परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादिको श्वेत-वर्णकी उपमा दी जाती है। इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमें जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना बिम्ब झलकता है; अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है। जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है। जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

---

१. वयणियमसंजमगुणेहिं साहिदो जिणवरेहिं परमट्ठो । सिद्धा सण्णा जेसिं सिद्धत्था मंगलं तेण ॥ पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा । अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ॥ णिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसं पि वंदणिज्जा ते । वंदणमाले त्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ॥ सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता । छत्तायारं सिद्धि त्ति मंगलं तेण छत्तं तं ॥ सेदो वण्णो ज्झाणं लेस्सा य अघादिसेसकम्मं च । अरहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥ दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिंदस्स । तह दीसइ मुकुरे बिंबु मंगलं तेण तं मुणह ॥ जह वीयरायसव्वण्हू जिणवरो मंगलं हवइ लोए । हयरायबालकण्णा तह मंगलमिदि वियाणाहि ॥ कम्मारिं जिणेविणु जिणवरेहिं मोक्खु जिणाहिं वि जेण । जच्चस्स उ अखिल जिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ॥ पञ्चा. टीका.

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम् सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । सचित्तमर्हदादीनाम-माद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणम्, तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् न केवल-ज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणम्, तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिम-चैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः, तासां[1] स्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः ? इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् । यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः । तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा । तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । अरहंत आदिका अनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल है । यहांपर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिकका ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित द्रव्यको भाव कहा है । इसलिये उसका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादि वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है । उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नो-आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्याएं भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा ।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्य-मंगल हैं । उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है ।

शंका— अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे संभव है ?

समाधान— इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है । अथवा, अग्नितुल्य बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र-मंगल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनोंसे तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

---

१. मु. तत्स्थप्रतिमास्तु ।

तत्र क्षेत्रमङ्गलं[1] गुण-परिणतासन्न-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-क्षेत्रादिः। तस्योदाहरणम्, ऊर्ज्जयन्त-चम्पा-पावा-नगरादिः। अर्धाष्टारत्न्यादि[2]-पंचविंशत्युत्तर-पंच-धनुः-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-कैवल्याद्यवष्टब्धाकाश-देशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा।

तत्थ काल-मंगलं णाम[3], जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो सो कालो[4] पाव-मल-गालणत्तादो मंगलं। तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः। जिन-महिमा[5]-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम्। यथा नन्दीश्वर-दिवसादिः।

तत्थ भाव-[6]मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। स द्विविधः

आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्जयन्त (गिरनार-पर्वत) चम्पापुर और पावापुर नगर आदि क्षेत्रमंगल हैं। अथवा, साढ़े तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञानादिसे व्याप्त आकाश-प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं। अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोक-पूरणसमुद्घातदशामें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं।

जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं। उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये। जिन-महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं। जैसे, अष्टाह्निक पर्व आदि।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं। वह आगमभावमंगल और नोआगम-भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है। आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं। नो-आगम-भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है। जो आगमके बिना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

---

१. गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स। उप्पत्ती इय पहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं॥ एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी। आहुट्ठहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि॥ देहअवट्ठिदकेवलणाणा-वट्ठद्धगयणदेसो वा। सेढीघणमेत्तअप्पपदेसगदलोयपूरणं पुण्णं॥ विण्णासं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं॥ ति. प. १, २१-२४.

२. 'अर्धाष्ट' इत्यत्र 'अर्धचतुर्थ' इति पाठेन भाव्यम्।

३. जस्सि काले केवलणाणादि मंगलं परिणमदि॥ परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिपवेसादी। पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं॥ एवं अणेयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं। जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ॥ ति. प. १, २४–२६. ४. मु. परिणदो कालो। ५. मु. महिम-

६. मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च। भावं मंगलमेदं पढियउ सत्थादिमज्झयंतेसु॥ ति. प. १, २७.

आगम-णोआगमभेदात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं-उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

एदेसु णिक्खेवेसु केण णिक्खेवेण पयोजणं ? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणएण पयोजणं । जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणदेण पयोजण-मियरेहि णिक्खेवेहि इह किं पयोजणं ?

जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा ।
जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ[1] ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभावमंगल कहते हैं।

शंका— इन निक्षेपोंमेंसे यहां (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमें) किस निक्षेपसे प्रयोजन है ?

समाधान— यहांपर तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है ।

शंका— यदि यहां तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है, तो अन्य निक्षेपोंके कथन करनेसे यहां क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके विना उनका यहां कथन नहीं करना चाहिये था ।

समाधान— जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहांपर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहांपर निक्षेपोंका कथन किया गया ।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया जाता है, इस प्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा ' यहां पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है ' इस प्रकार विवक्षित पदके अर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

---

१. जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥ अनु. द्वा. १, ६.

अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय[1] । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपाः उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्तयोः[2] प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उक्तं च—

> अवगय-णिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च ।
> संसय-विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १५ ॥

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो संदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है ।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायार्थिक है अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात्, सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्मके निर्णयके विना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि संदेह हो, तो उनके संदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेके लिये, और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये।१५।

अथवा सम्भव है कि निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

---

१. ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणनयैरधिगम्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृतप्ररूपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य । न खलु नामाद्यप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायालं, मुख्योपचारविभागेनैव तत्सिद्धेः । न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना संभवति, येन तदभावेऽपि तत्त्वार्थाधिगतिः स्यात् । लघीय. पृ. ९९.

२. मु. विपर्यस्यतो ।

निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थ उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि[1] । एकार्थप्ररूपणं किमर्थमिति[2] चेत् ? यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मङ्गलार्थः[3] प्रयुक्तश्चिरंतनाचार्यैः, सोऽ[illegible] शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थ उच्यते । ' यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः ' इति वचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति[4] हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्[5] । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्[6] । द्रव्यमलं द्विविधम्[7]—बाह्यमभ्यंतरं[8] च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । [9]घन-कठिन-जीव-

---

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगलके पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका— यहांपर मंगलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान—क्योंकि, मंगलरूप अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है । इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका कथन किया है । उसका मतिभ्रमके विना शिष्योंको सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहांपर मंगलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, ' यदि शिष्य एक शब्दसे प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये ' इस वचनके अनुसार भी यहांपर मंगलरूप अर्थके पर्याय-वाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मंगलकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ) कहते हैं । जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं । द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-

---

१. पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा । सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥ ति. प. १, ८.

२. मु. किमिति ।　३. मु. शास्त्रेषु नैकाभिधानैः मङ्गलार्थः ।　४. मु. विनाशयति दहति ।

५. गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे । विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, ९.

६. दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहिं । ति. प. १, १०.

७. दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमब्भंतरं चेय । सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलं समुद्दिट्ठं । ति. प. १, १०–११.

८. मु. माभ्यन्तरं ।

९. पुणु दिढजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई । अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेक्कभेज्जमाणं तु ॥

प्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्[१] ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा[२] । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्[३] । अथवा मंङ्गं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्[४] । उक्तं च–

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः[५] पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

....

द्रव्यमल और अभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेंसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य-द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, अभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसी प्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका है । उस मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । कहा भी है—

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

....

णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं । अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो ।
ति. प. १, ११–१२.

१. भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादिपरिणामो ॥ ति. प. १, १३.

२. अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । ति. प. १, १४.

३. ताइं गालेदि पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, १४.

४. अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा । एदाण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥
ति. प. १, १४, १५.

५. पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं । तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवरं ॥
ति. प. १, १६.

पापं[1] मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ १७ ॥
किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति ।
छहि अणिओग-द्दारेहि सव्व-भावाणुगंतव्वा[3] ॥ १८ ॥

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गल-शब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोग[2] उच्यते—

किं मङ्गलम् ? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलत्वप्राप्तिः[4] द्रव्यार्थिक-नयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां

उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इस तरह मंगल शब्दके अर्थ-विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं ।

विशेषार्थ— जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापार संबंध मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोडनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, एक ही आगम-कथित-सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इस प्रकार इन छह अनुयोग-द्वारोंसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

---

१. पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवएण जीवाणं । तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई ॥ ति. प. १, १७

२. अणुओयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं । वावारो वा जोगो जो अणुकूलोऽणुकूलो व ॥ अहवा अमरथओ थोवपच्छभावेहिं सुयमणुं तस्स । अभिधेए वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥ वि. भा. १३९२, १३९४.

३. मूलाचा. ७०५. दुविहा परूवणा, छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविहो य भवे ॥ आ. नि. ८९४. तानीमानि षडनुयोगद्वाराणि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण-स्थितिविधानतः । त. सू. १, ७. तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । कस्येत्यनुयोगे स्वस्वेत्याधिपत्य-कथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने कारणनिरूपणं साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे आधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे प्रकारकथनं विधानम् । लघीय पृ. ९५.

४. मु. मङ्गलप्राप्तिः ।

च मङ्गलत्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम्? जीवस्य द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिक-नयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।

क्व मङ्गलम् ? जीवे । कुण्डाद्बदराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सारे स्तम्भ इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मंगल क्या है ? जीव मंगल है । किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जावेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको और पर्याया-र्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है ।

मंगल किसके होता है ? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है । यहां पर जिस प्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है । क्योंकि, 'यह अंगूठी स्वर्णकी है' यहां पर अभेदमें, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसी प्रकार 'जीवस्य मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें षष्ठी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह संबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धकी विवक्षासे षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है ? जीवके औदयिक, औपशमिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है । परंतु औदयिक भावसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर 'औदयिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है' यह कहना किस प्रकार संभव है ? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी पूजा-भक्ति तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव मंगलका कारण है । इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है ।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है ? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है । जिस प्रकार कूंडेसे उसमें रक्खे हुए बेरोंका भेद है, उस प्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, 'सारे स्तंभः' अर्थात् वृक्षके सारमें स्तंभ है । यहां पर जिसतरह अभेदमें भी सप्तमी विभक्तिकी

किंयच्चिरं मङ्गलम् ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्धा[1] । एकजीवापेक्षया अनाद्य-पर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं, तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृता-वस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः, आव्रियमाणकेवलाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः, जीवलक्षणयोर्ज्ञानदर्शनयोरभावे लक्ष्यस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें सप्तमी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान्त है । अर्थात् कहीं भेदमें भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिकरण कारक होता है ।

कबतक मंगल रहता है ? नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त इस प्रकार मंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है ?

समाधान— द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमें अनादि-अनंतपना बन जाता है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव अवस्थित है, अतएव मंगलमें भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है ।

शंका— इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह इष्ट है । किंतु इससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है । मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त-धर्मात्मक है ।

आवृत अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मंगलीभूत केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामें वे सर्वथा नहीं पाये जाते, यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि आव्रियमाण अर्थात् जो कर्मोंके द्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमें केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता । दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है । लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि

---

१. प्र. सर्वाद्धम् ।

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः, तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अनुटघज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्वात् । मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां

प्रमाणोंसे जीवका अभाव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाशकी वहां पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ— आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस तरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचरित हो जाता है । इस प्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर सिद्ध होती है ।

शंका— केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं । इसलिये आवृतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नहीं टूटनेवाली ज्ञान-संतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके (शक्ति रूपसे) सदा पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपनेका अभाव होने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमंगलपना प्राप्त होगा ।

शंका— आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं ? इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान— उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नामा संज्ञाएं हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी

मत्यादिव्यपदेशात् । तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलत्वम् । न मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः, सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावात् कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञान-दर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजोजुड्ज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्ति-खचितात्मस्मर्तृणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः। नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्ष-या वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया

अवस्थाविशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है। यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान हैं ?

समाधान— यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

शंका— मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं पाई जाती। तथा समीचीनताके बिना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है। फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जिस प्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है। इसलिये मिथ्या-दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगलपना होनेमें विरोध नहीं है।

अथवा, नोआगमभाविद्रव्यमंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है।

विशेषार्थ— जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा। उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है।

विशेषार्थ— रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूपकी

---

१. मु. मङ्गलम् । तन्न ।

नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम् । सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्ठिसागरा देशोनाः ।

कतिविधं मङ्गलम्? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, ' णमो जिणाणं ' इत्यादिनानेकविधं वा ।

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराए दंडा वत्तव्वा भवंति । तं जहा, मंगलं मंगल-कत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि । एदेसिं छण्हं वि अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्तो । मंगल-कत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ आइरियो । मंगल-करणीयं भव्व-जणो । मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि । मंगल-विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं । मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइं । तं[1] मंगलं सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उत्तं च—

जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है । इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय करनेवाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये । उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छ्यासठ सागर प्रमाण है ।

मंगल कितने प्रकारका है ? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका है । धर्म, सिद्ध साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका है । अथवा ' जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है ।

अथवा, मंगलके विषयमें छह अधिकारोंद्वारा दंडकोंका कथन करना चाहिये । वे इस प्रकार हैं । १ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगल-भेद और ६ मंगल-फल । अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं । मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा चुका है । चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने योग्य हैं । रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है । एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगलका फल है । अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमें उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है । यह मंगल ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें कहना चाहिये । कहा भी है—

---

1. मु. मंगल-फलं देहिलो कय-अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइत्तं ।

आदि-अवसाण-मज्झे[1] पण्णत्तं मंगलं जिणिंदेहिं ।
तो कय-मंगल-विणओ इणमो[2] सुत्तं पवक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु ट्ठाणेसु मंगलं किमट्ठं वुच्चदे ? कय-कोउय[3]-मंगल-पायच्छित्ता[4] विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारो सोदारो वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जा-फलं च पावेंतु[5] त्ति । उत्तं च–

आदिम्हि भद्द-वयणं सिस्सा लहु पारया हवंतु त्ति ।
मज्झे अव्वोच्छित्ती विज्जा[6] विज्जा-फलं चरिमे[7] ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेवने आदि, अन्त और मध्यमें मंगल करनेका विधान किया है। अतः मंगल-विनयको करके मैं इस सूत्रका वर्णन करता हूं ॥ १९ ॥

शंका— ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश किसलिये दिया गया है ?

समाधान— मंगलसंबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगलसंबन्धी प्राय-श्चित्त करनेवाले अर्थात् मंगलके लिये आगे प्रारंभ किये जानेवाले कार्यमें दुःस्वप्नादिकसे मनमें चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मंगलीक दधि, अक्षत, चंदनादिकको सामने रखनेवाले और विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता अर्थात् पढ़नेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य और निर्विघ्नरूपसे विद्या तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है। कहा भी है—

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथाध्ययनादि कार्यके पारंगत हों इसलिये आदिमें भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिये। प्रारम्भ किये गये कार्यको व्युच्छित्ति न हो इसलिये मध्यमें मंगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याके फलकी प्राप्ति हो, इसलिये अन्तमें मंगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

---

१. मु. आदिवसाण: मज्झे । २. मु. वि णमोसुत्तं ।

३. सौभाग्यादिनिमित्तं यत्स्नपनादि क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च, सोहग्गादिणिमित्तं परेसि ण्हवणादि कोउगं भणियं ॥ पाय!— १, १४.

४. कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहुः 'पायच्छित्त' त्ति पादेन पादे वा छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः । कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादि । भग. २, ५, १०८. टीका.

५. मु. विज्जाफलं पावेंतु ।

६. मु. अव्वोच्छित्ति य ।

७. पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति । मज्झिम्मे णिव्विग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥
ति. प. १, २९.

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति ।
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन[1] ॥ २१ ॥
आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तं च[2] मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय[3]-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण ण णिबद्धो[4] देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं, 'एत्तो[5] इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो ।

सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि[6] ? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं, पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

विद्वान् पुरुषोंने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है। वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका कीर्तन करना ही है ॥ २२ ॥

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं। और ग्रंथके आदिमें जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ—— ग्रन्थकार जो मंगल-पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थमें निबद्ध करता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। जो अन्य-रचित मंगल-पाठ ग्रन्थमें लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । इस व्यवस्थाके अनुसार षट्खण्डागमके प्रारम्भमें दिया गया णमोकार मंत्र निबद्ध मंगल है। उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि, 'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है ।

१. णासदि विग्घं भेददि घंहो दुट्ठा सुरा ण लंघंति । इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामं गहणमेत्तेण ॥ ति. प. १, ३०.

२. मु. तच्च ।

३. मु. 'णिबद्ध-देवदाणमोक्कारो ।　४. मु. कय-देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं' ।

५. मु. यत्तो ।

६. जइ मंगलं सयं चिय सत्थं तो किमिह मंगलग्गहणं ? सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं ॥ इह मंगलं पि मंगलबुद्धीए मंगलं जहा साहू । मंगलसियबुद्धिपरिग्गहे वि नणु कारणं भणियं ॥ वि. भा. २०, २१.

सुत्तत्त-विरोहादो । अह मंगलं, किं तत्थ मंगलेण, एगदो चेय कज्ज-णिप्पत्तीदो इदि । ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स । सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-पाव-पंसणादो । पढण-विग्घ-विद्दावणं मंगलं । सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-क्खय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न सूत्रविषयपरिज्ञान-मन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात् । शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति ।

इदाणिं देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे ।

' णमो अरिहंताणं ' अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावास-

---

शंका— सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे उसमें सूत्रपनेका विरोध आता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है, यदि कहा जाय कि सूत्र मंगल नहीं है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती, अतएव परिशेष न्यायसे वह मंगल है । तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रके आदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है कारण कि सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है ।

शंका— देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है । मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । ' णमो अरिहंताणं ' अरिहंतोंको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रुओंके ' हननात् ' अर्थात् नाश करनेसे ' अरिहंत ' हैं ।

गताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च। तस्यारेर्हननादरिहन्ता[1]।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि।

नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

शंका— केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं। मोहके बिना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं। जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय। इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं।

शंका— मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोहके आधीन होना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है। तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहंत' हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

---

१. रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य। परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ॥ मूलाचा. ५०४. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं। तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे। एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति। वि. भा. ३५८३, ३५८२.

मोहोऽपि रजः, भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावोपलम्भात् किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः[१] । स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः[२] ।

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिम्हभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्हभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका— यहां पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यंभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत होते हैं । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं ।

१. अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए । रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥ मूलाचा. ५०५;

अरिहंति वंदणणमंसणाइं अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ वि. भा. ३५८४, ३५८५.

२. अविद्यमानं वा रहः एकान्तरूपो देशः, अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः [अरहंता] अथवा अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ता [अरहंता] अथवा 'अरहंताणं' ति

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्देदीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः इति यावत् ।

णिहय-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण[1]-सायरुत्तिण्णा ।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥
ति-रयण-तिसूलधारिय-मोहंधासुर-कबंध-विंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुण-स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर-प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगोंसे दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो जानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोंकी कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने सकल पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग और द्वेषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियोंके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूलके द्वारा मोहरूपी अंधकारासुरके कबन्धवृन्दको विदारित कर दिया है,

---

क्वचिदप्यासक्तिमगच्छन्तः, क्षीणरागत्वात् । अथवा 'अरहयद्भ्यः' प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजन्तः (अरहंता) । अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरम् । तत्र 'अरोहद्भ्यः' अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात् । आह च, दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ नमस्करणीयता चैषां भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति । भग. १, १, १, टीका.

१. अ. क. वित्थिण्णणाण.

'णमो सिद्धाणं' सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः[1] सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः[2]। सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्व

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ—— शैवमतमें महादेवको अपने तीन नेत्रोंसे कामदेवका नाश करनेवाला, सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिपती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है। महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त तीन गाथाओंमेंसे अन्तकी दो गाथाओंकी रचना हुई है। इससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ॥

'णमो सिद्धाणं' अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो। जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

शंका—— सिद्ध और अरिहंतोंमें क्या भेद है?

समाधान—— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं। यही उन दोनोंमें भेद है।

शंका—— चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहंतोंके आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहंतोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं। इसलिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका—— वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है?

समाधान—— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीरका पतन हो जाना चाहिये। परंतु शरीरका पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है।

१. सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति। भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥ पु. सि. ११.

२. दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मसु। सिदे धत्ते णिवत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ। मूलाचा. ५०७.

सिद्धेः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसार-स्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुण-स्तत एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेद-स्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शंका— उन कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है। वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है। तथा, अघातिया कर्म आत्माके गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं। इसलिये अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयु-कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोंके पाया जाता है।

शंका— ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसको आत्माका गुण होने पर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव प्राप्त होता है। इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात् वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्‌के केवलीपनाही नहीं बन सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है।

विशेषार्थ— अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है। परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भाव-स्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है। इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये। टीकाकारने जो ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं हैं, इसप्रकारका कथन किया है। वहां पर उन दोनों गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है। ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि, आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन और अव्याबाध कहा है उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नम[1] इति यावत् ।

णिहय-विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा ।

सुह-सायर-मज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥ २६ ॥

अणवज्जा कय-कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।

वज्ज-सिलत्थ-ब्भग्गय-पडिमं[2] वाभेज्ज-संठाणा ॥ २७ ॥

माणुस-संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।

सव्विंदियाण विसयं जमेग-देसे वि जाणंति ॥ २८ ॥

' णमो आइरियाणं ' [3]पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः[4] [5]चतुर्दश-विद्यास्थानपारगः[6] [7]एकादशाङ्गधरः[8] आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-पारगो[9] वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभय-

---

ऐसे सिद्धोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे समस्त पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिलामें उत्कीर्ण प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं, जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि, जो संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको एक देशमें भी जानते हैं वे सिद्ध हैं ।

' णमो आइरियाणं ' आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराता

---

१. नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्तया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवोपकारहेतुत्वादिति । भग. १, १, १, टीका.

२. अ. ब. वज्जसिलत्थं सिग्गयपडिमं ।

३. जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि । आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूलाचा. ५१०. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं । उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥ मूलाचा. ४१९.

४. मु. चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः ।

५. चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरो व्व गंभीरो । कप्पववहारधारी होदि हु आयारवं णाम ॥ मूलाचा. ४२५.

६. मु. पारगाः ।

७. पंचमहव्वयतुंगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा । णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥ ति. प. १, ३.

८. मु. धराः ।

९. गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो । खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥ मूलाचा. १५९.

विप्रमुक्त:[1] आचार्यः ।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो[2] ।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥
देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ ॥ ३० ॥
संगह-णुग्गह[3]-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-सोहण[4]-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो[5] ॥ ३१ ॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो[6] नम इति यावत् ।

है उसे आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानोंका पारंगत है, ग्यारह अंगका धारी है, अथवा आचारांगमात्रका धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत है, मेरुके समान निश्चल है, पृथिवीके समान सहनशील है, जिसने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकारके भयसे रहित है, उसे आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास

और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतोंकी शुद्धि करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

---

१. तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युः भीतिराकस्मिकं ततः । क्रमादुद्दिष्टाश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ पञ्चाध्या. २, ५०४, ५०५.

२. 'सुद्धछावासो' ण वसो अवसो, अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । अथवा 'आवासो' इत्ययमर्थः, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गं इत्यमी इत्यमूनि षडावश्यकानि ॥ मूलारा. गा. ११६ टीका.

३, मु.-णिग्गह- । ४. मु.-साहण- ।

५. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥
मूलाचा. १५८. समाचार अ.

६. आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिः

'णमो उवज्झायाणं'[1] चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक-प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः।

चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो ॥ ३२ ॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्यो नमः[2]।

'णमो उवज्झायाणं' उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो। चौदह विद्यास्थानके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणोंको छोड़कर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ॥ ३२ ॥

ऐसे उपाध्यायोंको नमस्कार हो।

इत्याचार्याः। उक्तं च, सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य। गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा। आ मर्यादया वा चारो विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः। आह च, पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता। आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥ अथवा आ ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चारा हेरिका ये ते आचाराः चारकल्पा इत्यर्थाः। युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेयाः, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः। नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्। भग. १, १, १. टीका.

१. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे। उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥ मूलाचा. षडावश्यक १०, आ. नि. १०००. 'उ' त्ति उवओगकरणे 'ज्झ' त्ति य झाणस्स होइ णिद्देसे। एएण होति उज्झा एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ 'उ' त्ति उवओगकरणे 'व' त्ति अ पावपरिवज्जणे होइ। 'झ' त्ति अ झाणस्स कए 'ओ' त्ति अ ओक्करसणा कम्मे ॥ आ. नि. ९९८, ९९९. उप समीपमागत्याधीयते 'इङ् अध्ययने', इति वचनात् पठ्यते 'इण् गतौ' इति वचनाद्वा अधि आधिक्येन गम्यते, 'इक् स्मरणे' इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः। यदाह, बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे। तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥ अथवा उपधानमुपाधिः संनिधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषां ते। उपधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोभनानामायो लाभो येभ्यः। अथवा उपाधिरेव संनिधिरेव आयं इष्टफलं दैवजनितत्वेन अयानां इष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषां ते। अथवा आधीनां मनःपीडानामायो लाभ आध्यायः अधियां वा 'नञः कुत्सार्थत्वात्' कुबुद्धीनामायोऽध्यायः। ध्यै चिन्तायां इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्ध्यानं वाध्यायः। उपहत आध्यायः अध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः। नमस्यता चैषां सुसम्प्रदायायातजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति। भग. १, १, १. टीका.

२. मु. नम इति पाठः।

'णमो लोए सव्व साहूणं' अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुण-धराश्च साधवः।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू[1] ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः[2]।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओंको नमस्कार हो। जो अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले होते हैं ॥ ३३ ॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो।

---

१. गगणतलं व णिरालंबणा, वाउरिव अपडिबंधा, सारदसलिलं इव सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व इव जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो तेयसा जलंता अणगारा। सूत्र. २, २. ७०. उरगगिरिजलणसागरनहतलतरुगणसमो अ जो होई। भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो अ सो समणो ॥ अनु. पृ. २५६.

२. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो। समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥ मूलाचा. ५१२. आ. नि. १००५. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः। समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात् साधवः। यदाह, णिव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो। समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो ॥ साहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवः। सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवतामविशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम्। अथवा, सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वाः, ते च ते साधवश्च सार्वसाधवः। सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः। सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति, सार्वान् वा अर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा। अथवा श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा। एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात्। भग. १, १, १. टीका.

सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्त्यदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनाम्, अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः । तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न कारणकार्यत्वाद्भेदः, सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नभागस्य[1]

पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमस्कार मंत्रमें जो ' सर्व ' और ' लोक ' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

शंका---- जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है । अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान---- ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा (यदि रत्नत्रयकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहंत और सिद्धोंके रत्नत्रय पाया जाता है, उसीप्रकार आचार्यादिकके भी रत्नत्रयका सद्भाव पाया जाता है । इसलिये आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोंमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्ध परमेष्ठीमें स्थित रत्नोंसे भी भेद नहीं है । यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके रत्नत्रय सिद्ध परमात्माके रत्नत्रयसे भिन्न सिद्ध हो जावेंगे, तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कहलावेंगे ।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंमें कारण कार्यपनेसे भी भेद नहीं है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलोंके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरणकर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोंका अभाव होता जाता है, वैसे ही

---

१. मु. रत्नाभोगस्य ।

स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षापरोक्षकृतो भेदः, वस्तुपरिच्छित्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदः, निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः, अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूह-

कार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो

जैसे अप्रगट रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, वस्तु-परिच्छित्तिकी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं हो सकता है । यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद हो जायगा । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका— संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नोंका एकदेश देव नहीं हो सकता ।

समाधान— ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाका अभाव होने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहांसे आ सकता है ?

शंका— आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं ।

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये । इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है ।

शंका— सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहंत परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, संजातस्तत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया 'वादावर्हन्नमस्क्रियते'[1]। न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेःश्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः । उक्तं च––

जस्संतियं धम्मपहं[3] णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए तं सिर-पंचएण[4] काएण वाया मणसा य णिच्चं[5] ॥ ३४ ॥

मंगलस्स कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुच्चदे । कस्स णिमित्तं ? सुत्तावदारस्स । तं कधं जाणिज्जदि

प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे वह [illegible] और [illegible] अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है ।

विशेषार्थ–– पक्षपात वहीं संभव है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी ओर अधिक आकर्षण होता है । परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, अवस्थाभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहां पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

अथवा आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है––

जिसके समीप धर्म-मार्ग प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उसका, शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएं इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं––

शंका–– यहां पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान–– यहां पर सूत्रावसर अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

---

१. अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई । न वि कोइ य परिसाए पणमित्ता पणमई रन्नो ॥ आ. नि. १०१५.

२. मु. वर्हन्नमस्कारः क्रियते ।   ३. मु. धम्मवहं ।

४. प्रतिषु 'पंचमेण' इति पाठः । दो जाणू दोण्णि करा पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु । सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ॥ पञ्चा. वि. ३, १५.

५. जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो मनसा अ निच्चं । द. वै. ९, १२.

सुत्तावदारस्स, ण अण्णस्सेत्ति? पयरणादो। भोयण-वेलाए 'सेंधवमाणि' त्ति वयणादो लोण इव। बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-प्पमाणाणियोग-द्दारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु त्ति सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादो त्ति।

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदेतत्सर्व-मभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत। पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुन-र्घटत एव।

छद्दव्व-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिप्प-तेएण।
पस्संतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो[1] ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते। तत्र हेतुर्द्विविधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति। कस्य हेतुः?

शंका— यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं।

समाधान— यह बात प्रकरणसे जानी जाती है। जैसे–भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' इस प्रकारके वचनसे सैंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थंकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है।

शंका— द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है।

समाधान— यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती। परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु।

शंका— यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है?

---

१ छद्दव्वणवपयत्थे सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीए। देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण संछण्णा ॥ ति. प. १, ३४.

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुर्द्विविधः, साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च[1] । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयं नैश्रेयसमिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम साताद्रि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक--त्रायस्त्रिंशदादि--देव--चक्रवर्ति--बलदेव--नारायणार्धमण्डलीक--मण्डलीक--महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्[2] ।

समाधान--- यहां पर सिद्धांतके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । अज्ञानका विनाश और सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये ।

शंका--- कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है?

समाधान--- ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यय-ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिकके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्रेयससुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा, अधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं ।

१. सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होंदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥ देवमणुस्सादीहिं य सततमब्भच्चणप्पयाराणि । पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥ ति. प. १, ३६-३७.

२. इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादव्वं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ॥ दोभेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं । सादादिविविहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं ॥ इंदपडिंददिगिंदियतेत्तीससामरसमाणपहुदिसुहं । राजाहिराजमहाराजद्धमंडलिमंडलयाणं ॥ महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्खं । अट्ठारसमेत्ताण सामीसेणाण भत्तिजुत्ताणं ॥ ति. प. १, ३८-४१.

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।
राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई ।
सुद्द-क्खत्तिय-बम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥
गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।
अट्ठारह सेणीओ पयाइणा मेलिया होंति[1] ॥ ३८ ॥
पृतनाङ्ग-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्भुग्-गणेड्-महामात्राश्च ।
मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तराः स्युः श्रेण्यः ॥ ३९ ॥
पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।
राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥ ४० ॥
द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिकः ।
मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुःसहस्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमें उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं।

घोड़ा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक; ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

---

१ वररयणमउडधारी सेवयमाणा णवंति दह अट्ठं । देंता हवेदि राजा जितसत्तू समरसंघट्टे ॥ करितुरय-रहाहिवई सेणावइ य मंति-सेट्ठि-दंडवई । सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा ॥ गणरायमंतितलवर-पुरोहिया मंतया महामंता । बहुविहपइण्णया य अट्ठारसा होंति सेणीओ ॥ ति. प. १, ४२-४४.

अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधा: महामण्डलिकम् ।
षोडशराजसहस्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीश:[1] ॥ ४२ ॥
षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणिपतिसहस्र[illegible] ।

दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥
सकलभुवनैकनाथस्तीर्थंकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठै: ।
विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतु:षष्टि: ॥ ४४ ॥
तित्थयर-गणहरत्तं तहेव देविंद-चक्कवट्टित्तं ।
अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-सुहं[2] वियाणाहि[3] ॥ ४५ ॥

तत्र नै:श्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च–

अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं[4] ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमें बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र-रत्नको धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौंसठ चँवर ढुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमें तीर्थंकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसी प्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोंको अभ्युदयसुख समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहंत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको नैश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है—

अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद-

---

१ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो । रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महराजो ॥ दुसहस्समउडबद्धभुववसहो तच्च अद्धमंडलिओ । चउराजसहस्साणं अहिणाहो होइ मंडलियं ॥ महमंडलिओ णामो अट्ठसहस्साण अहिवई ताणं । रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं ॥ ति. प. १, ४५–४७.

२ मु.--फलं ।

३ छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ । होदि हु सयलचक्की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥ ति. प. १, ४८. बलवासुदेवादीनां पराक्रमवर्णनाय किञ्चिदुच्यते, सोलसरायसहस्सा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति वासुदेवं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं । भुंजिज्ज विलिंपिज्ज व महुमहणं ते न चाएंति ॥ दो सोला बत्तीसा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति चक्कवट्टिं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥ आ. नि. ७१-७५.

४ प्रवच. १, १३. 'सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं' इति पाठभेद: ।

भाविय-सिद्धंताणं दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं ।
ससिर-यर-कर-सरिच्छं हवइ चरित्तं स-वस-चित्ताणं ॥ [illegible] सागर श्री महाराज
मेरु व्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ-मलं ति-मूढ-उम्मुक्कं ।
सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा[1] ॥ ४८ ॥
तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देव-मणुय-खयराणं ।
उम्मूलियट्ठ-कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणादो[2] ॥ ४९ ॥
जिय[3]-मोहिंधण-जलणो अण्णाण-तमंधयार-दिणयरओ ।
कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिण-वयणमिवोवही सुहयो ॥ ५० ॥
अण्णाण-तिमिर-हरणं सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं ।
उज्जोइय-सयल-वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह[4] ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धोंको होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढ़ताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

यह जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञान-रूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१. सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं । अदिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥ सुदणाणभावणाए णाणं मत्तंड-किरण-उज्जोओ । आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥ कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयट्ठमलं । जायदि पवयणपढणे सम्मद्दंसणमणुवमं णं ॥ ति. प. १, ४९–५१.

२. सुरखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइ आरिसब्भासा । तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदघादुणट्ठमलं ॥ ति. प. १, ५२.

३. 'अ.' प्रतौ 'जियमोहिंधणजलणो' इत्यादि गाथाद्वयं नास्ति ।

४. गाथाङ्कौ ५०-५१ तमे ताप्रतौ न स्तः ।

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुर्मोक्षः, शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्त-हेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्चदे - अक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं । पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं । शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते[1] । णामं जीवट्ठाणमिदि । कारणं पुव्वं व वत्तव्वं ।

तत्थ कत्ता दुविहो[2]-- अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि । तत्थ अत्थ-कत्ता दव्वादीहि चउहि परूविज्जदि । तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपणं क्रियते, स्वेद-रजो-मल-रक्तनयन-कटाक्षशरमोक्षादि-शरीरगताशेषदोषादूषित-समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभसंहनन-दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-विशिष्टदेहधरः

अथवा, जिनपालित इस श्रुतावतारके निमित्त हैं और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है । यहां पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे पाठकजनोंको हर्षका उत्पन्न करना ही प्रयोजन है ।

अब परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग द्वारोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण संख्यात है और अर्थ अर्थात् तद्वाच्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है । पदकी अपेक्षा अठारह हजार प्रमाण है । शिक्षकजनोंको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये और मतिसंबन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यहां पर परिमाण कहा गया है ।

नाम-- इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है ।

कारण-- कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसी प्रकार यहांपर भी उसका व्याख्यान करना चाहिये ।

कर्ताके दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता । इनमेंसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार के द्वारा निरूपण किया जाता है । उनमेंसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं--

पसीना, रज अर्थात् बाह्य कारणोंसे शरीरमें उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रक्त-नेत्र और कटाक्षरूप बाणोंका छोड़ना आदि शरीरमें होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, दिव्य-सुगन्धमयी, सदैव योग्य प्रमाणरूप नख और रोमवाले, आभूषण, आयुध, वस्त्र और भयरहित सौम्य-मुख आदिसे

---

१. विविहत्थेहि अणंतं संखेज्जं अक्खराणगणणाए । एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं ॥
ति. प. १, ५३.

२. कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगंथभेदेहि । दव्वादिचउपयारेहि भासिमो अत्थकत्तारो ॥ सेदरजाइमलेणं रत्तच्छिकडक्खबाणमोक्खेहि । इयपहुदिदेहदोसेहि संततमदूसिदसरीरो ॥ आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो । दिव्ववरगंधधारी पमाणट्ठिदरोमणखरूवो ॥ णिब्भूसणायुधंबरभीदी सोम्माणणादिदिव्वतणू । अट्ठब्भहियसहस्सपमाणवरलक्खणोपेदो ॥ चउविहउवसग्गेहि णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो । छुहपहुदिपरिसहेहि परिचत्तो रायदोसेहि ॥ ति. प. १, ५५-५९.

चतुर्विधोपसर्गक्षुधादिपरिषह-रागद्वेषकषायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा-सप्तशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकार-न्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र[1]-विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्ध-महामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिट्ठोत्थ-कत्ता परूविज्जदि—

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे[2] ॥ ५२ ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स ।

अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ—

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग, क्षुधा आदि बावीस परीषह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-विषय आदि संपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यंच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि, देव तथा विद्याधर-मनुष्य-ऋषि और तिर्यंचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पंचशैलपुरमें (पंचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास) रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे वन्दित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य-जीवोंको अर्थका उपदेश दिया अर्थात् दिव्य-ध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थों और मोक्षमार्ग आदिका उपदेश दिया ॥ ५२ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

१. जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो । मिदमधुरगंभीरतरा विसदविसयसयलभासाहिं ॥ अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा । अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥ एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं । परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो ॥ भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसववलेहिं । विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥ एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो । दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ६०–६४.

२. जयधवलायां गाथेयं 'सिद्धचारणसेविदे' इति चतुर्थचरणपाठभेदेनोपलभ्यते । सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥ ति. प. १, ६५. ईरेइ विसेसेण व खवेइ कम्माई गमयइ सिवं वा । गच्छइ य तेण वीरो स महं वीरो महावीरो ॥ वि. भा. १०६५.

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां[1] चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः ।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र[2] ॥ ५३ ॥

धनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु ततः ।
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृताः[3] ॥ ५४ ॥

एसो खेत्त-परिच्छेदो ।

तत्थ कालदो अत्थ-कत्ता परूविज्जदि——

इमिस्से[4] वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए ।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते[5] ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामें चौकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार और नैऋत दिशामें विपुलाचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥५३॥

पश्चिम, वायव्य और सौम्य दिशामें धनुषके आकारवाला फैला हुआ छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामें वृत्ताकार पाण्डु नामका पर्वत हैं । ये सब पर्वत कुशके अग्रभागोंसे ढके हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र-परिच्छेद समझना चाहिये ।

अब कालकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं——

इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा-सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें, प्रथमपक्ष अर्थात्

१. जयधवलायां ' भूगिरि ' इति पाठः ।

२. चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो । णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥ ति. प. १, ६६.

३. धनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसोमदिक्षु ततः । वृत्ताकृतिरीशाने पांडुः सर्वे कुशाग्रवृताः । जयध. अ. पृ. ९. चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु । ईसाणाए पंडुव वट्टो सव्वे कुसग्गपरियरणा ॥ ति. प. १, ६७. ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः । दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥ वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः । दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥ सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः । शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ह. पु. ३, ५३–५५.

४. मु. इम्मिस्से ।

५. एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि । तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥

वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि[1] ॥ ५६ ॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो ।
अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ[2] जुगाई[3] मुणेयव्वो[4] ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते — ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिशयजातानन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-प्राप्त्यतिशयभूत-नव-केवल-लब्धि-परिणतः[5] । उक्तं च—

कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई [illegible] सागर जी महाराज

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाके दिन रुद्रमुहूर्तमें सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥ यह काल-परिच्छेद हुआ ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्तिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद-भेदरूप नौ लब्धियोंसे युक्त होकर भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । कहा भी है—

---

१. वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए । अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥ ति. प. १, ६८–६९.

२. मु. अत्थ ।

३. जुगाइ (युगादि) युगारम्भे, युगारम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासि तिथिमुहूर्तादौ च । आदी जुगस्स संवच्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ । दिवसा भरहेरवए राईया सह विदेहेसु ॥ युगस्य × × संवत्सर-पंचकात्मकस्यादिः संवत्सरः । स च श्रावणतः आषाढपौर्णमासीचरमसमयः । ततः प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति । तस्यापि च मासस्य श्रावणस्यादिरर्धमासः पक्षः पक्षद्वयमीलनेन मासस्य संभवात् । सो वि य पक्षो बहुलो वेदितव्यः पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात् । × × । दिवसाइ अहोरत्ता बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि । अभिई नक्खत्ताई रुद्दो आई मुहुत्ताणं ॥ सावण-बहुलपडिवए बालवकरणे अभिइनक्खत्ते । सव्वत्थ पढमसमए जुगस्स आइं वियाणाहि ॥ ज्यो. क. २ पाहुड । कथ्यन्ते ये च कालांशाः सुषमसुषमादयः । आरम्भं प्रतिपद्यन्ते सर्वे तेऽपि युगादितः ॥ लो. प्र. २५, ४७१.

४. सावणबहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो । अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥ ति. प. १, ७०. श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्ने शासनार्थमुदाहरत् ॥ ह. पु. २, ९१.

५. णाणावरणप्पहुदि अ णिच्छयववहारपायअतिसयए । संजादेण अणंतं णाणेणं दंसणसुहेणं ॥ विरिएण तहा खाइयसम्मत्तेणं पि दाणलाहेहिं । भोगोपभोगणिच्छयववहारेहिं च परिपुण्णो ॥ ति. प. ७१, ७२.

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।
णव केवल-लद्धीओ दंसण-णाणं चरित्ते य ॥ ५८ ॥[1]
खीणे दंसण-मोहे चरित्त-मोहे तहेव[2] घाइ-तिए ।
सम्मत्त-विरिय-णाणं खइयाइं होंति केवलिणो[3] ॥ ५९ ॥
उप्पण्णम्हि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे ।
णव-विह-पयत्थ-गब्भा दिव्वज्झुणी कहेइ सुत्तट्ठं[4] ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदम-गोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह[5]-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो[6] । उत्तं च—

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल-लब्धियाँ हैं

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षय हो जानेपर तथा शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जानेपर केवलीजिनके सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥५९॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जानेपर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर नौ प्रकारके पदार्थोंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती है । अर्थात् केवलज्ञान हो जानेपर भगवान्‌की दिव्यध्वनि खिरती है ॥ ६० ॥

इस प्रकार भगवान् महावीर अर्थ-कर्ता हैं । इस प्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन भगवान् महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गौतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुतिमें पारंगत, और जीव-अजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूतिने अवधारण किया । कहा भी है—

---

१. अ. प्रतौ गाथेयं नास्ति । २. मु. चउक्क ।

३. खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाइतिए । सम्मत्तणाणविरिया खइया ते होंति केवलिणो ॥ जयध. अ. पृ. ८. दंसणमोहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि । सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होंति खइयाई ॥ ति. प. १, ७३.

४. जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदम्मि णाणम्मि । णवविहपदत्थसारा दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थं ॥ अण्णेहिं अणंतेहिं गुणेहिं जुत्तो विसुद्धचारित्तो । भवभयभंजणदच्छो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ७४-७५.

५. महवीरभासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थकाले य । खायोवसमविवड्ढिदचउरमलमईहिं पुण्णेणं ॥ लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसएसु । संदेहणासणत्थं उवगदसिरिवीरचलणमूलेण ॥ विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं । चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण ॥ ति. प. १, ७६–७८.

६. मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामिन्द्रभूतिः सकलवेदवेदाङ्गपारगः सन्नपि जीवास्तित्वविषये संदिग्ध एवासीत् ।

गोत्तेण गोदमो[1] विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि ।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा[2] । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदाणं च तित्थयरो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण वि[3] गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं । तेण वि जंबूसामिस्स संचारिदं । परिवाडिमस्सिदूण एदे तिण्णि वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडिए पुण सयल-सुद-पारगा संखेज्ज-सहस्सा ।

गौतमगोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और षडंगविद्याका पारगामी, शीलवान् और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थोंकी एक ही मुहूर्तमें क्रमसे रचना की । अतः भावश्रुत और अर्थ-पदोंके कर्ता तीर्थंकर हैं । तथा तीर्थंकरके निमित्तसे गौतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्ता गौतम गणधर हैं। इसतरह गौतम गणधरसे ग्रन्थरचना हुई । उन गौतम गणधरनेभी दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान लोहार्यको दिया । लोहार्यनेभी जम्बूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं। और यदि परिपाटी-क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुतके धारी हुए ।

प्रश्नानन्तरं समवसरणं समभ्येत्य प्रवृज्य च श्रीवर्धमानस्वामिनं पप्रच्छ कि जीवोऽस्ति नास्ति वा किंगुणः कियान् कीदृग् ?' तदा जीवोऽस्त्यनादिनिधनः शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता । × × इत्याद्यनेकभेदैस्तथा स जीवादिवस्तु सद्भावम् । दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरबोधत् । इन्द्र. श्रुता. ४५-६४. देवैः क्रियमाणां समवसरणलक्षणां महिमां दृष्ट्वाऽमर्षितः सन्निन्द्रभूतिर्भणति-भो भो ब्राह्मणवराः ! मां मुक्त्वा किमेष नागरलोकस्तस्य कस्यचित्पादमूलं धावति ? ननु महत्कुतूहलं कथयतात्रनिबन्धनमिति महाप्रलयमेघ इव गर्जित्वा समवसरणं प्रविष्टो वादार्थम् । परं च तत्र श्रीवीरं दृष्ट्वा हतप्रभ इव सशङ्कितः सन् पुरतः स्थितः । तदा भगवता वीरेणाभाषितः ' किं मन्ने अत्थि जीवो उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ । वेयपयाण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ' (आ. नि. ५५०) ततश्च निःसंशयः सन्नसौ प्रव्रजितः । वि. भा. २०१८-२०८३.

१. गोतमा गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती । तां वेत्ति तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः ॥ गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद्गौतमो मतः । तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वञ्चासीर्गौतमश्रुतिः ॥ इन्द्रेण प्राप्त-पूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । साक्षात्सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकण्ठिकः ॥ आ. पु. २, ५२-५४.

२. भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं । चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदा ॥ ति. प. १, ७९.

३. मु. तेण गोदमेण ।

गोदमथेरो[1] लोहज्जाइरियो[2] जंबूसामी य एदे तिण्णि वि सत्त-विह-लद्धि-संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होऊण केवलणाणमुप्पाइय णिव्वुइं पत्ता[3]। तदो विण्हू णंदिमित्तो अवराइदो गोवद्धणो भद्दबाहु त्ति एदे पुरिसोली-कमेण पंच[4] वि चोद्दस-पुव्व-हरा। तदो विसाहाइरियो पोट्ठिलो खत्तियो जयाइरियो णागाइरियो सिद्धत्थथेरो[5] धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिल्लो गंगदेवो धम्मसेणो त्ति एदे[6] पुरिसोली-कमेण एक्कारस वि आइरिया एक्कारसण्हमंगाणं उप्पायपुव्वादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चदुण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य। तदो णक्खत्ताइरियो जयपालो पांडुसामी धुवसेणो[7] कंसाइरियो त्ति एदे पुरिसोली-कमेण पंच[8] वि आइरिया एक्कारसंग-धारया जादा, चोद्दसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य। तदो सुभद्दो जसभद्दो[9] जसबाहू[10] लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि[11] वि आइरिया आयारंग-धरा

गौतमस्थविर, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त और सकल-श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमें केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु ये पांचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी-क्रमसे ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष उपरिम चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पांचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांगके धारक और

---

१. मु. गोदमदेवो।

२. जयधवलायामिन्द्रनन्दिश्रुतावतारे च लोहार्यस्य स्थाने सुधर्माचार्यस्योल्लेखोऽस्ति। तद्यथा-तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहम्माइरियस्स गंथो वक्खाणिदो। जयध. अ. पृ. ११. प्रतिपादितं ततस्तच्छ्रुतं समस्तं महात्मना तेन। प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय॥ इन्द्र. श्रुता. ६७.

३. वासट्ठि वरिसकालो अणुवट्टिय तिण्णि केवलिणो। त्र. श्रु. ६७.

४. एदेसिं पंचण्हं पि सुदकेवलीणं कालो वस्ससदं १००। जयध. अ. पृ. ११.

५. मु. सिद्धत्थदेवो।

६. तेसिं कालो तिसीदिसदवस्साणि १८३। जयध. अ. पृ. ११.

७. 'द्रुमसेनः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८१.

८. एदेसिं कालो वीसुत्तरविसदवासमेत्तो २२०। जयध. अ. पृ. ११.

९. 'अभयभद्रः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८३.

१०. 'जहबाहू' इति पाठः। जयध. अ. पृ. ११. 'जयबाहुः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८३.

११. एदेसिं × × कालोअट्ठारसुत्तरं वाससदं ११८. जयध. अ. पृ. ११.

सेसंग-पुव्वाणमेग-देस-धरा य[1] । तदो [2]सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेग-देसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ।

तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण[3] अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो होहिदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो[4] । लेह-ट्ठिय-धरसेणाइरिय[5]-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-बहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए

शेष अंग तथा पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए । इसके बाद सभी अंग और पूर्वोका एकदेश आचार्य-परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ ।

सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहनेवाले, अष्टांग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अंग-श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु-सम्मेलनमें संमिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिणदेशके निवासी) आचार्योंके पास एक लेख भेजा । लेखमें लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझकर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थको ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नाना प्रकारकी उज्वल और निर्मल विनयसे विभूषित अंगवाले, शीलरूपी मालाके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश, उत्तम कुल और उत्तम जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त कलाओंमें पारंगत, और तीन बार पूछा है आचार्योंसे जिन्होंने, (अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे दो साधुओंको आन्ध्र-देशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा ।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान

१. मु.– धारया ।

२. एदेसिं सव्वेसिं कालाणं समासो छस्सदवासाणि तेसीदिवासससहियाणि ६८३ वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वाणं गदे । जयध. अ. पृ. २१.

३. देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ । चंद्रगुहाविनिवासी महातपाः परममुनिमुख्यः ॥ अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहाकर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाभूत् ॥ इन्द्र. श्रुता. १०३, १०४.

४. देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा-समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥ इन्द्र. श्रुता. १०६.

५. मु. धरसेण ।

पच्छिमभाए[1] कुंदेंदु-संखवण्णा सव्व-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु णिसुढिय[2]-पदियंगा बे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा। एवंविह-सुमिणं दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरिएण 'जयउ सुय देवदा' त्ति संलवियं[3]। तद्दिवसे चेय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं। तदो धरसेण-भयवदो[4] किदियम्मं काउण दोण्णि दिवसे वोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहि विण्णत्तो 'अणेण कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुवगया' त्ति। 'सुट्ठु भद्दं' ति भणिऊण धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा। तदो चिंतिदं भयवदा–

सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहय-सुएहि।
मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा[5] ॥ ६२ ॥
दढ-गारव-पडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो।
सो भट्ठ-बोहि-लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) को तीन प्रदक्षिणा दी है और जिनके अंग नम्रित होकर आचार्यके चरणोंमें पड़ गये हैं ऐसे दो बैलोंको धरसेन भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देखा। इस प्रकारके स्वप्नको देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' ऐसा वाक्य उच्चारण किया।

उसी दिन दक्षिणापथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए। उसके बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि 'इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए हैं।' उन दोनो साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर 'अच्छा है, कल्याण हो' इसप्रकार कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आश्वासन दिया। इसके बाद भगवान धरसेनने विचार किया कि–

शैलघन, भग्नघट, अहि (सर्प), चालनी, महिष, अवि (मेंढ़ा), जाहक (जोंक), शुक, माटी और मशकके समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है, वह मूढ़ दृढ़ रूपसे ऋद्धि आदि तीनों प्रकारके गारवोंके आधीन होकर विषयोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१. मु. पच्छिमे भाए। २. 'आराक्रान्ते नमेर्णिमुढः'–हे. ८, ४, १५८.

३. आगमनदिने च तयोः पुरैव धरसेनसूरिरपि रात्रौ। निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥ तत्स्वप्नेक्षणमात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन्। उदतिष्ठदतः प्रातः समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥

इन्द्र. श्रुता. ११२, ११३.

४. ईसरिय-रूव-सिरि-जस-धम्म पयत्तामया भगाभिक्खा। ते तेसिमसामण्णा संति जओ तेण भगवंते ॥

वि. भा. १०५३.

५. सेलघण कुडग चालिणि परिपूणग हंसमहिसमेसे य। मसग जलूग बिराली जाहग गो भेरि आभीरी बृ. क. सू. ३३४., आ. नि. १३९.

विशेषार्थ— शैलनाम पाषाणका है और घन नाम मेघका है। जिसप्रकार पाषाण, मेघके चिरकालतक वर्षा करनेपर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसी प्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकालतक भी धर्मामृतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमलपरिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फूटे घड़ेको कहते हैं। जिस प्रकार फूटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं ठहरता, इसी प्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सांपका है। जिस प्रकार मिश्री मिश्रित-दुग्धके पान करनेपर भी सर्प विषको ही वमन करता है, उसी प्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते है अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गीरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रख लेती है, इसी प्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं और निःसार तत्त्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिषा अर्थात् भैंसा जिस प्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परंतु बारबार डुबकी लगाकर उसे गंदला कर देता है, उसी प्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषसमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम मेष (मेंढा) का है। जैसे मेंढा पालनेवालेकोही मारता है, उसी प्रकार जो उपदेशदाताकी ही निन्दा करते हैं और समय आनेपर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अविके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रकृतमें जोंक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जोंकको स्तनपर भी लगावें तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है, इसी प्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्वको ही ग्रहण करते हैं वे जोंकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ शुक नाम तोतेका है। तोतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसी प्रकार उपदेश स्मरणकर लेनेपर भी जिनके हृदयमें भाव-भासना नहीं होती है वे शुकसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके संयोग मिलने पर तो कोमल हो जाती है, पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसी प्रकार जो उपदेश मिलनेतक तो मृदु-परिणामी बने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता है ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुनगुनाता है, चरणोंमें गिरता है किंतु अवसर पाते ही काट खाता है, उसी प्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेश-दाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना न रहेंगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है।

किसी किसी शास्त्रमें उक्त नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है किंतु कुश्रोताका भाव यहां पर अभीष्ट है।

इदि वयणादो जहाछंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-वड्ढणमिदि चिंतेऊण

सुहसुमिण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता 'सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइकरेत्ति'। तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ[1]। तत्थ एया अहियक्खरा, अवरा विहीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दंतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतेऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहि हीणाहियक्खराणं छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम्म[2]-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणंतेण तेण आसाढ[3]-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ-बलि-संख-

---

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोताओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचार कर, शुभ स्वप्नके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषताको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमें संतोषको उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनों साधुओंको दो विद्याएं दीं। उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी। दोनोंको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको षष्ठभक्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवाससे सिद्ध करो। इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवीके दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। 'विकृतांग होना देवताओंका स्वभाव नहीं होता है' इस प्रकार उन दोनोंने विचारकर मन्त्र-संबन्धी व्याकरण-शास्त्रमें कुशल उन दोनोंने हीन अक्षरवाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेंसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया। जिससे वे दोनों विद्या-देवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं। तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय-सहित उन दोनोंके विद्या-सिद्धिसंबन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करनेपर 'बहुत अच्छा' इस प्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमें ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया। इसतरह क्रमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आषाढ़ मासके शुक्लपक्षकी एकादशीके पूर्वाण्हकालमें ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिए संतुष्ट हुए भूत जातिके व्यन्तर देवोंने उन दोनोंमेंसे एककी

---

१. सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति सञ्चिन्त्य दत्तवान् सूरिः। साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥ इन्द्र. श्रुत. ११५.

२. म. सोम। ३. म. वक्खाणंतेण आसाढ।

तूर-रव-संकुला कया । तं दट्ठूण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण णामं कयं । अवरस्स वि भूदेहि पूजियस्स अत्थ-वियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं ।

पुणो ते[1] तद्दिवसे[2] चेव पेसिदा संता 'गुरु-वयणमलंघणिज्जं' इदि चिंतिऊणागदेहि अंकुलेसरे वरिसा-कालो कओ । जोगं समाणीय जिणवालियं[3] दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासि[4]-विसयं गदो । भूदबलि-भडारओ वि दमिल-विसयं[5] गदो । तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण वीसदि[6]-सुत्ताणि[7] करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयवंतस्स पासं पेसिदो । भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे दिट्ठ-वीसदि-सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्ण-बुद्धिणा पुणो दव्व-पमाणाणुगममादिं काऊण गंथ-रचणा कदा । तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति ।

पुष्प, बलि तथा शंख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बड़ी भारी पूजा की । उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका 'भूतबलि' यह नाम रक्खा । तथा जिनकी भूतोंने पूजा की है, और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दांत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा ।

तदनन्तर उसी दिन वहांसे भेजे गये उन दोनोंने 'गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा अलंघनीय होती है' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया । वर्षायोगको समाप्त कर और जिनपालितको देखकर (उसके साथ) पुष्पदन्त आचार्य तो वनवासि देशको चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देशको चले गये । तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा । तदनन्तर जिन्होंने जिनपालितके पास बीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं । इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की । इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं ।

---

१. मु. पुणो तद्दिवसे । २. 'द्वितीयदिवसे' इति पाठः । इन्द्र. श्रुता. १३३.

३. 'स्वभागिनेयं' इति विशेषः । इन्द्र. श्रुता. १३४. ४. मु. वणवास ।

५. मु. दमिलदेसं । अ. प्रतिमें देसं पाठः ६. मु. तथा अ. प्रतिमें वीसदि ।

७. प्राक्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणाद्या । युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ।। इन्द्र. श्रुता. १३५.

तदो मूल-तंत-कत्ता वड्ढमाण-भडारओ, अणुतंत-कत्ता गोदम-सामी, उवतंतकत्तारा भूदबलि-पुप्फयंतादयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा। किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम्[1] 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात् ।

संपहि जीवट्ठाणस्स[2] अवयारो उच्चदे । तं जहा– सो वि चउव्विहो उवक्कमो णिक्खेवो णयो अणुगमो चेदि । तत्थ उवक्कमं भणिस्सामो । उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः[3] । सो वि उवक्कमो पंचविहो–आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । उत्तं च––

तिविहा य आणुपुव्वी दसहा णामं च छव्विहं माणं ।

वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इदि ।

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं।

शंका–– यहां पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान–– शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहां पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, 'वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनोंमें प्रमाणता आती है' ऐसा न्याय है।

अब जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध नामक जिस षट्खण्डागमकी रचना की। उनमेंसे, प्रकृतमें यहां जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिका क्रम कहते हैं। वह इसप्रकार है––

वह अवतार चार प्रकारका है– उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम। उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं। उस उपक्रमके पांच भेद हैं– आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, और अर्थाधिकार। कहा भी है–

आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद हैं ॥६४॥

१. इयमूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदि विप्पवरे। उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस आइरिया ॥ णिण्णट्ठरायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो। किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं ॥ ति. प. १, ८०,-८१.

२. पुष्पदन्तभूतबलिभ्यां प्रणीतस्यागमस्य नाम 'षट्खण्डागमः' तस्येमे षट् खण्डाः– १ जीवस्थानं २ क्षुद्रबन्धः ३ बन्धस्वामित्वविचयः ४ वेदनाखण्डः ५ वर्गणाखण्डः ६ महाबन्धश्चेति। एषां षण्णां खण्डानां मध्ये प्रथमतत्त्वावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डस्यावतारो निरूप्यते।

३. प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ आ. पु. २. १०३. सत्थस्सोवक्कमणं उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा। सत्थसमीवीकरणं आणयणं नासदेसम्मि ॥ वि. भा. ९१४.

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी । जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी[1] । तिस्से उदाहरणं– ' उसहमजियं च वंदे[2] ' इच्चेवमादि । जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी[3] । तिस्से उदाहरणं—

एस करेमि य पणमं जिणवर-वसहस्स वड्ढमाणस्स ।
सेसाणं च जिणाणं सिव-सुह-कंखा विलोमेण[4] ॥ ६५ ॥ इदि

जमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी[5] । तिस्से उदाहरणं—

गय-गवल-सजल-जलहर-परहुव-सिहि-गलय-भमर-संकासो ।
हरिउल-वंस-पईवो सिव-माउव-वच्छओ जयऊ ॥ ६६ ॥ इच्चेवमादि ।

पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी इसतरह आनुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं । उसका उदाहरण इसप्रकार है– ' ऋषभनाथको वन्दना करता हूं, अजितनाथकी वन्दना करता हूं ' इत्यादि क्रमसे ऋषभनाथको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी-क्रमसे (प्रतिलोम-पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं । जैसे—

मोक्ष-सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करता हूं । और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूं ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके विना जहां कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे—

हाथी, अरण्यभैंसा, जलपरिपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके

---

१. जं जेण कमेण सुत्तकारेहि ठइदमुप्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम । जयध. अ. पृ. ३.

२. उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ सुविहिं च पुप्फदंतं सीयलसेयं च वासुपुज्जं च । विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुणिसुव्वयं च । णमिं वंदामि अरिट्ठणेमिं तह पासवड्ढमाणं च ॥ एवमए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा । चउवीसं वि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ द. भ. पृ. ४.

३. तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुव्वी । जयध. अ. पृ. ३.

४. एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणं च । सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥ मूलाचा. १०५.

५. जत्थ वा तत्थ वा अप्पणो इच्छिदमादिं काढूण गणणा जत्थतत्थाणुपुव्वी । जयध. अ. पृ. ३.

इदं पुण जीवट्ठाणं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं

पढम-खंडं जीवट्ठाणमिदि। वेयणा-कसिण-पाहुड-मज्झादो अणुलोम-विलोम-कमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि-अहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं। जीवट्ठाणे ण पच्छाणुपुव्वी संभवइ।

णामस्स दस[1] ट्ठाणाणि भवंति। तं जहा, गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाधण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि।

गुणानां भावो गौण्यम्। तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि[2]। यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि। नोगौण्यपदं[3] नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप

समान वर्णवाले, हरिवंशके प्रदीप, और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥ ६६ ॥ इत्यादि यथातथानुपूर्वीका उदाहरण समझना चाहिये।

यह जीवस्थान नामक शास्त्र खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, षट्खण्डागममें जीवस्थान प्रथम खण्ड है। वेदनाकषायप्राभृतके मध्यसे अनुलोम और विलोमक्रमके बिना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलिये जीवस्थान यथातथानुपूर्वीमें भी गर्भित है। किंतु इस जीवस्थान खण्डमें केवल पश्चादानुपूर्वी संभव नहीं है।

नाम-उपक्रमके दश भेद हैं। वे इसप्रकार हैं— गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद।

गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं। जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्यपदार्थ हैं। वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद-नाम कहते हैं। अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं। जैसे, सूर्यको तपन और भास् गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएं हैं। जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपद-नाम कहते हैं। जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम।

---

१. से किं दसनामे पण्णत्ते ? तं जहा, गोण्णे नोगोण्णे आयाणपएणं पडिवक्खपएणं पहाणयाए अणाइअसिद्धतेणं नामेणं अवयवेणं संजोगेणं पमाणेणं। अनु. १, १२७.

२. से किं तं गोण्णे ? गोण्णे खमइ त्ति खमणो, तवइ त्ति तवणो, जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो। से तं गोण्णे। अनु. १, १२८.

३. नो गोण्णे अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अलालं पलालं अकुलिया सकुलिया अमुद्दो समुद्दो नोपल्लं असइ त्ति पलासं, अमाति वाहए माइवाहए, अबीय वावए बीयवावए, नो इंदगोवइए त्ति इंदगोवे से तं नो गोण्णे। अनु. १, १२८.

इत्यादीनि नामानि । आदानपदं[1] नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम् । नैतद्गुणनाम्नोऽन्तर्भवति, तत्रादानादेयत्वविवक्षाभावात् । भावे वा न तद्गुणाश्रितम्, आदानपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । पूर्णकलश इत्येतदादानपदम् । नादानपदम् । तद्यथा– घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता, तस्यास्तथाविधविवक्षामन्तरेण प्रवृत्तायाः समुपलम्भात् । न पूर्णशब्दोऽपि, तस्य पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाम्नोऽन्तर्भावात् । नोभयसमासोऽपि, तस्य भावसंयोगेऽन्तर्भावादिति ? न, जलादिद्रव्याधारत्वविवक्षायां पूर्णकलशशब्दस्यादान-

विशेषार्थ— जिन मनुष्योंके चन्द्रस्वामी आदि नाम रक्खे जाते हैं उनमें चन्द्र आदिका न तो स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं । केवल ये नाम रूढ़िसे रक्खे जाते हैं । इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नहीं पायी जाती है, इसलिये इन्हें नोगौण्यपदनाम कहते हैं ।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, अर्थात् जिनमें द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं ।

विशेषार्थ— आदानपदनामोंमें, संयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्थाविशेषकी वाचक संज्ञाएं ली जाती हैं । अर्थात् आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं ।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनामोंमें आदान-आदेय भावकी विवक्षा नहीं रहती है । यदि गुणनामोंमें भी आदान-आदेय भावकी विवक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नहीं रह सकते हैं, क्योंकि, आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जायगा ।

'पूर्णकलश' इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये ।

शंका— 'पूर्णकलश' यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है । इसका खुलासा इस-प्रकार है– घटको 'कलश' यह संज्ञा ग्रहण किए गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है, क्योंकि 'कलश' इस संज्ञाकी द्रव्यादिकके निमित्तकी विवक्षाके बिना ही प्रवृत्ति देखी जाती है । इसी-तरह 'पूर्ण' यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, 'पूर्ण' यह शब्द पर्याप्तका वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है । पूर्ण और कलश इन दोनों पदोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसंयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान— ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपनेकी विवक्षामें 'पूर्णकलश' इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है ।

१. से किं तं आयाणपदेणं ? धम्मो मंगलं, चूलिया चाउरंगिज्जं असंखयं आवंती तत्थिज्जं अहइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं एलइज्जं वीरियं धम्मो मग्गो समोसरणं गंथो जं महियं से तं आयाणपएणं, । अनु. १, १२८.

पदत्वाभ्युपगमात् । एवमविधवेत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अक्लिष्टानि कानि पुनरादानपदनामानि ? वधूरन्तर्वत्नीत्यादीनि, आत्तभर्तृधृतापत्यनिबन्धनत्वात् । प्रतिपक्षपदानि[1] कुमारी वन्ध्येत्येवमादीनि, आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः, स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम्[2] । प्राधान्यपदानि[3] आम्रवनं निम्बवनमित्यादीनि, वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्वविवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यभूतपिचुमन्द-

---

विशेषार्थ— जलादि द्रव्य आदान है और कलश आदेय है । इसलिये ' पूर्णकलश ' इस शब्दका आदानपदनाममें अन्तर्भाव होता है । यह बात गौण्यपदनाममें नहीं है, इसलिये उसमें उसका अन्तर्भाव नहीं होसकता है यदि गौण्यपदमें इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो वह गौण्यपद न कहलाकर आदानपदकी कोटिमें आ जायगा ।

इसीप्रकार ' अविधवा ' इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ।

शंका— अक्लिष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे हैं ?

समाधान— वधू और अन्तर्वत्नी इत्यादि सरल आदानपदनाम समझना चाहिये, क्योंकि, स्वीकृत पतिकी अपेक्षा वधू और धारण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा ' अन्तर्वत्नी ' संज्ञा प्रचलित है ।

कुमारी, वन्ध्या इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम हैं, क्योंकि, आदानपदोंमें ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहां पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता है । इसलिये आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष-कारणक होनेसे कुमारी या वन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष-पदनाम जानना चाहिये ।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपदनाम कहते हैं । जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि । अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है । वह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं ।

बहुतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं । जैसे आम्रवन निम्बवन

---

१. से किं तं पडिवक्खपएणं ? पडिवक्खपदेणं नवेसु गामागारणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासम-संवाहसंनिवेसेसु संनिविसमाणेसु असिवा सिवा, अग्गी सीअलो, विसं महुरं, कल्लालघरेसु अंबिलं साउअं, जे रत्तए से अलत्तए, जे लाउए से अलाउए, जे सुंभए से कुसुंभए, आलवंते विवलीअभासए, से त्तं पडिवक्खपएणं । अनु. १, १२८.

२. अनादियसिद्धंतेणं, धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए से त्तं अनादियसिद्धंतेणं । अनु. १, १२८.

३. पाहण्णयाए असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपगवणे चूअवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे से त्तं पाहण्णयाए । अनु. १, १२८.

निबन्धनत्वात् । नामपदं[1] नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति, गौडान्ध्रद्रमिलभाषानाम-धामत्वात् । प्रमाणपदानि[2] शतं सहस्रं द्रोणः खारी पलं तुला कर्षादीनि, प्रमाणनाम्नां प्रमेयेषूपलम्भात् ।

अवयवपदानि[3] यथा । सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोपचितावयवनिबन्धनानि यथा, गलगण्डः शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि । अवयवापचयनिबन्धनानि यथा छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । संयोग-पदानि[4] यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । द्रव्यसंयोगपदानि यथा— इभ्यः गौथः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि, द्रव्यसंयोगनिबन्धनत्वात् तेषां ।

इत्यादि । वनमें अन्य अविवक्षित वृक्षोंके रहने पर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आम और नीमके वृक्षोंके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं ।

गौड़, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि नामपद नाम हैं । ये गौड़ आदि नाम गौड़ी, आन्ध्री और द्रमिल भाषाओंके नाम के आधारभूत हैं ।

गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाएं प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं । जैसे, सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि । ये सब प्रमाणनाम प्रमेयोंमें पाये जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अब अवयवपदनाम कहते हैं । अवयव दो प्रकारके होते हैं— उपचितावयव और अप-चितावयव । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके बढ़ आनेसे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, गलगंड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि । जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें अपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अब संयोगपदनामका कथन करते हैं । द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और भावसंयोग के भेदसे संयोग चार प्रकारका है । इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि द्रव्य-संयोगपदनाम हैं, क्योंकि, धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

---

१. नामेणं पिउपिआमहस्स नामेणं उन्नामिज्जइ से तं णामेणं । अनु. १, १२८.

२. पमाणेणं चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा, णामपमाणे ठवणपमाणे दव्वपमाणे भावपमाणे ।
अनु. १, १३३.

३. अवयवेणं, सिंगी सिही विसाणी दाढी पक्खी खुरी नही वाली । दुपय चउप्पय बहुपय लंगूली केसरी कउही परियर-बंधेण भडं जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं सित्थेण दोणवायं कविं च एक्काए गाहाए । से तं अवयवेणं । अनु. १, १२८.

४. से किं तं संजोएणं ? संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा, दव्वसंजोगे, खेत्तसंजोगे, कालसंजोगे, भावसंजोगे । से किं तं दव्वसंजोगे ? दव्वसंजोगे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा, सच्चित्ते अचित्ते, मीसए । से किं तं सचित्ते ? सचित्ते गोहिं गोमिए, महिसीहिं महिसए, उरणीहिं उरणीए, उट्टीहिं उट्टीवाले, से तं सचित्ते । से

मासिपरश्वादयः, तेषामादानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वविवक्षायां भवन्तीति चेन्न, सहचरितत्वविवक्षायां तेषां नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसंयोगपदानि[1], माथुरः वालभः दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति । कालसंयोगपदानि[2] यथा– शारदः वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि, तेषां नामपदेऽन्तर्भावात् । भावसंयोगपदानि[3]– क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि ।

....

आते हैं । मासि, परशु आदि भी संयोगपदनाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमें अन्तर्भाव होता है ।

शंका—– सहचारीपनेकी विवक्षामें असि, परशु आदिका संयोगपदनाममें अन्तर्भाव हो जायगा ?

समाधान—– ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विवक्षा होने पर उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

माथुर, वालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं । जब माथुर आदि संज्ञाएँ नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है, अन्यथा नहीं ।

शारद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त ऋतुके संयोगसे ये संज्ञाएं व्यवहारमें आती हैं । किंतु वसन्त, शरद, हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका काल-संयोगपदनामोंमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । किंतु जिनमें

. ..

कि तं अचित्ते ? अचित्ते छत्तेण छत्ती, दंडेण दंडी, पडेण पडी, घडेण घडी, कडेण कडी से तं अचित्ते । से किं तं मीसए ? मीसए हलेणं हालिए, सगडेणं सागडिए, रहेणं रहिए, नावाए नाविए, से तं दव्व- संजोगे ।

अनु. १, १२९.

१. से किं तं खेत्तसंजोगे ? भारहे, एरवए, हेमए, एरण्णवए, हरिवासए, रम्मगवासए, देवकुरुए, उत्तरकुरुए, पुव्वविदेहए अवरविदेहए । अहवा मागहे, मालवए, सोरट्ठए, मरहट्ठए, कुंकणए, से तं खेत्तसंजोगे । अनु. १, १३०.

२. से किं तं कालसंजोगे ? सुसमसुसमाए, सुसमाए, सुसमदुसमाए, दुसमसुसमाए, दुसमाए, दुसम-दुसमाए । अहवा पावसए, वासारत्तए, सरदए, हेमंतए, वसंतए, गिम्हए, से तं कालसंजोगे । अनु. १, १३१.

३. से किं तं भावसंजोगे ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा, पसत्थे अ अपसत्थे अ । से किं तं पसत्थे ? णाणेणं णाणी, दंसणेणं दंसणी, चरित्तेणं चरित्ती से तं पसत्थे ? से किं तं अपसत्थे ? कोहेणं कोही, माणेणं माणी, मायाए मायी, लोहेणं लोही से तं अपसत्थे, से तं भावसंजोगे । से तं संजोएणं । अनु. १, १३२.

न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिंहाग्निरावणादिनामानि[1], तेषां नामपदेऽन्तर्भावात्। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्ति, अनुपलम्भात्[2]।

तत्थेदस्स जीवट्ठाणस्स णामं किं पदं? जीवाणं ट्ठाण-वण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं। मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खाणिज्जमाणेसु णामं वुत्तमेव। पुणो

स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञायें भावसंयोगपदरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है। उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं।

विशेषार्थ— यतिवृषभाचार्यने कषायप्राभृतमें नामके केवल छह भेद बताये हैं। वे ये हैं, गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद। पूर्वमें जो नामके दश भेद कह आये हैं। उनमेंसे, यहां पर अनादिसिद्धान्तसंबन्धी गुणसापेक्ष नामोंका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेक्ष नामोंका नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है। प्राधान्यपदनामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। प्रमाणपदनामोंका गौण्यपदमें, नामपदनामोंका नोगौण्यपदमें और संयोगपदनामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। अवयवपदनामोंका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है।

शंका— उन पूर्वोक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है?

समाधान— जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है।

शंका— पहले मंगलादिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

---

१. मु. रावणादीनि नामानि।

२. णामं छव्विहं ॥ ३ ॥ (कसायपाहुडचुण्णिसुत्त) गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अवचयपदे उवचयपदे चेदि। × × × पाधण्णपदणामाणं कथं तब्भावो? बलाहकाए च बहूसु वण्णेसु संतेसु धवला बलाहका लोकाओ त्ति जो णामणिद्देसो सो गोण्णपदे णिवददि गुणमुहेण दव्वम्मि पउत्तिदंसणादो। कधं णिंबादि-वणेसु रुक्खेसु तत्थ संतेसु जो एगेण रुक्खेण णिंबवणमिदि णिद्देसो सो आदाणपदे णिवददि वणेणा रुक्खसंबंधे-णिद्देसस्स पउत्तिदंसणादो। दव्वखेत्तकालभावसंजोयपदाणि रायासिधणुहरसुरलोकणयरभारहयअइरावयसामरत्तासंत-यकोहीमाणी इच्चाईणि णामाणि वि आदाणपदे चेव णिवदंति इदमेदस्स अत्थि एत्थ वा इदमत्थि त्ति विवक्खाए एदेसिं णामाणं पवुत्तिदंसणादो। अवयवपदणामाणि अवचयउवचयपदणामेसु पविसंति, तेहिंतो तस्स भेदाभावादो। सुअणासा कंबुग्गीवा कमलदलणयणा चंदमुही बिंबोट्ठी इच्चाईणि तत्तो बाहिराणि अत्थि त्ति चे णेदाणि णामाणि समासंतभूदइवसद्दत्थसंबंधेण दव्वम्मि पउत्तीदो। अणादियसिद्धंतपदणामेसु जाणि अणादिगुणसंबंध-मवेक्खिय पयट्टाणि जीवो णाणी चेयणावंतो त्ति ताणि गोण्णपदे आदाणपदे च णिवदंति। जाणि णोगोण्णपदाणि ताणि णोगोण्णपदणामेसु णिवदंति। पमाणपदणामाणि वि गोण्णपदे चेव णिवदंति पमाणस्स दव्वगुणत्तादो अरविंदसंघस्स अरविंदसण्णा णामपदा। सा च अणादियसिद्धंतपदणामेसु पविट्ठा अणादिसरूवेण तस्स तत्थ पउत्तिदंसणादो। अणादियसिद्धंतपदणामाणं धम्मकालागासजीवपुग्गलादीणं छप्पदत्थभावो पुव्वं परूविदा त्ति णेदाणि परूविज्जदे। तदो णामं दसविहं चेव होदि त्ति एयंतग्गहो ण कायव्वो, किन्तु छव्विहं पि होदि त्ति घेत्तव्वं। जयध. अ. पृ. ४–५.

गंथावद्दारे णामं उच्चदि त्ति ? न, पूर्वोद्दिष्टस्य नाम्नोऽनेन पदान्वेषणात् ।

पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-भाव-णय-प्पमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-पमाणं एय-पदेसादि । काल-पमाणं समयावलियादि । भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुद-सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्पमाणमणेयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा ।
जावदिया णय-वादा तावदिया चेव होंति पर-समया[1] ॥६७॥ ॥इदि वयणादो॥

कथं नयानां प्रामाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणां नयानामुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् । एत्थ इदं जीवट्ठाणं एदेसु पंचसु पमाणेसु कदमं पमाणं ? भावपमाणं । तं पि पंचविहं तत्थ पंचविहेसु भाव-पमाणेसु सुद-भाव-पमाणं । कर्तृनिरूपणया

व्याख्यान कर ही आये हैं, फिर यहां पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान—— ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोंमेंसे किसमें अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमें संख्यात, असंख्यात और अनंत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । अथवा नयप्रमाण आगे कहे गये वचनके अनुसार अनेक प्रकारका समझना चाहिये ।

जितने भी वचन-मार्ग है, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका—— नयोंमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोंमें प्रमाणताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—— शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशमात्रको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान यह है कि प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तुमें ही नयकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये प्रमाणका कार्य होनेसे उपचारसे उनमें प्रमाणता आ जाती है ।

१. मु. चेव परसमया । गो. क. ८९४, स. त. ३, ४७.

एवास्य प्रामाण्यं निरूपितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेन्न, सामान्येन जिनोक्तत्वान्यथानुपपत्तितोऽवगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थानं श्रुतभावप्रमाणमिति ज्ञापनार्थत्वात् । अहवा पमाणं छव्विहं नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाणभेदात् । तत्थ णाम-पमाणं पमाण-सण्णा । ट्ठवणा-पमाणं दुविहं, सब्भाव-ट्ठवणा-पमाणं असब्भाव-ट्ठवणा-पमाणमिदि । आकृतिमति सद्भाव-स्थापना । अनाकृतिमत्यसद्भावस्थापना । दव्वपमाणं दुविहं आगमदो णोआगमदो य । आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, संखेज्जासंखेज्जाणंत-भेद-भिण्ण-सद्दागमो वा । णोआगमो तिविहो, जाणय[1]-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जाणय-सरीरं [2]भवियं च गयं । तव्वदिरित्त-दव्व-पमाणं तिविहं, संखेज्जमसंखेज्जमणंतमिदि ।

शंका— उन पांच प्रकारके प्रमाणोंमेंसे 'जीवस्थान' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान— यह भावप्रमाण है ।

मतिज्ञानादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पांच प्रकारके भाव-प्रमाणोंमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रको श्रुतभावप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

शंका— पहले कर्ताका निरूपण कर आये है, इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है, अन्यथा यह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ नहीं हो सकता था । इस प्रकार सामान्यरूपसे इस जीवस्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोंमेंसे यह जीवस्थान शास्त्र श्रुतभावप्रमाणरूप है, इसतरह विशेष ज्ञान करानेके लिये यहां पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया है ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव-प्रमाणके भेदसे प्रमाण छह प्रकारका है ।

उनमें 'प्रमाण' ऐसी संज्ञाको नामप्रमाण कहते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और असद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तदाकारवाले पदार्थोंमें सद्भाव-स्थापना होती है और अतदाकारवाले पदार्थोंमें असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्यप्रमाण और नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविषयक शास्त्रको जाननेवाले परंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा, शब्दोंकी अपेक्षा संख्यातभेदरूप वक्ताओंकी अपेक्षा असंख्यातभेदरूप और तद्वाच्य अर्थकी अपेक्षा अनंत-भेदरूप ऐसे शब्दरूप आगमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

---

१. मु. जाणुग । २. मु.– सरीरं च भवियं ।

खेत्त-काल-पमाणाणि पुव्वं व वत्तव्वाणि । भाव-पमाणं पंचविहं--मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भाव-पमाणं मणपज्जव-भाव-पमाणं केवलभाव-पमाणं चेदि । एत्थेदं जीवट्ठाणं भावदो सुद-भाव-पमाणं । दव्वदो संखेज्जासंखेज्जाणंतसरूव-सद्द-पमाणं ।

वत्तव्वदा तिविहा--ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि । जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा । पर-समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमय-वत्तव्वं, तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम । जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि । एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा, ससमयस्सेव परूवणादो । अत्थाधियारो तिविहो--पमाणं पमेयं तदुभयं चेदि । एत्थ जीवट्ठाणे एक्को चेय अत्थाहियारो, पमेय-परूवणादो । उवक्कमो गदो ।

उनमें, ज्ञायकशरीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये हैं । तद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यप्रमाण संख्यातरूप, असंख्यातरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके समान ही करना चाहिये । मतिभाव-प्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । इनमेंसे यह ' जीवस्थान ' नामका शास्त्र भावप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है ।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है-- स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभय-वक्तव्यता । जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूपसे ज्ञान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं-- और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं । परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं । उसका जिस प्राभृत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगको परसमयवक्तव्य कहते हैं-- और उसके भावको अर्थात् उसमें होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं । जहांपर स्वसमय और पर-समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं । इनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें स्वसमयवक्तव्यता समझनी चाहिये, क्योंकि, इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थाधिकारके तीन भेद हैं । उनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें एक प्रमेय-अर्थाधिकारका ही वर्णन है, क्योंकि, इसमें प्रमाणके विषयभूत प्रमेयका ही वर्णन किया गया है । इसतरह उपक्रमनामका प्रकरण समाप्त हुआ ।

णिक्खेवो चउव्विहो णाम-ट्ठवणा-दव्व-भाव-जीवट्ठाण-भेएण । णाम-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-सद्दो । ट्ठवण-जीवट्ठाणं बुद्धीए समारोविय-जीवट्ठाण-दव्वं । दव्व-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । तत्थ जीवट्ठाण-जाणओ अणुवजुत्तो आगम-दव्व-जीवट्ठाणं । णोआगम-दव्व-जीवट्ठाणं तिविहं जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्त-णोआगम-दव्व-जीवट्ठाण-भेएण । आदिल्ल-दुगं सुगमं । तव्वदिरित्तं जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं । भाव-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । आगम-भाव-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-जाणओ उवजुत्तो । णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं मिच्छाइट्ठियादि-चोद्दस-जीव-समासा । एत्थ णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं पयदं । णिक्खेवो गदो ।

नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा—प्रमाणपरिगृहीतार्थैक-देशे वस्त्वध्यवसायो[1] नयः । स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति[2] । 'द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान्पर्यायानिति[3] द्रव्यम्'[4], द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इस प्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं । जिस द्रव्यमें बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमें, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है । इनमेंसे, आदिके दो अर्थात् ज्ञायकशरीर और भावि सुगम हैं । जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाश-द्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भाव-जीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते हैं । इनमेंसे, इस जीवस्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इस तरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

नयोंके विना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यहां पर नयोंका वर्णन करते हैं । उन नयोंका खुलासा इस प्रकार है– प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो

---

१. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । प्र. क. मा. पृ. २०५.

२. द्रव्यं सामान्यमभेदोऽन्वय उत्सर्गोऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिकाः । पर्यायो विशेषो भेदो व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिकाः । लघीय. पृ. ५१.

३. मु. श्चेति । द्रोष्यत्यदु ।

४. द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । जयध. अ. पृ. २६. निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवच्चेति द्रव्यम् । आ. प. ८७.

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः—नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति। विधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः। द्रव्यव्यतिरिक्त-पर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः वा संग्रह[1]। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः[2]। व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः। यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम[3] इति यावत्। एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः, स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्यविशेष-कालयोरभावात्।

प्रकारका है। जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं। वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय। विधि अर्थात् सत्ताको छोड़कर प्रतिषेध असत्ता भिन्न उपलब्ध नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही तत्त्व है। इस प्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते हैं। अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्यायें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये द्रव्य ही तत्त्व है। इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनयसे ग्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक अवहरण करनेको अर्थात् भेद करनेको व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहारके आधीन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है। इसतरह जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं। अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है। ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन

---

१. सद्रूपतानतिक्रान्तस्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः॥ स. त. टी. पृ. ३११. स्वजात्यविरोधेनैकत्वमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। स. सि. १, ३३. स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः। त. रा. वा. १, ३३. एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो मतः। सजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ४९.

२. स. सि. १, ३३. त. रा. वा. १, ३३. प्र. क. मा. पृ. २०५. संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः। योऽवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ५८. व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यवहारयति देहिनः॥ स. त. टी. पृ. ३११

३. अनभिनिर्वृत्तार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। स. सि. १, ३३. अर्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। त. रा. वा. १, ३३. तत्र सङ्कल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। त. श्लो. वा. १, ३३. अनिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। प्र. क. मा. पृ. २०५. अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः॥ स. त. टी. पृ. ३११. नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकमः। निगमेषु

पर्यायार्थिको द्विविधः-- अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति । द्रव्यपर्यायार्थिकनययोः[1] किंकृतो भेदश्चेदुच्यते ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनम्, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति

तीनों नयके विषयमें सामान्य और विशेषकालका अभाव है ।

विशेषार्थ--- एवंभूतनयसे लेकर विलोमक्रमसे ऋजुसूत्र नय तक पूर्व पूर्व नय सामान्य रूपसे और उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायको विषय करते हैं । इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते हैं । इस विवक्षासे द्रव्यार्थिक नयके तीनों भेदोंको नित्यवादी कहा है । द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा ही नहीं है, इसलिये उसमें सामान्य और विशेषकालका अभाव कहा है ।

अर्थनय और व्यंजन (शब्द) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका है ।

शंका--- द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयमें भेद किस कारणसे है ?

समाधान--- ऋजुसूत्र वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं । विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं । वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं । वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेदरूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं । अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप कालसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक नय हैं ।

वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः । अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः । तथायं सर्वत्र सदित्येवमनुगताकारावबोधहेतुभूतां महासत्तामिच्छति अनुवृत्तव्यावृत्तावबोधहेतुभूतं च सामान्यविशेषं द्रव्यत्वादि व्यावृत्तावबोधहेतुभूतं च नित्यद्रव्यवृत्तिमन्त्यं विशेषमिति । स्या. सू. पृ. ३७१. सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात् । तथाहि यदा, नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा स संग्रहेऽन्तर्भवति सामान्याभ्युपगमपरत्वात् विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे । आ. सू. पृ. ७.

१. मु. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकयोः ।

२. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः तद्भावलक्षणसामान्येनाभिन्नसादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत् । परि भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदं एति गच्छतीति पर्यायः । स पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकाशेषविषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पाटयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्यः । जयध. अ. पृ. २७.

यावत् । अपरे शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकाः[1] । तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः[2], न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः । व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः[3] । तत्रार्थनयः ऋजुसूत्रः[4] । कुतः ? ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति ऋजुसूत्रः । नैगमसंग्रहव्यवहारा अप्यर्थनया इति चेत्, सन्त्वेतेऽर्थनयाः अर्थव्यापृतत्वात्, किंतु न ते पर्यायार्थिकाः, द्रव्यार्थिकत्वात् ।

व्यञ्जननयस्त्रिविधः— शब्दः समभिरूढ एवंभूत इति । शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण-

यही उनमें भेद है ।

उनमेंसे, अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायसे भेदरूप और लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान-समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोंको अर्थनय कहते हैं । यहां पर शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नहीं है । व्यंजन (शब्द) के भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नय व्यंजननय कहलाते हैं । इनमें, ऋजुसूत्र नयको अर्थनय समझना चाहिये । क्योंकि, ऋजु-सरल अर्थात् वर्तमान-समयवर्ती पर्यायमात्रको जो सूत्रयति अर्थात् सूचित करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं । इसतरह वर्तमान पर्यायरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— नैगम, संग्रह और व्यवहारनय भी तो अर्थनय हैं, फिर यहां पर अर्थनयोंमें केवल ऋजुसूत्रनयका ही ग्रहण क्यों किया ?

समाधान— अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण वे भी अर्थनय हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है । किंतु वे तीनों नय द्रव्यार्थिकरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक नहीं है ।

व्यंजननय तीन प्रकारका है–शब्द, समभिरूढ और एवंभूत । शब्दके आधारसे

---

१. तत्र शुद्धद्रव्यार्थिकः पर्यायकलङ्करहितः बहुभेदः संग्रहः । (अशुद्ध) द्रव्यार्थिकः पर्यायकलङ्काङ्कितद्रव्यविषयः व्यवहारः । यदस्ति न तद्द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः शब्दशीलकर्मकार्यकारणाधाराधेयसहचारमानमेयोन्मेयभूतभविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषयः । जयध. अ. पृ. २७.

२. वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानोऽर्थनयः । अभेदको वा, अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनयः । जयध. अ. पृ. २७.

३. ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुनः वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः । जयध. अ. पृ. २७.

४. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः । स. सि. १, ३३. सूत्रपातवदृजुसूत्रः । यथा ऋजुः सूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्रः । त. रा. वा. १, ३३. ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात्सतः ॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ६१. ऋजु प्राञ्जलं (वक्रं) वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रः । प्र. क. मा. पृ. २०५. तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याच्छुद्धपर्यायसंश्रिता । नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥ अतीतानागताकारकालसंस्पर्शवर्जितम् । वर्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ स. त. टी. पृ. ३११-३१२.

प्रवणः शब्दनयः[1], लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्ग-व्यभिचारस्तावदुच्यते— स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानं अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानं आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं आयुधं परशुरिति । संख्याव्यभिचारः— एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वं गोदौ ग्राम इति ।

....

अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है, क्योंकि, यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है ।

स्त्रीलिंगके स्थान पर पुल्लिंगका कथन करना और पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है । जैसे ' तारका स्वातिः ' तारका स्वाति है । इस प्रयोगमें तारका शब्द स्त्रीलिंग है और स्वाति शब्द पुल्लिंग है, इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिंग शब्दका प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है । ' अवगमो विद्या ' अवगम विद्या है । इस प्रयोगमें अवगम शब्द पुल्लिंग है और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है, इस लिए पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है । ' वीणा आतोद्यम् ' वीणा आतोद्य है । यहांपर वीणा शब्द स्त्रीलिंग है और आतोद्य शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुंसकलिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है । ' आयुधं शक्तिः ' आयुध शक्ति है । यहांपर आयुध शब्द नपुंसकलिंग है । और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिए नपुंसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है । ' पटो वस्त्रम् ' पट वस्त्र है । यहांपर पट शब्द पुल्लिंग है और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिए पुल्लिंगके स्थानपर नपुंसकलिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है । ' आयुधं परशुः ' आयुध फरसा है । यहां पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग है और परशु शब्द पुल्लिंग है, इसलिए नपुंसकलिंगके स्थानपर पुल्लिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है ।

एक वचन आदि की जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है । जैसे, नक्षत्र पुनर्वसू हैं । यहांपर नक्षत्र शब्द एक वचनान्त है और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है । इसलिए एक वचनके स्थानमें द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । ' नक्षत्रं शतभिषजः ' नक्षत्र शतभिषज हैं । यहांपर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त है और शतभिषज शब्द बहुवचनान्त है । इसलिए एक वचनके स्थानमें बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । ' गोदौ ग्रामः ' गोदौ ग्राम है । यहांपर गोदौ शब्द द्विवचनान्त है और ग्राम शब्द एकवचनान्त है । इसलिए

---

१. लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः । स. सि. १, ३३. शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः । त. रा. वा. १, ३३. कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत् । सोऽत्र शब्दनयः शब्द-प्रधानत्वादुदाहृतः ॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ६८. कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः । प्र. क. मा. पृ. २०६. विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद्भिन्नस्वभावताम् । तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ स. त. टी. पृ. ३१३.

द्वित्वे बहुत्वं पुनर्वसू पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वं आम्राः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वं देवमनुष्या उभौ राशी इति । कालव्यभिचारः– विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता', भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः । भावि कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधन-व्यभिचारः, ग्राममधिशेते इति । पुरुषव्यभिचारः[2], एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति । उपग्रहव्यभिचारः, रमते विरमति, तिष्ठति संतिष्ठते,

---

द्विवचनके स्थानमें एक वचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है, 'पुनर्वसू पंचतारकाः' पुनर्वसू पांच तारका हैं । यहांपर पुनर्वसू द्विवचनान्त है और पंचतारका शब्द बहुवचनान्त है । इसलिए द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'आम्राः वनम्' आमोंके वृक्ष वन है । यहांपर आम्र शब्द बहुवचनान्त है और वन शब्द एकवचनान्त है । इसलिए बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'देवमनुष्या उभौ राशी ।' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं । यहांपर देव-मनुष्य शब्द बहुवचनान्त है और राशी शब्द द्विवचनान्त है । इसलिए बहुवचनके स्थानपर द्विवचन शब्दका कथन करना संख्याव्यभिचार है ।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है । जैसे, 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा । यहांपर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है । परंतु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है । इसलिऐ यहां पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालमें कहनेसे कालव्यभिचार है । इसीतरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका । यहां पर भी भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है ।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधन-व्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'ग्राममधिशेते' वह ग्राममें शयन करता है । यहांपर सप्तमी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह साधनव्यभिचार है ।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

---

१. ये हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता, भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदोऽभिमतः, तथा व्यवहारदर्शनादिति । तन्न श्रेयः परीक्षायां मूलक्षतेः काल-भेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात् रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः । आसीद्रावणो राजा, शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वात् नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि माभूत् तत एव । न हि विश्वं दृष्टवान् इति विश्वदृश्वेति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात् । अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत् तर्हि न परमार्थतः-कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था । त. श्लो. वा. पृ. २७२–२७३.

२. 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, स यातस्ते पिता' इति साधनभेदेपि पदार्थमभिन्नमादृताः "प्रहासे मन्य वाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च" इति वचनात् । तदपि न श्रेयः परीक्षायां, अहं पचामि, त्वं

विशति निविशते इति । एवमादयो व्यभिचारा न युक्ताः, अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात् । ततो यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानमिति ।

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः[1] । इन्दनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः शकनाच्छक्र इति भिन्नार्थवाचकत्वान्नैते एकार्थवर्तिनः । न पर्यायशब्दाः सन्ति, भिन्नपदानामे-

---

कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊंगा परंतु अब न जाओगे, तुम्हारा पिता चला गया । यहांपर 'मन्यसे' के स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुषका और 'यास्यामि' के स्थानपर 'यास्यसि' यह मध्यमपुरुषका प्रयोग हुआ है, इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदके कथन कर देनेको उपग्रहव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति', '*तिष्ठति' के स्थानपर 'संतिष्ठते' और विशति के स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग किया* जाता है ।

इसतरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार पूर्वमें कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि, अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान संख्या और समान साधन आदिका कथन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अभिरूढ होता है उसे समभिरूढ नय कहते हैं । जैसे, 'इन्दनात्' अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शकनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक्र । ये तीनों शब्द भिन्नार्थवाचक होनेसे इन्हें एकार्थवर्ती नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमें पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पदोंका एक पदार्थमें रहना स्वीकार कर लेनेमें

पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसंगात् । त. श्लो. वा. पृ. २७३. तथा पुरुषभेदेऽपि नैकान्तिकं सद् वस्तु इति, 'एहि मन्ये' इत्यादि । इति च प्रयोगो न युक्तः, अपि तु 'एहि मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामि' इत्यनेनैवं परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम् । स. त. पृ. ३१३: 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' पा. १, ४, १०६. 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इति प्रहासे यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्तिः नात्र प्रसिद्धार्थविपर्यासे किञ्चिन्निबन्धनमस्ति, 'रथेन यास्यसि, इति भावगमनाभिधानात् प्रहासो गम्यते'। 'नहि यास्यसि' इति बहिर्गमनं प्रतिषिध्यते । अनेकस्मिन्नपि प्रहसितरि च प्रत्येकमेव परिहास इति अभिप्रायवशाद् 'मन्ये' इति एकवचनमेव । लौकिकश्च प्रयोगोऽनुसर्तव्य इति न प्रकारान्तरकल्पना न्याय्या । 'त्रीणि त्रीणि अन्य-युष्मदस्मदि' हैम. ३, ३, १७.

१. स. सि. १, ३३. त. रा. वा. १, ३३. पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नयः समभिरूढः स्यात्पूर्ववच्चास्य निश्चयः ॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ७६. नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः । प्र. क. मा. पृ. २०६. तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवृत्तिनः । ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ स. त. टी. पृ. ३१३

कार्यवृत्तिविरोधात् । नाविरोधः, पदानामेकत्वापत्तेरिति । नानार्थस्य भावः नानार्थता तां समभिरूढत्वात्समभिरूढः ।

एवं भेदे भवनादेवम्भूतः[1] । न पदानां समासोऽस्ति, भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति, वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात् । ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसायः एवंभूतनयः[2] । एतस्मिन्नये एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते, एकस्यैकस्वभावस्य बहुषु वृत्तिविरोधात् । पदगतवर्णभेदाद्वाच्यभेदस्याध्यवसायकोऽप्ये-

---

[illegible] एक पदार्थमें वृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने पर समस्त पदोंमें एकत्वकी आपत्ति आती है । इससे यह तात्पर्य निकला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं । नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताको नानार्थता कहते हैं और उस नानार्थताके प्रति जो अभिरूढ़ है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं ।

एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाया जाता है । उसे जो विषय करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमें पदोंका समास नहीं हो सकता है, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंमें एकपनेका विरोध है । इसीतरह शब्दोंमें परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, संख्या और कालादिकके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पदोंके दूसरे पदोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती है । जब कि एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है तो इस नयकी दृष्टिमें वाक्य भी नहीं बन सकता

---

१. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूतः । स. सि. १, ३३. त. रा. वा. १, ३३. तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवंभूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः । त. श्लो. वा. १, ३३, ७५. एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योऽभिप्रैति स एवम्भूतो नयः । (क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावोऽत्र । टिप्पणी) प्र. क. मा. पृ. २०६. एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते ।। स. त. टी. पृ. ३१४.

२. एवंभवनादेवंभूतः । अस्मिन्नये न पदानां समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पदानामेककालवृत्तिः समासः क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षयिणां तदनुपपत्तेः । नैकार्थे वृत्तिः समासः, भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्तेः । न वर्णसमासोऽप्यस्ति, तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसंगात् । तत एक एव वर्णः एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थः एकार्थः इत्येवंभूताभिप्रायवान् एवंभूतनयः । जयध. अ. पृ. २९. यत्क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते, तामेव क्रियां कुर्वद्वस्त्वेवंभूतमुच्यते । एवंशब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिकः प्रकारः, तमेवंभूतं प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवंभूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवंभूतः । अथवा एवंशब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिकः प्रकारः, तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवंभूतः प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवंभूतो नयः । अ. रा. कोष. (एवंभूअ).

वम्भूतः, एवम्भेदे[1] समुत्पन्नत्वात्। एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः। एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यमवगन्तव्याः, अन्यथार्थप्रतिपादनाव-गमानुपपत्तेः। उक्तं च—

> णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि।
> तो णय-वादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति[2] ॥ ६८ ॥
> तम्हा अहिगय-सुत्तेण अत्थ-संपायणम्हि जइयव्वं।
> अत्थ-गई वि य णय-वाद-गहण-लीणा दुरहियम्मा[3] ॥ ६९ ॥

एवं णय-परूवणा गदा। अणुगमं वत्तइस्सामो—

एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीव-समासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति ॥ २ ॥

है यह बात सिद्ध हो जाती है। इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है। इस प्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं। इस नयकी दृष्टिमें एक भी शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता है, क्योंकि, एकत्वभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है। तथा पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदका निश्चय करानेवाला भी एवंभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसप्रकारके भेदमें उत्पन्न हुआ है। इस तरह ये नय संक्षेपसे सात प्रकारके और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिये। व्यवहारकुशल लोगोंको इन नयोंका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये। अन्यथा, अर्थात् नयोंके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है। कहा भी है—

जिनेन्द्रभगवानके मतमें नयवादके बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है, इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिये। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि, पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इस तरह नयप्ररूपणाका वर्णन समाप्त हुआ।

अब अनुगमका निरूपण करते हैं।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषणरूप प्रयोजनके होने पर यहां ये चौदह ही गुणस्थान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

---

१. एवम्भूते।

२. नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि। आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूआ ॥ आ. नि. ७६१.

३. सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती। अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं। आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥ स. त. ३,६४,६५.

' एत्तो ' एतस्मादित्यर्थः। कस्मात्' प्रमाणात् । कुत एतदवगम्यते ? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात् । नाजलात्मकहिमवतो निपतज्जलात्मकगङ्गया व्यभिचारः, अवयविनोऽवयवस्यात्र वियोगापायस्य विवक्षितत्वात् । नावयविनोऽवयवो भिन्नो विरोधात्। तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येया-

....

' एत्तो ' अर्थात् इससे ।

शंका— यहां पर ' एतद् ' पदसे किसका ग्रहण किया है ?

समाधान— यहां पर ' एतद् ' पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये ' इससे ' अर्थात् ' प्रमाणसे ' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

शंका— यह कैसे जाना, कि यहां पर ' एत्तो ' पदका ' प्रमाणसे ' यह अर्थ लिया गया है ?

समाधान— क्योंकि, प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहां पर ' एत्तो ' इस पदमें स्थित ' एतत् ' शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है ।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि कार्यमें कारणानुकूल ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है । इस अनुमानमें जो कार्यत्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यमें पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवान्‌से उत्पन्न हुई जलात्मक गंगानदीरूप विपक्षमें भी पाया जाता है । अतएव इस कार्यत्वरूप हेतुके पक्षमें रहते हुए भी विपक्षमें चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है । अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसेही हुई है, संगत नहीं है । इस शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इस तरह अजलात्मक हिमवान्‌से निकलती हुई जलात्मक गंगानदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर अवयवीसे वियोगापायरूप अर्थात् अवयवीसे संयोगको प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है । इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको सर्वथा भिन्न मान लेनेमें विरोध आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है । परंतु उस पर्वतके जिस भागसे गंगा नदी निकली है, वह भाग जलमय ही है । इसलिये यहां पर हिमवान् पर्वतसे उसका जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये । इससे जो पहले व्यभिचार दोष दे आये है वह दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है, और उससे गंगा नदी निकली है । अतएव इसे विपक्ष न समझकर सपक्ष ही समझना चाहिये । इस तरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है ।

द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे वह प्रमाण दो प्रकारका है । द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा शब्द, प्रमाता और प्रमेयके आलम्बनसे क्रमशः संख्यात, असंख्यात और अनंतरूप द्रव्यजीव-

संख्येयानन्तात्मकद्रव्यजीवस्थानस्यावतारः । भावप्रमाणं पञ्चविधम् :– आभिणिबोहियभावपमाणं, सुदभावपमाणं ओहिभावपमाणं मणपज्जवभावपमाणं केवलभावपमाणं चेदि ।

तत्थ आभिणिबोहियणाणं णाम पंचिंदिय-णोइंदिएहि मदिणाणावरण-खयोवसमेण य अवग्गहेहावाय[1]धारणाओ सद्द-परिस-रस-रूव-गंध-दिट्ठ-सुदाणुभूद-विसयाओ बहुबहुविह-खिप्पाणिस्सिदाणुत्त-धुवेदर-भेदेण ति-सय-छत्तीसाओ । सुदणाणं णाम मदि-पुव्वं मदिणाण-पडिगहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीय-क्खओवसम-जणिदं । ओहिणाणं णाम दव्व-क्खेत्त-काल-भाव-वियप्पियं पोग्गल-दव्वं पच्चक्खं जाणदि । दव्वदो[2] जहण्णेण जाणंतो एयजीवस्स ओरालिय-सरीर-संचयं लोगागास-पदेस-मेत्ते खंडे कदे तत्थेय-खंडं जाणदि । उक्कस्सेणेग-परमाणुं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहण्णमणुक्कस्सोही जाणदि । खेत्तदो जहण्णेणंगुलस्स असंखेज्जदिभागं

स्थानका अवतार हुआ है । भावप्रमाणके पांच भेद हैं, आभिनिबोधिकभावप्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाण ।

उनमें पांच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे पैदा हुआ, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुवके भेदसे तीनसौ छत्तीस भेदरूप आभिनिबोधिक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको छोड़कर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुद्गलद्रव्यको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे जानता हुआ एक जीवके औदारिक शरीरके संचयके लोकाकाशके प्रदेशप्रमाण खण्ड करने पर उनमेंसे एक खण्ड तकको जानता है । उत्कृष्टरूपसे, अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान एक परमाणुतकको जानता है । अजघन्य और अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत द्रव्य-भेदोंको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञान जघन्यसे अंगुल, अर्थात् उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्रको जानता है । अजघन्य और अनुत्कृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत क्षेत्रभेदोंको जानता है । अवधिज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण भूत और भविष्यत् पर्यायोंको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण समयोंमें स्थित अतीत और अनागत

---

१. मु. अणिदोवग्गहे ।   २. मु. दव्वादो ।

जाणदि उक्कस्सेण असंखेज्ज-लोगमेत्त-खेत्तं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहण्णमणुक्कस्सोहि जाणदि । कालदो जहण्णेण आवलियाए असंखेज्जदि-भागं भूदं भविस्सं च जाणदि । उक्कस्सेण असंखेज्जलोगमेत्त-समएसु अदीदमणागयं च जाणदि । दोण्हं वि विच्चालमजहण्ण-अणुक्कस्सोही जाणदि । भावदो पुव्व-णिरूविद-दव्वस्स सत्तिं जाणदि[1] ।

मणपज्जवणाणं णाम पर-मणो-गयाइं मुत्ति-दव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि । दव्वदो जहण्णेण एग-समय-ओरालिय-सरीर-णिज्जरं जाणदि, उक्कस्सेण एग-समय-पडिबद्धस्स कम्मइय-दव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि । खेत्तदो जहण्णेण गाउव-पुधत्तं, उक्कस्सेण माणुस-खेत्तस्संतो जाणदि, णो बहिद्धा । कालदो जहण्णेण

पर्यायोंको जानता [illegible]) अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत कालभेदोंको जानता है । भावकी अपेक्षा अवधिज्ञान पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो दूसरोंके मनोगत मूर्तीक द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय-ज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिक-शरीरके निर्जरारूप द्रव्यको जानता । उत्कृष्टरूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भागको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूतिपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन कोस क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जानता है, मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है । (यहांपर मनुष्यक्षेत्रसे प्रयोजन विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है ।) कालकी अपेक्षा जघन्य-रूपसे दो, तीन भवोंको ग्रहण करता है, और उत्कृष्टरूपसे असंख्यात भवोंको ग्रहण करता है,

१. णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं । लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥ सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि । अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं । ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो । गंगामहाणइस्स पवाहो व्व धुवो हवे हारो ॥ परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति । तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ आवलिअसंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया । कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीणमेत्ता हु ॥ सव्वोहि त्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा । दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ गो. जी. ३७७, ३७८, ३८२, ४१५, ४१६, ४२२, ४२३. तत्थ दव्वओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ । खित्तओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ । कालओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं आवलिआए असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ । भावओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ । न. सू. १६.

वो तिण्ण भव-ग्गहणाणि, उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भव-ग्गहणाणि जाणदि[1]। केवलणाणं णाम, सव्वदव्वाणि तीदाणागय[2]-वट्टमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।

एत्थ किमाभिणिबोहिय-पमाणादो, किं सुद-पमाणादो, किमोहि-पमाणादो, किं मणपज्जव-पमाणादो, किं केवल-पमाणादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं। एवं पुच्छिदे णो आभिणिबोहिय-पमाणादो, णो ओहि-पमाणादो, णो मणपज्जव-पमाणादो। गंथं पडुच्च सुद-पमाणादो, अत्थदो केवल-पमाणादो।

पर्यायोंको ग्रहण करता है, अर्थात् जानता है। (भावकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है।)

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंसहित संपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

यहां पर क्या आभिनिबोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये और इसतरह पूंछे जानेपर, यहांपर न तो आभिनिबोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है, और न मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किंतु ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतप्रमाणसे और अर्थकी अपेक्षा केवलप्रमाणसे प्रयोजन है,

---

१. अत्र भावापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्य विषयो नोपलभ्यते। अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु। चक्खिदियणिज्जिण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं। खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं। धुवहारेणिगिवारं भजिदे बिदियं हवे दव्वं ॥ तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं। धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं। विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ णरलोए त्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स। जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ॥ दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं। अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं। तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ गो. जी. ४५१–४५८. तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खेत्तओ णं उज्जुमई अ जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जयभागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डुगपयरे उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमिसु तीसाए अकम्मभूमिसु छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु सन्निपंचेंदिआणं पज्जत्तयाण मणोगए भावे जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिमंगुलेहिं अब्भहियतरं विउलतरं विसुद्धतरं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ। कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं अतीयमणागयं वा कालं जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमई जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ। नं. सू. १८.

२. मु. अदीदाणागय।

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च बिदियादो, अत्थं पडुच्च पंचमादो केवलणाणादो। पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च चउत्थादो सुद-पमाणादो, अत्थं पडुच्च पढमादो केवलादो। जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे सुदणाणादो केवलणाणादो य। सुदणाणमिदि गुणणामं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्तियादीहि संखेज्जमत्थदो अणंतं। एदस्स तदुभयवत्तव्वदा।

अत्थाहियारो दुविहो– अंगबाहिरो अंगपइट्ठो चेदि। तत्थ अंगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। तं जहा– सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं[1] उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसीहियं[2] चेदि। तत्थ जं सामाइयं तं णाम-ट्ठवणा-दव्व-खेत्त-काल-भावेसु समत्त-विहाणं वण्णेदि। चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदण-विहाणं तण्णाम-संठाणुस्सेह-पंच-महाकल्लाण-चोत्तीस-अइसय-सरूवं तित्थयर-वंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि। वंदणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ।

....

ऐसा उत्तर देना चाहिये।

यहांपर पूर्वानुपूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा तो दूसरे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पांचवें केवलज्ञानप्रमाणसे प्रयोजन है। पश्चादानुपूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा चौथे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है। यथातथानुपूर्वीसे गणना करनेपर श्रुतप्रमाण और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है। वह अक्षर, पद, संघात और प्रतिपत्ति आदिकी अपेक्षा संख्यातभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है।

तीन वक्तव्यताओंमेंसे इस श्रुतप्रमाणकी तदुभयवक्तव्यता (स्वसमय-परसमयवक्तव्यता) जानना चाहिये।

अर्थाधिकार दो प्रकारका है– अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। उन दोनोंमेंसे, अंगबाह्यके चौदह अर्थाधिकार हैं। वे इसप्रकार हैं– सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। उनमेंसे, सामायिक नामका अंगबाह्य अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन करता है। चतुर्विंशतिस्तव अर्थाधिकार उस उस कालसंबन्धी चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेकीविधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पांच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयोंके स्वरूप और तीर्थंकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है।

....

१. क. दसवेयालियं। २. मू. णिसिहियं। ३. प्रतिषु 'सम्मत्त' इतिपाठः।

पडिक्कमणं कालं पुरिसे[1] य अस्सिऊण सत्तविह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ[2]। वेणइयं णाण-दंसण-चरित्त-तवोवयारविणए वण्णेइ। किदियम्मं अरहंत-सिद्ध-आइरिय-बहुसुद-साहूणं पूजाए[3] विहाणं वण्णेइ। दसवेयालियं आयार-गोयार[4]-विहिं वण्णेइ[5]। उत्तरज्झयणं उत्तर-पदाणि वण्णेइ[6]। कप्पववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्प-सेवणाए

वन्दना नामका अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेवसंबन्धी और उन एक जिनेन्द्रदेवके अवलम्बनसे जिनालयसंबन्धी वन्दनाके निरवद्यभावका अर्थात् प्रशस्तरूप भावका वर्णन करता है। (प्रमादकृत दैवसिक आदि दोषोंका निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिकके भेदसे सात प्रकारका है।) प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार, दुःषमादि काल और छह संहननसे युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाववाले पुरुषोंका आश्रय लेकर इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन करता है। वैनयिक नामका अर्थाधिकार ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्र-विनय, तपविनय और उपचारविनय इसतरह इन पांच प्रकारकी विनयोंका वर्णन करता है। कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजा आदिकी विधिका वर्णन करता है। विशिष्ट कालको विकाल कहते हैं। उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं। वे वैकालिक दश हैं। उन दश वैकालिकोंका दशवैकालिक नामका

---

१. मु. पुरिसं च। क. पुरुसे च।

२. प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्। तच्च दैवसिकरात्रिक-पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकैर्यापथिकौत्तमार्थिकभेदात्सप्तविधम्। भरतादिक्षेत्रं दुःषमादिकालं षट्संहनन-समन्वितस्थिरास्थिरादिपुरुषभेदांश्च आश्रित्य तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम्।

गो. जी., जी. प्र., टी. ३६७.

३. मु. पूजाविहाणं वण्णेइ। कृतेः क्रियायाः कर्म विधानं अस्मिन् वर्ण्यत इति कृतिकर्म। तच्च अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादिनवदेवतावंदनानिमित्तमात्माधीनताप्रादक्षिण्यत्रिवारत्रिनतिचतुःशिरोद्वादशाव-र्तादिलक्षणनित्यनैमित्तिकक्रियाविधानं च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६७.

४. मु. गोयर-। आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषय आचारगोचरः (आचा० ७ अ १ उ.) आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा, गोचरश्च भिक्षाचर्येत्याचारगोचरं ज्ञानाचारादिकं भिक्षाचर्यां च (नं.) × × आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादि, गोचरो भिक्षाटनम्, एतयोः समाहारद्वन्द्वः आचारगोचरम् (भ. २ श. १ उ.) अभि. रा. को. (आयारगोयर)

५. विशिष्टाः काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि दश वैकालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिकम्। तच्च मुनिजनानां आचरणगोचरविधिं पिण्डशुद्धिलक्षणं च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र. टी. ३६७. तेषु दशाध्ययनेषु किमित्याह, पढमे धम्मपसंसा सो य इहेव जिणसासणम्मि त्ति। बिइए धिइए सक्का काउं जे एस धम्मो त्ति॥ (तइए आयारकहा उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ।) तह जीवसंजमो वि य होइ चउत्थम्मि अज्झयणे॥ भिक्खविसोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए। छट्ठे आयारकहा महई जोग्गा महयणस्स॥ वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं। णवमे विणओ दसमे समाणियं एस भिक्खु त्ति॥ अभि. रा. को. (दसवेयालिय)

६. उत्तराणि अधीयंते पठ्यंते अस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्। तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशति-

पायच्छित्तं च वण्णेइ । कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि तं सव्वं वण्णेदि । महाकप्पियं काल-संघडणाणि अस्सिऊण साहु-पाओग्ग-दव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ । पुंडरीयं चउव्विह-देवेसुववादकारण-अणुट्ठाणाणि वण्णेइ । महापुंडरीयं सयलिंद-पडिइंदेसु[1] उप्पत्ति-कारणं वण्णेइ । [2]णिसीहियं बहुविह-पायच्छित्त-विहाण-वण्णणं कुणइ[3] ।

अर्थाधिकार वर्णन करता है। तथा यह मुनियोंकी आचारविधि और गोचरविधिका भी वर्णन करता है। जिसमें अनेक प्रकारके उत्तर पढ़नेको मिलते हैं उसे उत्तराध्ययन अर्थाधिकार कहते हैं। यह चार प्रकारके उपसर्गोंको कैसे सहन करना चाहिये ? बाईस प्रकारके परीषहोंके सहन करनेकी विधि क्या है ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरोंका वर्णन करता है। कल्पव्यवहार साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्तविधिका वर्णन करता है। कल्प नाम योग्यका है और व्यवहार नाम आचारका है। कल्पाकल्प द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा मुनियोंके लिये यह योग्य है और यह अयोग्य है, इसतरह इन सबका वर्णन करता है। महाकल्प काल और संहननका आश्रय कर साधुओंके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिकका वर्णन करता है। (इसमें, उत्कृष्ट संहननादि-विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर प्रवृत्ति करनेवाले जिनकल्पी साधुओंके योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठानका और स्थविरकल्पी साधुओंकी दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदिका विशेष वर्णन है।) पुण्डरीक भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारणरूप दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानोंका वर्णन करता है। महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रोंमें उत्पत्तिके कारणरूप तपोविशेष आदि आचरणका वर्णन करता है। प्रमादजन्य दोषोंके निराकरण करनेको निषिद्धि कहते हैं, और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धिका कहते हैं।

परीषहाणां च सहनविधानं तत्फलं एवं प्रश्ने एवमुत्तरमित्युत्तरविधानं च वर्णयति । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६७. क्रम. उत्तरेण पगयं आसारस्सेव उवरिमाइं तु । तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा होंति णायव्वा ॥ अभि. रा. को. (उत्तरज्झयण) कानि तान्युत्तरपदानीति चेदुच्यते छत्तीसं उत्तरज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा— १ विणयसुयं २ परीसहो ३ चाउरंगिज्जं ४ असंखयं ५ अकाममरणिज्जं ६ पुरिसविज्जा ७ उरब्भिज्जं ८ काविलियं ९ नमिपव्वज्जा १० दुमपत्तयं ११ बहुसुयपूजा १२ हरिएसिज्जं १३ चित्तसंभूयं १४ उसुयारिज्जं १५ सभिक्खुगं १६ समाहिट्ठाणाइं १७ पावसमणिज्जं १८ संजइज्जं १९ मियाचारिया २० अणाहपव्वज्जा २१ समुद्दपालिज्जं २२ रहनेमिज्जं २२ गोयमकेसिज्जं २४ समितीओ २५ जन्नइज्जं २६ सामायारी २७ खलुंकिज्जं २८ मोक्खमग्गगई २९ अप्पमाओ ३० तवोमग्गो ३१ चरणविही ३२ पमायट्ठाणाइं ३३ कम्मपयडी ३४ लेसज्झयणं ३५ अणगारमग्गे ३६ जीवाजीवविभत्ती य । सम. सू. ३६.

१. मु. पडिइंदे । २. मु. निविहियं ।

३. निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः संज्ञायां कप्रत्यये निषिद्धिका । तच्च प्रमाददोष-विशुद्ध्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६८.

अंगपविट्ठस्स अत्थाधियारो बारसविहो । तं जहा–आयारं[1] सूदयदं ठाणं समवायो वियाहपण्णत्ती णाहाधम्मकहा[2] उवासयज्झयणं अंतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरणं विवागसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि । एत्थायारंगमट्ठारह-पद-सहस्सेहि १८०००—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए ।
कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई[3] ॥ ७० ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ॥ ७१ ॥

एवमादियं मुणीणमायारं वण्णेदि[4] ।

सूदयदं णाम अंगं छत्तीस-पद-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेइ[5] ।

अंगप्रविष्टके अर्थाधिकार बारह प्रकारके हैं। वे ये हैं– आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इनमेंसे, आचारांग अठारह हजार पदोंके द्वारा—

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार संभाषण करना चाहिये और किस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है ? (इसतरह गणधरके प्रश्नोंके अनुसार) यत्नसे चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्नसे संभाषण करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बंध नहीं होता है ॥ ७०-७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है।

सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदोंके द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रियाका प्ररूपण करता है। तथा यह स्वसमय और परसमयका भी निरूपण

---

१. मू. आयारो. २. मू. णाह.

३. मूलाचा. १०१२, १०१३. दशवै. ४, ७, ८.

४. आयारे णं समणाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-ट्ठाण-गमण-चंकमण-पमाण-जोग-जुंजण-भासा-समिति-गुत्ती-सेज्जोवहि-भत्त-पाण-उग्गम-उप्पायण-एसणा-विसोहि-सुद्धासुद्धग्गहण-वय-णियम-तवोवहाण-सुप्पसत्थमाहिज्जइ । सम. सू. १३६.

५. सूअगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति, ससमयपरसमया सूइज्जंति × × । सूअगडे णं जीवाजीव-पुण्ण-पापासव-संवर-णिज्जरण-बंध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति समणाणं अचिरकाल-पव्वइयाणं कुसमयमोह-मोहमइ-मोहियाणं संदेह-जाय-सहजबुद्धि-परिणाम-संसइयाणं पावकरमलिन-मइ-गुण-विसोहणत्थं असीअस्स किरियावाइयसयस्स चउरासीए अकिरियवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं बत्तीसाए वेणइयवाईणं तिण्हं तेवट्ठीणं अण्णदिट्ठियसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जंति × × × । सम. सू. १३७.

ठाणं णाम अंगं बायालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्ठाणाणि वण्णेदि[1]। तस्सोदाहरणं—

एक्को चेय महप्पा सो दुवियप्पो ति-लक्खणो भणिओ ।
चदु-संकमणा-जुत्तो पंचग्ग-गुण-प्पहाणो य ॥ ७२ ॥

छक्कापक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भंगि-सब्भावो ।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दस-ट्ठाणियो भणियो[2] ॥ ७३ ॥

करता है । स्थानांग ब्यालीस हजार पदोंके द्वारा एकसे लेकर उत्तरोत्तर एक एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है । उसका उदाहरण—

महात्मा अर्थात् यह जीव द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे उपयुक्त होनेके कारण उसकी अपेक्षा एक ही है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतनासे लक्ष्यमाण होनेके कारण तीन भेदरूप है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके भेदसे तीन भेदरूप है । चार गतियोंमें परिभ्रमण करनेकी अपेक्षा इसके चार भेद हैं । औदयिक आदि पांच प्रधान गुणोंसे युक्त होनेके कारण इसके पांच भेद हैं । भवान्तरमें संक्रमणके समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसतरह छह संक्रमणलक्षण अपक्रमोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा छह प्रकारका है । अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात प्रकारका है । ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आश्रवसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है । अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है । जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला अथवा जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंरूप परिणमन करनेवाला, होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका है । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजातिके भेदसे दश स्थानगत होनेकी अपेक्षा दश प्रकारका कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

---

१. ठाणे णं दव्व-गुण-खेत्त-काल-पज्जव-पयत्थाणं × × एक्कविहवत्तव्वयं दुविह जाव दसविहवत्तव्वयं जीवाण पोग्गलाण य लोगट्ठाइं च णं परूवणया आघविज्जंति × × । सम. सू. १३८.

२. पञ्चा. ७१, ७२. संग्रहनयेन एक एवात्मा । व्यवहारनयेन संसारी मुक्तश्चेति द्विविकल्पः । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त इति त्रिलक्षणः । कर्मवशात् चतुर्गतिषु संक्रामतीति चतुःसंक्रमणयुक्तः । औपशमिकक्षायिक-क्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभेदेन पंचविशिष्टधर्मप्रधानः । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वाधोगतिभेदेन संसारा-वस्थायां षट्कोपक्रमयुक्तः । स्यादस्ति स्यान्नास्ति × × इत्यादिसप्तभंगीसद्भावेनोपयुक्तः । अष्टविधकर्मास्रव-युक्तत्वादष्टास्रवः । नवजीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापरूपा अर्थाः पदार्थाः विषयाः यस्य स नवार्थः । पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकसाधारणद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियभेदाद् दशस्थानकाः । गो. जी., जी. प्र., टी. ३५६.

समवायो णाम अंगं चउसट्ठि-सहस्सब्भहिय-एग-लक्ख-पदेहि १६४००० सव्वपयत्थाणं समवायं वण्णेदि[1]। सो वि समवायो चउव्विहो– दव्व-खेत्त-काल-भावसमवायो चेदि। तत्थ दव्वसमवायो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-लोगागास-एगजीव-पदेसा च समा। खेलदो सीमंतणिरय-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धिखेत्तं च समा। कालदो समयो समएण, मुहुत्तो मुहुत्तेण समो। भावदो केवलणाणं केवल-दंसणेण समं, णेयप्पमाणणाण[2]-मेत्त-चेयणोवलंभादो। वियाहपण्णत्ती णाम अंगं दोहि लक्खेहि अट्ठावीस-सहस्सेहि पदेहि २२८००० किमत्थि जीवो, किं णत्थि जीवो, इच्चेवमाइयाइं सट्ठि-वायरण[3]-सहस्साणि परूवेदि[4]। णाहाधम्मकहा णाम[5] अंगं पंच-लक्ख-छप्पण्ण-

---

समवाय नामका अंग एक लाख चौसठ हजार पदोंके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंके समवायका वर्णन करता है, अर्थात् सादृश्यसामान्यसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जीवादि पदार्थोंका ज्ञान कराता है। वह समवाय चार प्रकारका है– द्रव्यसमवाय, क्षेत्रसमवाय, कालसमवाय और भावसमवाय। उनमेंसे, द्रव्यसमवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं। क्षेत्रसमवायकी अपेक्षा प्रथमनरकके प्रथम पटलका सीमन्तक नामका इन्द्रक बिल, ढाई द्वीपप्रमाण मनुष्यक्षेत्र, प्रथमस्वर्गके प्रथम पटलका ऋजु नामका इन्द्रक विमान और सिद्धक्षेत्र समान हैं। कालकी अपेक्षा एक समय एक समयके बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्तके बराबर है। भावकी अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शनके समान है, क्योंकि, ज्ञेयप्रमाण ज्ञान मात्र चेतनाशक्तिकी उपलब्धि होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका अंग दो लाख अट्ठाईस हजार पदोंद्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादिक रूपसे साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान करता है। नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा नामका अंग पांच लाख छप्पन हजार पदोंद्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधिसे स्वाध्यायकी

---

१. समवाएणं एकाइयाणं एगट्ठाणं एगुत्तरियपरिवुड्ढीए दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाइज्जइ, ठाणगसयस्स बारसविहवित्थरस्स सुयणाणस्स जगजीवहियस्स भगवओ समासेणं समोयारे आहिज्जति। तत्थ य णाणाविहप्पगारा जीवाजीवा य वण्णिया वित्थरेण अवरे वि अ बहुविहा विसेसा नरग-तिरिय-मणुअ-सुरगणाणं आहारुस्साससेसाआवाससंखआययप्पमाणउववायचवणउग्गहणोवहिवेयणविहाण-उवओगजोगइंदियकसाय विविहा य जीवजोणी विक्खंभुस्सेहपरिरयप्पमाणं विहिविसेसा य मंदरादीणं महीधराणं कुलगरतित्थगरगणहराणं सम्मत्तभरहाहिवाण चक्कीणं चेव चक्कहरहलहराण य वासाण य णिग्गमा य समाए एए अण्णे य एवमाइ एत्थ वित्थरेणं अत्था समाहिज्जंति × × । सम. सू. १३९.

२. मु. णेयप्पमाणं णाण— ३. क. वाहरण.

४. वियाहेणं नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहसंसइअपुच्छियाणं जिणेणं वित्थरेणं भासियाणं दव्वगुणखेत्तकालपज्जवपदेसपरिणामअहच्छिअट्ठिभावअणुगमणिक्खेवणयप्पमाणसुनिउणोवक्कमविविहप्पकार-पगडपयासियाणं × × × छत्तीस सहस्समणूणयाणं वागरणाणं दंसणाओ × × × पण्णविज्जंति। सम. सू. १४०.

५. नाथः त्रिलोकेश्वराणां स्वामी तीर्थंकरपरमभट्टारकः तस्य धर्मकथा जीवादिवस्तुस्वभावकथनं,

सहस्स-पदेहि ५५६००० सुत्त-पोरिसीसु[1] तित्थयराणं धम्मुवदेसणं[2] गणहरदेवस्स जाद-संसयस्स संदेह-छिंदण-विहाणं, बहुविह-कहाओ उवकहाओ च वण्णेदि । उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस-लक्ख-सत्तरि-सहस्स-पदेहि ११७००००—

दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य ।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदी य[3] ॥ ७४ ॥

इदि एक्कारस-विह-उवासगाणं लक्खणं तेसिं चेव वदारोवण-विहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि[4] । अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लक्ख-अट्ठावीस-सहस्स-

....

प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थंकरोंकी धर्मदेशनाका, सन्देहको प्राप्त गणधरदेवके सन्देहको दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकारकी कथा और उपकथाओंका वर्णन करता है । उपासकाध्ययन नामका अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकारके उपासकोंके लक्षण, उन्हींके व्रत धारण करनेकी विधि और उनके आचरणका वर्णन करता है । अन्तकृद्दशा नामका अंग तेवीस लाख अट्ठाईस हजार पदोंके द्वारा एक एक तीर्थंकरके तीर्थमें नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषोंको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त हुये दश दश अन्तकृतकेवलियोंका वर्णन करता है, तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

....

घातिकर्मक्षयानन्तरकेवलज्ञानसहोत्पन्नतीर्थकरत्वपुण्यातिशयविजृंभितमहिम्नः तीर्थकरस्य पूर्वाह्णमध्याह्ना-पराह्णार्धरात्रेषु षट्षट्घटिकाकालपर्यंत द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति अन्यकालेऽपि गणधर-शक्रचक्रधरप्रश्नानन्तरं चोद्भवति । एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्नश्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति । अथवा ज्ञातुर्गणधरदेवस्य जिज्ञासमानस्य प्रश्नानुसारेण तदुत्तरवाक्यरूपा धर्मकथा तत्पृष्टास्तित्वनास्तित्वादिस्वरूपकथनम् । अथवा ज्ञातॄणां तीर्थकरगणधरशक्रचक्रधरादीनां धर्मानु-बंधिकथोपकथाकथनं नाथधर्मकथा ज्ञातृधर्मकथा नाम वा षष्ठमंगम् । गो. जी., जी. प्र. टी. ३५६. णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइअइड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहातवोवहाणाइं परियागा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाइं पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति × × । सम. सू. १४१.

१. सुत्तपोरिसी-सूत्रपौरुषी सिद्धान्तोक्तविधिना स्वाध्यायप्रस्थापनम् । अभि. रा. को.

२. मु. धम्मदेसणं ।

३. प्रा. प. १, १३६ । गो. जी. ४७७.

४. उवासगदसासु णं उवासयाणं रिद्धिविसेसा परिसा । वित्थरधम्मसवणाणि बोहिलाभ-अभिगम-सम्मत्तविसुद्धया थिरत्तं मूलगुण-उत्तरगुणाइयारा ठिईविसेसा य बहुविसेसा पडिमाभिग्गहग्गहण-पालणा उवसग्गाहियासणा णिरुवसग्गा य तवा य विचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममारणं-तिया य संलेहणाझोसणाहिं अप्पाणं जह य भावइत्ता × × कप्पवरविमाणुत्तमेसु अणुभवंति × × अणोवमाइं सोक्खाइं । एते अन्ने य एवमाइअत्था वित्थरेण य × × आघविज्जंति । सम. सू. १४२.

पदेहि २३२८००० एक्कक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये–– संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कंविल[1]-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थंकर-तीर्थे[2]। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा[3]। अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं वाणउदि-लक्ख-चोयाल-सहस्स-पदेहि ९२४४००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण अणुत्तर-विमाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थ-

जिन्होंने संसारका अन्त किया उन्हें अन्तकृतकेवली कहते हैं। वर्द्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंविल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृतकेवली हुए हैं। इसीप्रकार ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थंकरोंके तीर्थमें और दूसरे दश दश अनगार दारुण उपसर्गोंको जीतकर संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृतकेवली हुए। इन सबकी दशाका जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नामका अंग कहते हैं।

अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग बानवे लाख चवालीस हजार पदोंद्वारा एक एक तीर्थमें नाना प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त करके पांच अनुत्तर विमानोंमें गये हुए दश दश अनुत्तरौपपादिकोंका वर्णन करता है। तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है––

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त,

---

१. मु. किष्किविल।

२. " संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमिमतंगसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमवाल्मीकवलीकनिष्कंबलपालंबष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थंकरतीर्थे ॥" त. रा. वा. पृ. ५१. 'वलीक' स्थाने 'वलिक' पाठः मो. जी., जी. प्र., टी. ३५७. " अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा, णमि १ मातंगे २ सोमिले ३ रामगुत्ते ४ सुदंसणे ५ चेव। जमाली ६ त भगाली त ७ किंकमे ८ पल्लतेतिय ९ ॥ फाले अंबडपुत्ते त १० एमेते दस आहिता ॥ एतानि च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गेऽध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते, यतस्तत्राभिधीयते–– 'गोयम १ समुद्द २ सागर ३ गंभीरे ४ चेव होइ थिमिए ५ य। अयले ६ कंपिल्ले ७ खलु अक्खोभ ८ पसेणइ ९ विण्हू १० ॥ ततो वाचनान्तरापेक्षाणि इमानीति संभावयामः। न च जन्मान्तरनामापेक्षया एतानि भविष्यन्तीति वाच्यं, जन्मान्तराणां तत्र अनभिधीयमानत्वादिति। स्था. सू. ७५४. (टीका).

३. अंतगडदसासु णं अंतगडाणं णगराइं ×× समोसरणा धम्मायरिया, धम्मकहा ×× पव्वज्जाओ, ×× जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मक्खयम्मि जह केवलस्स लंभो परियाओ, जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं पायोवगओ य जो जहिं जत्तियाणि भत्ताणि छेअइत्ता अंतगडो मुणिवरो ×× मोक्खसुहं च पत्ता एए अन्ने य एवमाइअत्था वित्थारेणं परूवेइ। सम. सू. १४३.

भाष्ये— उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजित-सर्वार्थसिद्धाख्यानि पंचानुत्तराणि । अनुत्तरेष्वौपपादिका: अनुत्तरौपपादिका:, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिकेय-नन्द[1]-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थंकरतीर्थे । एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्नाः इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा[2] । पण्हवायरणं णाम अंगं तेणउदिलक्ख-सोलह-सहस्स-पदेहि ९३१६००० अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि

जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं । जो अनुत्तरोंमें उपपादजन्मसे पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं । ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें हुए हैं । इसी तरह ऋषभनाथ आदि तेवीस तीर्थंकरोंके तीर्थमें अन्य दश दश महासाधु दारुण उपसर्गोंको जीतकर विजयादिक पांच अनुत्तरोंमें उत्पन्न हुए । इस तरह अनुत्तरोंमें उत्पन्न होनेवाले दश साधुओंका जिसमें वर्णन किया जावे उसे अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग कहते हैं ।

प्रश्नव्याकरण नामका अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदोंके द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओंका (तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल-संबन्धी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय और पराजय संबन्धी प्रश्नोंके पूंछनेपर उनके उपायका) वर्णन करता है ।

---

१. ' कार्तिक नंद ' इति पाठः । त. रा. वा. पृ. ५१. ' कार्तिकेय नंद ' इति पाठः गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७. मु. कार्तिकेयानन्द ।

२. अणुत्तरोववाइयदसासु णं अनुत्तरोववाइयाणं × × × तित्थकरसमोसरणाइं परमंगल्लजगहियाणि जिणातिसेसा य बहुविसेसा जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं × × अणगारमहरिसीणं वण्णओ × × अवसेसकम्मविसयविरत्ता नरा जहा अब्भुवेंति धम्ममुरालं संजमं तवं चावि बहुविहप्पगारं जह बहूणि वासाणि अणुचरित्ता आराहियनाणदंसणचरित्तजोगा × × जे य जहिं जत्तियाणि भत्ताणि छेअइत्ता लद्धूण य समाहिमुत्तम-ज्झाणजोगजुत्ता उववन्ना मुणिवरोत्तमा जह अणुत्तरेसु पावंति जह अनुत्तरं तत्थ विसयसोक्खं तओ य चुआ कमेण काहिंति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमाइअत्था वित्थरेण × × आघविज्जंति सम. सू. १४४. ईसिदासे य १ धण्णे त २ सुणक्खत्ते य ३ कातिते ४ । सट्ठाणे ५ सालिभद्दे त ६, आणंदे ७ तेतली ८ तित । दसन्नभद्दे ९ अतिमुत्ते १० एमेते दस आहिया ॥ ' अणुत्तरो ' इत्यादि, इह च त्रयो वर्गास्तत्र तृतीयवर्गे दृश्यमानाध्ययनैः कैश्चित्सह साम्यमस्ति, न सर्वैः । यतस्तत्र तु दृश्यते ' धन्यश्च सुनक्षत्र: ऋषिदासश्चाख्यातः पेल्लको रामपुत्रश्चन्द्रमाः प्रोष्ठक इति ॥ १ ॥ पेढालपुत्रोऽनगारः पोट्टिलश्च विहल्लः दशम उक्तः, एवमेते आख्याता दश ॥ २ ॥ तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाऽध्ययनविभाग उक्तो न पुनरुप-लभ्यमानवाचनापेक्षयेति । स्था. सू. ७५५. (टीका)

चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि[1]। तत्थ अक्खेवणी[2] णाम छद्दव्व-णव-पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। विक्खेवणी[3] णाम पर-समएण स-समयं दूसंती पच्छा दिगंतर-सुद्धिं करेंती स-समयं थावंती छद्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि। संवेयणी[4] णाम पुण्ण-फल-संकहा। काणि पुण्ण-फलाणि? तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरिद्धीओ। णिव्वेयणी[5] णाम पाव-फल-संकहा। काणि पाव-फलाणि? णिरय-तिरिय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम। उक्तं च—

जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते हैं। अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थोंका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। पुण्यके फलका वर्णन करनेवाली कथाको संवेदनी कथा कहते हैं।

शंका— पुण्यके फल कौनसे हैं।

समाधान— तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोंकी ऋद्धियां पुण्यके फल हैं।

पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका— पापके फल कौनसे हैं?

समाधान— नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं।

अथवा, संसार, शरीर और भोगोंमें वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है—

---

१. प्रश्नस्य दूतवाक्यनष्टमुष्टिचिन्तादिरूपस्यार्थस्त्रिकालगोचरो धनधान्यादिलाभालाभसुखदुःखजीवितमरणजयपराजयादिरूपो व्याक्रियते व्याख्यायते यस्मिंस्तत्प्रश्नव्याकरणम्। अथवा शिष्यप्रश्नानुरूपतया आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी चेति कथा चतुर्विधा व्याक्रियन्ते यस्मिंस्तत्प्रश्नव्याकरणं नाम। गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७.

२. प्रथमानुयोगकरणानुयोगचरणानुयोगद्रव्यानुयोगरूपपरमागमपदार्थानां तीर्थंकरादिवृत्तान्तलोकसंस्थानदेशसकलयतिधर्मपंचास्तिकायादीनां परमताशंकारहितं कथनमाक्षेपणी कथा। गो. जी., जी. प्र. टी. ३५७.

३. प्रमाणनयात्मकयुक्तियुक्तहेतुत्वादिबलेन सर्वथैकान्तादिपरसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपणी कथा। गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७.

४. रत्नत्रयात्मकधर्मानुष्ठानफलभूततीर्थंकराद्यैश्वर्यप्रभावतेजोवीर्यज्ञानसुखादिवर्णनरूपा संवेजनी कथा। गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७.

५. संसारशरीरभोगरागजनितदुष्कर्मफलनारकादिदुःखदुष्कुलविरूपांगदारिद्र्यापमानदुःखादिवर्णना-

आक्षेपणीं[1] तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणीं[2] तत्त्वदिगन्तशुद्धिम् ।
संवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चां निर्वेदिनीं[3] चाह कथां विरागाम्[4] ॥ ७५ ॥

एत्थ विक्खेवणी णाम कहा जिण-वयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा[5], अगहिय-स-समय-सब्भावो पर-समय-संकहाहि वाउलिद-चित्तो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज त्ति तेण तस्स विक्खेवणीं मोत्तूण सेसाओ तिण्णि वि कहाओ कहेयव्वाओ । तदो गहिय-ससमयस्स[6] उवलद्ध-पुण्ण-पावस्स जिण-सासणे अट्ठि-मज्जाणुरत्तस्स[7] जिण-वयण-

तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है । तत्त्वसे दिशान्तरको प्राप्त हुई दृष्टियोंका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है । विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेदिनी कथा है ।

इन कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो जिनवचनको नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचनमें प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि, जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमयके रहस्यको नहीं जाननेवाले पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश न देकर शेष तीन कथाओंका उपदेश देना चाहिये । उक्त तीन कथाओंद्वारा जिसने स्वसमयको भलीभांति समझ लिया है, जो पुण्य और पापके स्वरूपको जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियोंके मध्यमें रहनेवाला

द्वारेण वैराग्यकथनरूपा निर्वेजनी कथा । गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७.

१. आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी । चतुर्विधा सा आयारक्खेवणी, ववहारक्खेवणी, पण्णत्तिक्खेवणी, दिट्ठिवायक्खेवणी । आचारो लोचास्नानादि:, व्यवहार:कथंचिदापन्नदोष-व्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षण:, प्रज्ञप्तिश्च संशयापन्नस्य मधुरवचनै: प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि-भावकथनम् । विज्जाचरणं च तवो य पुरिसकारो य समिइ गुत्तीओ । उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ अक्खेवणीइरसो ॥ अभि. रा. को. (अक्खेवणी).

२. विक्षिप्यते सन्मार्गात्कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोताऽनयेति विक्षेपणी । सा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा, (१) ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ । (२) परसमयं कहेत्ता ससमयं ठावित्ता भवइ । (३) सम्मावायं कहेइ, सम्मावायं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ । (४) मिच्छावायं कहेत्ता सम्मावायं ठावइत्ता भवइ ॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोगवेयसंजुत्ता । परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी णाम । अभि. रा. को. (विक्खेवणी). ३. मु. निर्वेगिनीं ।

४. आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ । ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ संवेयणी पुण कहा णाण चरित्तं तववीरियइड्ढिगदा । णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥
मूलारा. ६५६, ६५७.

५. वेणइयस्स पढमया कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा । तो ससमयगहियत्थे कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥ अक्खेवणि अक्खित्ता जे जीवा ते लभंति सम्मत्तं । विक्खेवणीए भज्जा गाढतरागं च मिच्छत्तं ॥ अभि. रा. को. (धम्मकहा). ६. मु. गहिद-समयस्स ।

७. भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा । धम्माणुरागरत्तो य होइ जिणसासणे णिच्चं ॥ मूलारा. ७३७.

णिव्विदिगिच्छस्स भोगरइ-विरदस्स तव-सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा कहेयव्वा । एसा अकहा वि पण्णवयंतस्स परूवयंतस्स तदा कहा होदि[1] । तम्हा पुरिसंतरं पप्प समणेण कहा कहेयव्वा । पण्हादो हद-णट्ठ-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वाउ-संखं च परूवेदि । विवागसुत्तं[2] णाम अंगं एग-कोडि-चउरासीदि-लक्ख-पदेहि १८४००००० पुण्ण-पाव-कम्माणं विवायं वण्णेदि । एक्कारसंगाणं सव्व-पद-समासो चत्तारि कोडीओ पण्णारह लक्खा बे सहस्सं च ४१५०२००० । दिट्ठिवादो[3] णाम अंगं बारसमं । तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूपं निरूप्यते- कौत्कल-काण्ठेविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-मांद्धपिक-रोमश-हारीत-मुण्ड-

रस हड्डीसे संसक्त होकर ही शरीरमें रहता है, उसी तरह जो जिनशासनमें अनुरक्त है, जिन-वचनमें जिसको किसी प्रकारकी विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और जो तप, शील और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना चाहिये । प्ररूपण करके उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है । इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये । यह प्रश्नव्याकरण नामका अंग प्रश्नके अनुसार हृत, नष्ट, मुष्टि, चिंता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्याका भी प्ररूपण करता है । विपाक-सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मोंके फलोंका वर्णन करता है । ग्यारह अंगोंके कुल पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है । दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग है । आगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं- दृष्टिवाद नामके अंगमें कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी मतोंका, मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति,

अस्थीनि च कीकसानि मिञ्जा च तन्मध्यवर्ती धातुरस्थिमिञ्जास्ता: प्रेमानुरागेण सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भादिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा । अथवाऽस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता । भग. २. ५. १०६ (टीका).

१. परसमओ उभयं वा सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेणं ।। तो सव्वज्झयणाइं ससमयवत्तव्वनिययाइं ।। मिच्छसमयसमूहं सम्मत्तं जं च तदुवगारम्मि । वट्टइ परसिद्धंतो सो तस्स तओ ससिद्धंतो ।। वि. भा. ९५६,९५७.

२. शुभाशुभकर्मणां तीव्रमंदमध्यमविकल्पशक्तिरूपानुभागस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयफलदानपरिणतिरूप: उदयो विपाक:, तं सूत्रयति वर्णयतीति विपाकसूत्रम् । गो. जी., जी. प्र., टी. ३५७. विवागसुए णं सुक्कडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जंति । × × । सम. सू. १४६.

३. दृष्टीनां त्रिषष्ठ्युत्तरत्रिशतसंख्यानां मिथ्यादर्शनानां वादोऽनुवाद:, तन्निराकरणं च यस्मिन् क्रियते तद्दृष्टिवादं नाम । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६०. दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणया आघविज्जंति । से समासओ

अश्वलायनादीनां क्रियावाद-दृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, शाकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-बादरायण-स्वेष्टकृदैति-कायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्[1]। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

एत्थ किमायारादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो आयारादो, एवं वारणा सव्वेसिं, दिट्ठिवादादो। तस्स उवक्कमो पंचविहो- आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। तत्थ आणुपुव्वी तिविहा– पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि।

....

वाद्वलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियोंके चौरासी मतोंका, शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण स्वेष्टकृत्, ऐतिकायन वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियोंके सरसठ मतोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकवादियोंके बत्तीस मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है। पूर्वमें कहे हुए क्रियावादी आदिके कुल भेद तीनसौ त्रेसठ होते हैं।

इस शास्त्रमें क्या आचारांगसे प्रयोजन है, क्या सूत्रकृतांगसे प्रयोजन है, इस तरह बारह अंगोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। और इस तरह पूछे जाने पर यहां पर न तो आचारांगसे प्रयोजन है, न सूत्रकृतांग आदिसे प्रयोजन है इस तरह सबका निषेध करके यहां पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये। उसका उपक्रम पांच प्रकारका है– आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। इनमेंसे पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिनने पर बारहवें

....

पंचविहे, परिकम्मं सुत्ताइं पुव्वगयं अणुओगो चूलिया। परिकम्मे सत्तविहे × × ×। सुत्ताइं अट्ठासीति भवंतीति मक्खायाइं × × ×। पुव्वगयं चउद्दसविहं पन्नत्तं। अणुओगे दुविहे पन्नत्ते × × ×। जण्णं आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलियाओ, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं सेत्तं चूलियाओ। सम. सू. १४७.

१. कौत्कलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमांछपिकरोमसहारीतमुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतं। मरीचकुमारकपिलोलूकगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्वलिमाठरमौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः। शाकल्यवल्कलकुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकठमाध्यंदिनमोदपैप्पलादबादरायणाम्बष्ठीकृदैरिकायनवसुजैमिन्यादीनामज्ञानकुदृष्टीनां सप्तषष्टिः। वशिष्ठपाराशरजतुकीर्णवाल्मीकिरोमहर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। त. रा. वा. पृ. ५१. 'काणेविद्धि' स्थाने 'कंठेविद्धि', 'मांद्धपिक' स्थाने 'मांथपिक', 'कण्व' स्थाने 'कठ', 'स्वेष्टकृत्' स्थाने 'स्विष्ठिकृत्', जतुकर्ण' स्थाने 'जतुष्कर्ण', 'अयस्थूण' स्थाने 'अगस्त्य' पाठा उपलभ्यन्ते। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६०.

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बारसमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पढमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दिट्ठिवायादो। णामं— दिट्ठीओ वददि त्ति दिट्ठिवादं त्ति गुणणामं। पमाणं- अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं। वत्तव्वदा— तदुभयवत्तव्वदा। तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति— परियम्म[1]-सुत्त[2]-पढमाणियोग[3]-पुव्वगय[4]-चूलिया[5] चेदि। जं तं परियम्मं तं पंचविहं। तं जहा— चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि। तत्थ चंदपण्णत्ती[6] णाम छत्तीस-लक्ख-पंच-पद-सहस्सेहि ३६०५००० चंदाउ-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-

---

अंगसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनने पर पहलेसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनने पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है।

नाम— इसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका 'दृष्टिवाद' यह गौण्यनाम है।

प्रमाण— अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है।

वक्तव्यता— इसमें तदुभयवक्तव्यता है।

उस दृष्टिवादके पांच अधिकार हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इस तरह परिकर्मके पांच भेद हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म छत्तीस लाख पांच हजार पदोंकेद्वारा चन्द्रमाकी आयु,

---

१. परितः सर्वतः कर्माणि गणितकरणसूत्राणि अस्मिन् तत्परिकर्म। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६१.

२. सूचयति कुदृष्टिदर्शनानीति सूत्रम्। जीवः अबंधकः अकर्ता निर्गुणः अभोक्ता स्वप्रकाशकः परप्रकाशकः अस्त्येव जीवः नास्त्येव जीवः इत्यादिक्रियाक्रियाज्ञानविनयकुदृष्टीनां मिथ्यादर्शनानि पूर्वपक्षतया कथयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६१.

३. प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः। चतुर्विंशतितीर्थंकरद्वादशचक्रवर्तिनवबलदेवनववासुदेवप्रतिवासुदेवरूपत्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराणानि वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

४. इह तीर्थंकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते। गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा। अन्ये तु व्याचक्षते, पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति पश्चादाचारादिकम्। नं. सू. पृ. २४०.

५. सुदट्ठत्थाणं विसेसपरूविया चूलिया णाम। धवला. अ. पृ. ५७३. दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगेऽनुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः। नं. सू. पृ. २४६.

६. चन्द्रप्रज्ञप्तिः चन्द्रस्य विमानायुःपरिवारऋद्धिगमनह्रासवृद्धिसकलार्धचतुर्थांशग्रहणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२

वण्णणं कुणइ। सूर-पण्णत्ती[1] पंच-लक्ख-तिण्णि-सहस्सेहि ५०३००० सूरस्सायु-भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेह-दिण-किरणुज्जोव-वण्णणं कुणइ। जंबूदीव-पण्णत्ती[2] तिण्णि-लक्ख-पंचवीस-पद-सहस्सेहि ३२५००० जंबूदीवे णाणाविह-मणुयाणं भोग-कम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद-दह णइ-वेइया-वंसावासाकट्टिम[3]-जिणहरादीणं वण्णणं कुणइ। दीवसायरपण्णत्ती[4] बावण्ण-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ५२३६००० उद्धार-पल्ल-पमाणेण दीव-सायर-पमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतब्भूदत्थं बहु-भेयं वण्णेदि। वियाहपण्णत्ती[5] णाम चउरासिदी-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ८४३६००० रूवि-अजीव-दव्वं अरूवि-अजीव-दव्वं भवसिद्धिय-अभवसिद्धिय-रासिं च वण्णेदि। सुत्तं अट्ठासीदि-लक्ख-पदेहि ८८००००० अबंधओ अलेवओ[6] अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो ... ...

परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्बकी ऊंचाई आदिका वर्णन करता है। सूर्यप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म पांच लाख तीन हजार पदोंकेद्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्बकी ऊंचाई, दिनकी हानि-वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदोंकेद्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नाना प्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदिका वर्णन करता है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा उद्धारपल्यसे द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नाना प्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

दृष्टिवाद अंगका सूत्र नामका अर्थाधिकार अठासी लाख पदोंकेद्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्ति-स्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, पृथिवी आदिक पांच भूतोंके समुदायरूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञानके बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है,

१. सूर्यप्रज्ञप्तिः सूर्यस्यायुर्मंडलपरिवारऋद्धिगमनप्रमाणग्रहणादीन् वर्णयति। गो.जी., जी.प्र., टी. ३६२.

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपगतमेरुकुलशैलह्रदवर्षकुंडवेदिकावनखंडव्यंतरावासमहानद्यादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

३. मु. वेइयाणं वस्सा-।

४ द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः असंख्यातद्वीपसागराणां स्वरूपं तत्रस्थितज्योतिर्वानभावनावासेषु विद्यमाना-कृत्रिमजिनभवनादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

५. रूप्यरूपिजीवाजीवद्रव्याणां भव्याभव्यभेदप्रमाणलक्षणानां अनंतरसिद्धपरम्परासिद्धानां अन्य-वस्तूनां च वर्णनं करोति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.　　६. मु. अवलेवओ।

उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो णिक्कलो अप्पेति वण्णेदि । तेरासियं[1] णियदिवादं[2] विण्णाणवादं[3] सद्दवादं[4] पहाणवादं[5] दव्ववादं[6] पुरिसवादं[7] च वण्णेदि । उत्तं च—

....

इत्यादि रूपसे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोंके तीनसौ त्रेसठ मतोंका पूर्वपक्षरूपसे वर्णन करता है । यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद, और पुरुषवादका भी वर्णन करता है । कहा भी है—

....

१. तेरासिय (त्रैराशिकाः) गोशालप्रवर्तिता आजीविकाः पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते । कस्मादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति । तद्यथा, जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसत्सदसत् । नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा, द्रव्यास्तिकं पर्यायास्तिकमुभयास्तिकं च । ततस्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः । नं. सू. पृ. २३९.

२. णियतिवाद (दैववादः) जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ।। गो. क. ८८२. ये तु नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहुः, नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि, यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते ? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः । अभि. रा. को. (णियइ).

३. विण्णाणवाद (विज्ञानाद्वैतवादः) प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तःप्रविष्टत्वप्रसिद्धेः संवेदनमेव पारमार्थिकं तत्त्वम् । तथाहि, यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति । × × × तथा यद्वेद्यते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति । न्या. कु. च. पृ. ११९. बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्यन्ते ते विज्ञानवादिनः । तेषां राद्धान्तो विज्ञानवादः । अभि. रा. को. (विण्णाणवाद).

४. सद्दवाद (शब्दब्रह्मवादः) सकलं भोगजमयोगजं वा प्रत्यक्षं शब्दब्रह्मोल्लेख्येवावभासते बाह्याध्यात्मिकार्थेषूत्पद्यमानस्यास्य शब्दानुविद्धत्वेनैवोत्पत्तेः, तत्संस्पर्शवैकल्ये प्रत्ययानां प्रकाशमानताया दुर्घटत्वात् । वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च, तदभावे तेषां नापरं रूपमवशिष्यते । न्या. कु. च. पृ. १३९, १४०.

५. पहाणवाद (प्रधानवादः) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य वादः प्रधानवादः सांख्यवाद इत्यर्थः । सांख्यानां हि पुमर्थापेक्षप्रकृतिपरिणाम एव लोकः । अभि. रा. को. (पहाणवाद).

६. दव्ववाद (द्रव्यैकान्तवादी नित्यवादः) यत्कापिलं दर्शनं सांख्यमतं एतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम् । तदुक्तम्, जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं । स. त. ३, ४८.

७. पुरिसवाद (पौरुषवादः) आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे । थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ।। गो. क. ८९०. अथवा, पुरिसवाद पुरुषाद्वैतवादः— एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य । सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ।। गो. क. ८८१. पुरुष एवैकः सकललोकस्थितिसर्गप्रलयहेतुः प्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानातिशयशक्तिरिति । तथा चोक्तम्, ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् । प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ।। इति । तथा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि मन्वानानां वादः पुरुषवादः । अभि. रा. को. (पुरिसवाइ).

अट्ठासी[1]-अहियारेसु चउण्हमहियारणमत्थणिद्देसो[2] ।
पढमो अबंधयाणं बिदियो तेरासियाण बोद्धव्वो ॥ ७६ ॥
तदियो य णियइ-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि ॥

पढमाणियोगो पंच-सहस्स-पदेहि ५००० पुराणं वण्णेदि । उत्तं च—

बारसविहं पुराणं जगदिट्ठं[3] जिणवरेहि सव्वेहि ।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य ॥ ७७ ॥
पढमो अरहंताणं बिदियो पुण चक्कवट्टि-वंसो दु ।
विज्जहराणं तदियो चउत्थयो वासुदेवाणं ॥ ७८ ॥
चारण-वंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं ।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो ॥ ७९ ॥
णवमो य इक्खुयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो ।
वाईणेक्कारसमो बारसमो णाह-वंसो दु ॥ ८० ॥

पुव्वगयं पंचाणउदि-कोडि-पण्णास-लक्ख-पंच-पदेहि ९५५००००५ उप्पाय-

---

इस सूत्र नामक अर्थाधिकारके अठासी अधिकारोंमेंसे चार अधिकारोंका अर्थनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अबन्धकोंका दूसरा त्रैराशिकवादियोंका, तीसरा नियति-वादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥

दृष्टिवाद अंगका प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पांच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने जगतमें बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरोंका, दूसरा चक्रवर्तियोंका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणोंका, पांचवां चारणोंका, छठवां प्रज्ञाश्रमणोंका वंश है । तथा सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नववां इक्ष्वाकुवंश, दसवां काश्यपवंश, ग्यारहवां वादियोंका वंश और बारहवां नाथवंश है ॥ ७७–८० ॥

दृष्टिवाद अंगका पूर्वगत नामका अर्थाधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पांच पदोंद्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदिका वर्णन करता है ।

---

१. सुत्ताइं अट्ठासीति भवंति । तं जहा, उजुगं परिणयापरिणयं बहुभंगियं विप्पच्चइयं विनयचरियं अणंतरं परंपरं समाणं संजूहं (मासाणं) संभिन्नं अहाच्चयं (अहव्वायं नन्दां) सोवत्थि (वत्तं यं) णंदावत्तं बहुलं पुट्ठापुट्ठं वियावत्तं एवंभूयं दुआवत्तं वत्तमाणप्पयं समभिरूढं सव्वओभद्दं पणामं (पस्सासं नंदा) दुपडिग्गहं इच्चेयाइं बावीसं ताइं छिण्णछेअणइआइं ससमयसुत्तपरिवाडीए इच्चेआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्न-छेयनइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए इच्चेआइं बावीसं सुत्ताइं तिकणइयाइं तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कणइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए एवामेव सपुव्वावरेण अट्ठासीति सुत्ताइं भवंति ।
सम. सू. १४७.

२. मु. मत्थि णिद्देसो ।

३. ' जं दिट्ठं ' इति पाठः प्रतिभाति ।

ख्खय-पुवसादीणं वण्णणं कुणइ। चूलिया पंचविहा– जलगया थलगया मायागया रूवगया आगासगया चेदि। तत्थ जलगया दो-कोडि-णव-लक्ख-एऊण-णउइ-सहस्स-बे-सय-पदेहि २०९८९२०० जलगमण–जलत्थंभण–कारण–मंत–तंत–तवच्छरणाणि वण्णेदि[1]। थलगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि[2]। मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० इंद-जालं वण्णेदि[3]। रूवगया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि[4]। आयासगया णाम तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि[5]। चूलिया-सव्व-पद-समासो-दस-कोडीओ एगूण-पंचास-लक्ख-छायाल सहस्स-पदाणि १०४९४६००० ।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगताके भेदसे चूलिका पांच प्रकारकी है। उनमेंसे, जलगता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ पदोंद्वारा जलमें गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमिसंबन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणोंका वर्णन करती है। मायागता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा (मायारूप) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। रूपगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादि के स्वरूपके आकाररूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है। आकाशगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है। इन पांचो ही चूलिकाओंके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख

१. जलगता चूलिका जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भाग्निभक्षणाग्न्यासनाग्निप्रवेशनादिकारणमंत्रतंत्र-तपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

२. स्थलगता चूलिका मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्रगमनादिकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

३. मायागता चूलिका मायारूपेन्द्रजालविक्रियाकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

४. रूपगता चूलिका सिंहकरितुरगरुरुनरतरुहरिणशशकवृषभव्याघ्रादिरूपपरावर्तनकारणमंत्रतंत्र-तपश्चरणादीन् चित्रकाष्ठलेप्योत्खननादिलक्षणधातुवादरसवादखन्यावादादींश्च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

५. आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारणमंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६२.

एत्थ किं परियम्मादो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो परियम्मादो, णो सुत्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं । पुव्वगयादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थाणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बिदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पुव्वगयादो । पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगयमिदि गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो पुण अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाहियारो चोद्दसविहो । तं जहा– उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञान-प्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याण-नामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति ।

तत्थ उप्पादपुव्वं[1] दसण्हं वत्थूणं १० बे-सद-पाहुडाणं २०० कोडि-पदेहि

छयालीस हजार पद है ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें क्या परिकर्मसे प्रयोजन है? क्या सूत्रसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इस तरह सबका निषेध करके यहां पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है– अनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पूर्वानु-पूर्वीसे गिननेपर चौथे भेदसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वीसे गिननेपर पूर्वगतसे प्रयोजन है जो पूर्वोंको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोंके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते है । इसतरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, संघात प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त-प्रमाण है । तीनों वक्तव्यताओंमेंसे यहां स्वसमयवक्तव्यता समझना चाहिये । अर्थाधिकारसे चौदह भेद हैं । वे ये हैं– उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व ।

उनमेंसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके एक करोड़ पदोंद्वारा जीव, काल

---

१. वस्तुनः द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याद्यनेकधर्मपूरकमुत्पादपूर्वम् । तच्च, जीवादिद्रव्याणां नानानय-विषयक्रमयौगपद्यसंभावितोत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिकालगोचराणि नवधर्मा भवन्ति । तत्परिणतं द्रव्यमपि नवविधम्, उत्पन्नं उत्पद्यमानं उत्पत्स्यमानं नष्टं नश्यत् नंक्ष्यत् स्थितं तिष्ठत् स्थास्यदिति नवप्रकारा भवन्ति । उत्पादादीनां प्रत्येकं नवविधत्वसंभवादेकाशीतिविकल्पधर्मपरिणतद्रव्यवर्णनं करोति । गो.जी., जी. प्र.,टी. ३६६.

१००००००० जीव-काल-पोग्गलाणमुप्पाद-व्वय-धुवत्तं वण्णेइ । अग्गेणियं णाम पुव्वं चोद्दसण्हं वत्थूणं १४ बे-सयासीदि-पाहुडाणं २८० छण्णउइ-लक्ख-पदेहि ९६,००००० अंगाणमग्गं वण्णेइ[1] । वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडाणं १६० सत्तरि-लक्ख-पदेहि ७०,००००० अप्प-विरियं पर-विरियं उभय-विरियं खेत्त-विरियं भव-विरियं तव-विरियं वण्णेइ[2] । अत्थिणत्थिपवादं णाम पुव्वं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठि-ति-सय-पाहुडाणं ३६० सट्ठि-लक्ख-पदेहि ६०,००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि[3] । तं जहा— जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यादस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादवक्तव्यः, प्रथमद्वितीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, द्वितीयतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, प्रथम-

---

और पुद्गल द्रव्यके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन करता है । (अग्र अर्थात् द्वादशांगोंमें प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीयपूर्व कहते हैं ।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्सी प्राभृतोंके छ्यानवे लाख पदों द्वारा अंगोंके अग्र अर्थात् परिमाणका कथन करता है । वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभृतोंके सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्यका वर्णन करता है । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व अठारह वस्तुगत तीनसौ साठ प्राभृतोंके साठ लाख पदोंद्वारा जीव और अजीवके अस्तित्व और नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है । जैसे जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है । जिस समय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अक्रमसे अर्थात् युगपत् विवक्षित होता है उस समय स्यादवक्तव्यरूप है । स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिस समय विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है उस समय कथंचित् नास्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म, स्यान्नास्तिरूप

---

१. अग्रस्य द्वादशांगेषु प्रधानभूतस्य वस्तुनः अयनं ज्ञानं अग्रायणं, तत्प्रयोजनमग्रायणी[illegible] । तच्च सप्तशतसुनयदुर्णयपंचास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थादीन् वर्णयति । गो. जी., जी. प्र., टी. [illegible]६. अग्रं परिमाणं तस्यायमं गमनं परिच्छेदनमित्यर्थः । तस्मै हितमग्रायणीयं, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरि[illegible]कारीति भावार्थः । मं. सु. पृ. २४१.

२. वीर्यस्य जीवादिवस्तुसामर्थ्यस्यानुप्रवादनमनुवर्णनमस्मिन्निति वीर्यानुप्रवादं नाम तृतीयं पूर्वम् । तच्च आत्मवीर्यपरवीर्योभयवीर्यक्षेत्रकालवीर्यभाववीर्यतपोवीर्यादिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायवीर्याणि वर्णयति ।

गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

३. अस्ति नास्ति इत्यादिधर्माणां प्रवादः प्ररूपणमस्मिन्निति अस्तिनास्तिप्रवादं नाम चतुर्थं पूर्वम् ।

गो. जी., जी. प्र. टी. ६६६.

द्वितीयतृतीयधर्मैः क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव इति । एवमजीवादयोऽपि वक्तव्याः । णाणपवादं णाम पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ वि-सय-चालीस-पाहुडाणं २४० एगूण-कोडि-पदेहि ९९९९९९९ पंच णाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि वण्णेदि[1] । दव्वट्ठिय-पज्ज-वट्ठिय-णयं पडुच्च अणादिअणिहण-अणादि-सणिहण-सादिअणिहण-सादिसणिहण-णाणादि[2] वण्णेदि-णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि ।

सच्चपवादं णाम पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ बु-सय-चालीस-पाहुडाणं २४० छहि अहिय-एग-कोडि-पदेहि १००००००६ वाग्गुप्तिः[3] वाक्संस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेक प्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र निरूपितस्तत्सत्यप्रवादम् । व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः । वाक्संस्कार-
कारणानि शिरःकण्ठादीन्यष्टौ स्थानानि । वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः । अभ्याख्यानकलहपैशुन्याबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यग्मिथ्यादर्शना-त्मिका भाषा द्वादशधा । अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याख्यानम् । कलहः प्रतीतः ।

द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप जीव है । इसी तरह अजीवादिकका भी कथन करना चाहिये । ज्ञानप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एककम एक करोड़ पदोंद्वारा पांच ज्ञान तीन अज्ञानोंका वर्णन करता है । तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्तरूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है । सत्यप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एक करोड़ छह पदोंद्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कारके कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके असत्यवचन और दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है । असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचनसंयम अर्थात् मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं । मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कारके कारण हैं । शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है । अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशून्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निकृतिवचन अप्रणतिवचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा बारह प्रकारकी है । यह इसका कर्ता है इस तरह अनिष्ट कथन करनेको अभ्याख्यानभाषा कहते हैं । कलहका

१. ज्ञानानां प्रवादः प्ररूपणमस्मिन्निति ज्ञानप्रवादम् । तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि पंच सम्यग्ज्ञानानि । कुमतिकुश्रुतविभंगाख्यानि त्रीण्यज्ञानानि स्वरूपसंख्याविषयफलानि आश्रित्य तेषां प्रामाण्या-प्रामाण्यविभागं च वर्णयति । गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

२. मु. सादिसणिहणाणि ।

३. इत आरभ्य सत्यप्रवादवर्णनान्तं यावत् समपाठोऽविकलरूपेण तत्त्वार्थराजवार्तिके पृ. ५२ पंक्ति ८ तः आरभ्य २८ तमपंक्तिपर्यन्तः शब्दशः उपलभ्यते ।

पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम् । धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्धा वागबद्धप्रलापः । शब्दादि-विषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक् । तेष्वेवारत्युत्पादिका रतिवाक् । यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक् । वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवणः

आत्मा [illegible] निकृतिवाक् । यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाभ्यां[1] केष्वपि न प्रणमति साऽप्रणतिवाक् । यां श्रुत्वा स्तेये प्रवर्तते सा मोषवाक् । सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री[2] सम्यग्दर्शनवाक् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक् । वक्तारश्चाविष्कृतवक्तृपर्यायाः द्वीन्द्रियादयः । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम् । दशविधः सत्यसद्भावः नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समय-सत्यभेदेन । तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि । यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिष्वसत्यपि चैतन्यो-पयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि । असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षादिषु तत्

अर्थ स्पष्ट ही है। (परस्पर विरोधके बढ़ानेवाले वचनोंको कलहवचन कहते हैं।) पीछेसे दोष प्रगट करनेको पैशून्यवचन कहते हैं। धर्म, अर्थ काम और मोक्षके संबन्धसे रहित वचनोंको अबद्धप्रलापवचन कहते हैं। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको रतिवचन कहते हैं। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें अरतिको उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अरतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर परिग्रहके अर्जन और रक्षण करनेमें आसक्ति उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं। जिस वचनको अवधारण करके जीव वाणिज्यमें ठगनेरूप प्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निकृतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर तप और ज्ञानसे अधिक गुणवाले पुरुषोंमें भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे अप्रणतिवचन कहते हैं। जिस वचनको सुनकर चौर्यकर्ममें प्रवृत्ति होती है उसे मोषवचन कहते हैं। समीचीन मार्गका उपदेश देनेवाले वचनको सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं। मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं। जिनमें वक्तृपर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है। नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दश प्रकारका है।

मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो संज्ञा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं। जैसे, ऐश्वर्यादि गुणोंके न होने पर भी किसीका नाम 'इन्द्र' ऐसा रखना नामसत्य है। पदार्थके नहीं होने पर भी रूपकी मुख्यतासे जो वचन कहे जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं। जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदिमें चैतन्य और उपयोगादिक-रूप अर्थके नहीं रहने पर भी 'पुरुष' इत्यादि कहना रूपसत्य है। मूल पदार्थके नहीं

---

१. 'तपोविज्ञानाधिकेष्वपि' इति पाठः । त. रा. वा. पृ. ५२.
२. मू. सम्यङ्मार्गोपदेष्ट्री ।

स्थापनासत्यम् । साद्यनादीन् भावान्[1] प्रतीत्य यद्वचस्तत्प्रतीत्यसत्यम् । यल्लोके संवृत्याश्रितं वचस्तत्संवृतिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि । धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रक्रौञ्चव्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां[2] यथाविभागविधिसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यम् । ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणां व्यपदेष्टृ यद्वचस्तद्देशसत्यम् । छद्मस्थ-ज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमिदमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम् । प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणा-मागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्वचस्तत्समयसत्यम् ।

आदपवादं सोलसण्हं वत्थूणं १६ वीसुत्तर-ति-सय-पाहुडाणं ३२० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६०००००००० आदं वण्णेदि वेदे त्ति वा विण्हु त्ति वा भोत्ते त्ति वा बुद्धे त्ति वा इच्चादि-सरूवेण । उक्तं च---

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो ।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥ ८१ ॥

रहने पर भी कार्यके लिये जो द्यूतसंबन्धी अक्ष (पांसा) आदिमें स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य कहते हैं । सादि और अनादि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं । लोकमें जो वचन संवृति अर्थात् कल्पनाके आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संवृतिसत्य कहते हैं । जैसे, पृथिवी आदि अनेक कारणोंके रहने पर भी जो पंक अर्थात् कीचड़में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि । धूपके सुगन्धी चूर्णके अनुलेपन और प्रघर्षणके समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदिरूप व्यूहरचनाके समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्योंके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजनासत्य कहते हैं । आर्य और अनार्यके भेदसे बत्तीस देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्राप्त करानेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं । ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसत्य कहते हैं । छद्मस्थोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्मके पालन करनेके लिये यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूपसे जो संयत और श्रावकके वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं । आगमगम्य प्रतिनियत छह प्रकारकी द्रव्य और उनकी पर्यायोंकी यथार्थताके प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं ।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीनसौ बीस प्राभृतोंके छब्बीस करोड़ पदोंद्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्माका वर्णन करता है । कहा भी है---

---

१. मु. साद्यनादीनौपशमिकादीन् भावान् ।

२. ' वा सचेतनेतरद्रव्याणां ' इति पाठः । त. रा. वा. पृ. ५२.

सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो ।
असंकडो[1] य खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य[2] ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो वुच्चदे। तं जहा, जीवदि जीविस्सदि पुव्वं जीविदो त्ति जीवो[3]। सुहमसुहं करेदि त्ति कत्ता[4]। सच्चमसच्चं संतमसंतं वददि त्ति वत्ता[5]। पाणा एयस्स संति त्ति पाणी[6]। अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता[7]। छव्विह-संठाण-बहुविह-देहेहि[8] पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो[9]। सुह-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो, वेत्ति जानातीति वा वेदः[10]। उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः[11]।

जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥ ८१-८२ ॥

आगे इन्हीं दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है— जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है। शुभ और अशुभ कार्यको करता है, इसलिये कर्ता है। सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है। इसके प्राण पाये जाते हैं इसलिये प्राणी है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकीके भेदसे चार प्रकारके संसारमें पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है। छह प्रकारके संस्थान और नाना प्रकारके शरीरोंद्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्गल है। सुख और दुखका वेदन करता

---

१. 'वेदो' स्थाने 'वेदी', 'संकडो' स्थाने 'संकुडो', 'असंकडो' स्थाने 'असंकुडो' पाठः।
गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

२. गाथाद्वयान्तर्गताः 'च' शब्दाः उक्तानुक्तसमुच्चयार्थाः वेदितव्याः। ततः कारणात् व्यवहाराश्रयेण कर्मनोकर्मरूपमूर्तद्रव्यादिसम्बन्धेन मूर्तः, निश्चयनयाश्रयेणामूर्तः इत्यादय आत्मधर्माः समुच्चीयन्ते।
गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

३. जीवति व्यवहारनयेन दशप्राणान् निश्चयनयेन केवलज्ञानदर्शनसम्यक्त्वरूपचित्प्राणांश्च धारयति जीविष्यति जीवितपूर्वश्चेति जीवः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

४. व्यवहारनयेन शुभाशुभं कर्म, निश्चयेन चित्पर्यायांश्च करोतीति कर्ता। गो.जी.,जी. प्र.,टी. ३६६

५. व्यवहारनयेन सत्यमसत्यं च वक्तीति वक्ता, निश्चयेनावक्ता। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

६. नयद्वयोक्तप्राणाः सन्त्यस्येति प्राणी। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

७. व्यवहारेण शुभाशुभकर्मफलं, निश्चयेन स्वस्वरूपं च भुंक्ते अनुभवतीति भोक्ता।
गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

८. मु. संठाणं।

९. व्यवहारेण कर्मनोकर्मपुद्गलान् पूरयति गालयति चेति पुद्गलः, निश्चयेनापुद्गलः।
गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६.

१०. नयद्वयेन लोकालोकगतं त्रिकालगोचरं सर्वं वेत्ति जानातीति वेदः। गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६.

११. व्यवहारेण स्वोपात्तदेहं समुद्घाते सर्वलोकं, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः।
गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६.

स्वयमेव भूतवानिति स्वयम्भूः[1]। सरीरमेयस्स अत्थि त्ति सरीरी[2]। मनुः ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः[3]। सजण-संबंध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता[4]। चउगइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू[5]। माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी[6]। माया अत्थि त्ति मायी[7]। जोगो अत्थि त्ति जोगी[8]। अइसण्ह-देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो[9]। सव्वं लोगागासं वियापदि त्ति असंकुडो[10]। क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः[11]। अट्ठ-कम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा[12]।

है, इसलिये वेद है। अथवा जानता है, इसलिये वेद है। प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करता है, इसलिये विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयम्भू है। संसार अवस्थामें इसके शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है। मनु ज्ञानको कहते हैं। उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये मानव है। स्वजनसंबन्धी मित्रवर्ग आदिमें आसक्त रहता है, इसलिये सक्ता है। चार गतिरूप संसारमें उत्पन्न होता है, और दूसरों को उत्पन्न करता है इसलिये जन्तु है। इसके मानकषाय पाई जाती है, इसलिये मानी है। इसके मायाकषाय पाई जाती है, इसलिये मायी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिये योगी है। अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है इसलिये संकुट है। संपूर्ण लोकाकाशको व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है। क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूपको जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिये अन्तरात्मा है।

१. यद्यपि व्यवहारेण कर्मवशाद् भवे भवे भवति परिणमति, तथापि निश्चयेन स्वयं स्वस्मिन्नेव ज्ञानदर्शनस्वरूपेणैव भवति परिणमति इति स्वयम्भूः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

२. व्यवहारेण औदारिकादिशरीरमस्यास्तीति शरीरी, निश्चयेनाशरीरः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

३. व्यवहारेण मानवादिपर्यायपरिणतो मानवः उपलक्षणान्नारकः तिर्यङ् देवश्च। निश्चयेन मनौ ज्ञाने भवः मानवः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

४. व्यवहारेण स्वजनमित्रादिपरिग्रहेषु सजतीति सक्ता, निश्चयेनासक्ता। गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६.

५. व्यवहारेण चतुर्गतिसंसारे नानायोनिषु जायत इति जंतुः संसारीत्यर्थः। निश्चयेनाजन्तुः। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

६. व्यवहारेण मानोऽहंकारोऽस्यास्तीति मानी, निश्चयेनामानी। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

७. व्यवहारेण माया वंचना अस्यास्तीति मायी, निश्चयेनामायी। गो. जी., जी. प्र., टी ३६६.

८. व्यवहारेण योगः कायवाङ्मनःकर्मास्यास्तीति योगी, निश्चयेनायोगी। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

९, १० व्यवहारेण सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकसर्वजघन्यशरीरप्रमाणेन संकुटति संकुचितप्रदेशो भवतीति संकुटः, समुद्घाते सर्वलोकं व्याप्नोतीति असंकुटः। निश्चयेन प्रदेशसंहारविसर्पणाभावादमुभयः किंचिदूनचरमशरीरप्रमाण इत्यर्थः। गो. जी., जी. प्र., टी. ६६६.

११. नयद्वयेन क्षेत्रं लोकालोकं स्वस्वरूपं च जानातीति क्षेत्रज्ञः। गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६.

१२. व्यवहारेण अष्टकर्माभ्यन्तरवर्तिस्वभावत्वात्, निश्चयेन चैतन्याभ्यन्तरवर्तिस्वभावत्वाच्च अन्तरात्मा। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

कम्मपवादं णाम पुव्वं वीसण्हं वत्थूणं २० चत्तारि-सय-पाहुडाणं ४०० एग-कोडि-असीदि-लक्ख-पदेहि १८०००००० अट्ठविहं कम्मं वण्णेदि[1]। पच्चक्खाण-णामधेयं तीसण्हं वत्थूणं ३० छस्सय-पाहुडाणं ६०० चउरासीदि-लक्ख-पदेहि ८४००००० दव्व-भाव-परिमियापरिमिय-पच्चक्खाणं उववासविहिं पंच समिदीओ तिण्णि गुत्तीओ च परूवेदि[2]। विज्जाणुवादं णाम पुव्वं पण्णारसण्हं वत्थूणं १५ तिण्णि-सय-पाहुडाणं ३०० एग-कोडि-दस-लक्ख-पदेहि ११०००००० [3]अंगुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्षभौमाङ्ग-स्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति[4]। कल्लाण[5]-णामधेयं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० बि-सद-पाहुडाणं २०० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६००००००० रविशशिनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुन-व्याहृतमर्हद्बलदेववासुदेवचक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च कथयति

कर्मप्रवादपूर्व बीस वस्तुगत चारसौ प्राभृतोंके एक करोड़ अस्सी लाख पदोंद्वारा आठ प्रकारके कर्मोंका वर्णन करता है। प्रत्याख्यानपूर्व तीस वस्तुगत छहसौ प्राभृतोंके चौरासी लाख पदोंद्वारा द्रव्य, भाव आदिकी अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पांच समिति और तीन गुप्तियोंका वर्णन करता है। विद्यानुवादपूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीनसौ प्राभृतोंके एक करोड़ दश लाख पदोंद्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्प विद्याओंका, रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंका, और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह इन आठ महानिमित्तोंका वर्णन करता है। कल्याणवादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके छव्वीस करोड़ पदोंद्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणोंके चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति,

१. कर्मणः प्रवादः प्ररूपणमस्मिन्निति कर्मप्रवादमष्टमं पूर्वं। तच्च मूलोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं बहुविकल्पबंधोदयोदीरणसत्त्वावस्थं ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूपं समवधानेर्यापथतपस्याधाकर्मादि वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

२. प्रत्याख्यायते निषिध्यते सावद्यमस्मिन्ननेनेति वा प्रत्याख्यानं नवमं पूर्वम्। तच्च नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य पुरुषसंहननबलाद्यनुसारेण परिमितकालं अपरिमितकालं वा प्रत्याख्यानं सावद्यवस्तु-निवृत्ति उपवासविधिं तद्भावनांगं पंचसमितित्रिगुप्त्यादिकं च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

३. यया विद्ययांगुष्ठे देवतावतारः क्रियते सा अंगुष्ठप्रसेनी विद्योच्यते। अभि. रा. को. (अंगुट्ठपसेणी)

४. विद्यानां अनुवादः अनुक्रमेण वर्णनं यस्मिन् तद्विद्यानुवादं दशमं पूर्वम्। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

५. कल्याणानां वादः प्ररूपणमस्मिन्निति कल्याणवादमेकादशं पूर्वम्। तच्च तीर्थंकरचक्रधरबलदेव-वासुदेवप्रतिवासुदेवादीनां गर्भावतरणकल्याणादिमहोत्सवान् तत्कारणतीर्थंकरत्वादिपुण्यविशेषहेतुषोडशभावना-तपोविशेषाद्यनुष्ठानानि चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रचारग्रहणशकुनाद्यिफलादि च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६. एकादशमवन्ध्यं, वन्ध्यं नाम निष्फलं न विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यं, किमुक्तं भवति? यत्र सर्वेऽपि ज्ञानतपः-संयमादयः शुभफला सर्वे च प्रमादयोऽशुभफला वर्ण्यन्ते तदवन्ध्यं नाम, तस्य पदपरिमाणं षड्विंशतिः पदकोटयः। नं. सू. पृ. २४१.

पाणावायं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं[1] १० वि-सद-पाहुडाणं २०० तेरस-कोडि-पदेहि १३०००००० कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतिकर्म[2] जाङ्गुलिप्रक्रमं प्राणापानविभागं च विस्तरेण कथयति[3]। किरियाविसालं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वि-सद-पाहुडाणं २०० णव-कोडि-पदेहि ९०००००००० लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुःषष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचितिक्रियां च कथयति[4]। लोकबिंदुसारं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वि-सद-पाहुडाणं २०० बारह[5]-कोडि-पण्णास-लक्ख-पदेहि १२५०००००० अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमनक्रियाः मोक्षसुखं च कथयति[6]। सयल-वत्थु-समासो पंचाणउदि-सदं १९५ सयल-पाहुड-समासो तिण्णि-सहस्सा णवय-सया ३९०० ।

चक्रगति तथा उनके फलोंका, पक्षीके शब्दोंका और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिके गर्भावतार आदि महाकल्याणकोंका वर्णन करता है। प्राणावायपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके तेरह करोड़ पदोंद्वारा शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, अर्थात् शरीर आदिकी रक्षाके लिये किये गये भस्मलेपन सूत्रबंधनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायामके भेद-प्रभेदोंका विस्तारसे वर्णन करता है। क्रियाविशालपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके नौ करोड़ पदोंद्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओंका, स्त्रीसंबन्धी चौसठ गुणोंका, शिल्पकलाका काव्यसंबन्धी गुण-दोषविधिका और छन्दनिर्माणकलाका वर्णन करता है। लोकबिन्दुसारपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके बारह करोड़ पचास लाख पदोंद्वारा आठ प्रकारके व्यवहारोंका, चार प्रकारके बीजोंका, मोक्षको ले जानेवाली क्रियाका और मोक्षसुखका वर्णन करता है। इन चौदह पूर्वोंमें संपूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पञ्चानवे है और संपूर्ण प्राभृतोंका जोड़ तीन हजार नौसौ है।

---

१. मु. वत्थूहं।

२. शरीरभाण्डकरक्षार्थं भस्मसूत्रादिना यत्परिवेष्टनकरणं तद् भूतिकर्म। उक्तं च 'भूईए मट्टियाइ व सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु। वसहीसरीरभंडयरक्खा अभिओगमाईआ। प्र. सा. पू. पृ. १८१.

३. प्राणानां आवादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावादं द्वादशं पूर्वम्। तच्च कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदं भूतिकर्म जांगुलिकप्रक्रमं इलापिंगलासुषुम्नादिबहुप्रकारप्राणापानविभागं दशप्राणानां उपकारकापकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६६.

४. क्रियाभिः नृत्यादिभिः विशालं विस्तीर्णं शोभमानं वा क्रियाविशालं त्रयोदशं पूर्वम्। तच्च संगीतशास्त्रछंदोलंकारादिद्वासप्ततिकलाः चतुःषष्टिस्त्रीगुणान् शिल्पादिविज्ञानानि चतुरशीतिगर्भाधानादिकाः अष्टोत्तरशतं सम्यग्दर्शनादिकाः पंचविंशति देववंदनादिकाः नित्यनैमित्तिकाः क्रियाश्च वर्णयति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३६७.   ५. मु. पाहुडाणं बारह.

६. त्रिलोकबिन्दुसारं इति पाठः। त्रिलोकानां बिन्दवः अवयवाः सारं च वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति त्रिलोकबिन्दुसारम्। तच्च त्रिलोकस्वरूपं षट्त्रिंशत्परिकर्माणि अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षस्वरूपं तद्गमनकारणक्रियाः मोक्षसुखस्वरूपं च वर्णयति॥ गो. जी., जी. प्र., टी. ३६३. यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसंपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम्। त. रा. वा. पृ. ५३.

एत्थ किमुप्पायपुव्वादो, किमग्गेणियादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो उप्पाय-पुव्वादो, एवं वारणा सव्वेसिं । अग्गेणियादो । तस्स अग्गेणियस्स पंचविहो उवक्कमो-आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । अणुपुव्वी तिविहा— पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे विदियादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे तेरसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे अग्गेणियादो । अंगाणमग्ग-पदं वण्णेदि त्ति अग्गेणियं त्ति[1] गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा ।

अत्थाधियारो चोद्दसविहो । तं जहा— पुव्वंते अवरंते धुवे अद्धुवे चयणलद्धी अद्धुवमं पणिधिकप्पे अट्ठे भोम्मावयादीए सव्वट्ठे कप्पणिज्जाणे तीदे अणागय-काले सिज्झए बुज्झए[2] त्ति चोद्दस वत्थूणि[3] । एत्थ किं पुव्वंतादो, किं अवरंतादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा । णो पुव्वंतादो णो अवरंतादो, एवं वारणा सव्वेसिं

इस जीवस्थान शास्त्रमें क्या उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है, क्या अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहां पर न तो उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है और न दूसरे पूर्वोंसे प्रयोजन है इस तरह सबका निषेध करके यहां पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है, इस तरहका उत्तर देना चाहिये ।

उस अग्रायणीयपूर्वके पांच उपक्रम हैं— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी, और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर दूसरेसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर तेरहवेंसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है । अंगोंके अग्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अग्रायणीय' यह गौण्यनाम है । अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्तरूप है । इसमें स्वसमयका ही कथन किया गया है, इसलिये स्वसमयवक्तव्यता है ।

अग्रायणीयपूर्वके अर्थाधिकार चौदह प्रकारके हैं । वे इस प्रकार हैं, पूर्वान्त, अपरान्त ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अर्धोपम, प्रणधिकल्प, अर्थ, भौम, व्रतादिक, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण, अतीतकालमें सिद्ध और बद्ध, अनागतकालमें सिद्ध और बद्ध । इनमेंसे यहां पर क्या पूर्वान्तसे प्रयोजन है, क्या अपरान्तसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर पूर्वान्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहीं, इत्यादि रूपसे सबका निषेध कर देना चाहिये । किन्तु चयनलब्धिसे यहां पर प्रयोजन है इस प्रकार उत्तर देना चाहिये । चयनलब्धिका

---

१. मु. अग्गेणियं गुणणामं ।   २. मु. बज्झए ।

३. पूर्वान्तं ह्यपरान्तं ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि । अध्रुवं संप्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं (?) च ॥ सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालम् । सिद्धिमुपाध्यं च तथा चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य ॥ द. भ. पृ. ८-९.

कायव्वा । चयणलद्धीदो । तस्स उवक्कमो पंचविहो । आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा । पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पंचमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चयणलद्धीदो । णामं चयण-विहिं लद्धि-विहिं च वण्णेदि तेण चयणलद्धि त्ति गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाधियारो वीसदिविहो । एत्थ किं पढम-पाहुडादो, किं विदिय-पाहुडादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं णेयव्वा । णो पढम-पाहुडादो णो विदिय-पाहुडादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा । चउत्थ-पाहुडादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो । आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा । पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे सत्तारसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे कम्म-पयडिपाहुडादो । णामं कम्माणं पयडि-सरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति

....

उपक्रम पांच प्रकारका है— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेंसे, यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर पांचवें अर्थाधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर दशवें अर्थाधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर चयनलब्धि नामके अर्थाधिकारसे प्रयोजन है । यह अर्थाधिकार चयनविधि और लब्धिविधिका वर्णन करता है, इसलिये चयनलब्धि यह गौण्यनाम है । अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यात तथा अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका कथन करनेवाला होनेके कारण यहां पर स्वसमयवक्तव्यता है । चयनलब्धिके अर्थाधिकार बीस प्रकारके हैं । उनमेंसे यहां क्या प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन है, क्या दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, इस प्रकार सबका निषेध कर देना चाहिये । किन्तु यहां पर चौथे प्राभृतसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

उसका उपक्रम पांच प्रकारका है— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर चौथे प्राभृतसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर सत्रहवें प्राभृतसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर कर्मप्रकृतिप्राभृतसे प्रयोजन है । यह कर्मोंकी प्रकृतियोंके स्वरूपका वर्णन करता है, इसलिये कर्मप्रकृतिप्राभृत यह गौण्यनाम है । इसका 'वेदनाकृत्स्नप्राभृत' यह दूसरा नाम भी है । कर्मोंके उदयको वेदना कहते हैं । उसका यह

गुणणामं । वेयणकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि । वेयणा कम्माणमुदयो, तं कसिणं णिरवसेसं वण्णेदि, अदो वेयणकसिण-पाहुडमिदि एदमवि गुणणाममेव । पमाणमक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वं ससमयो । अत्थाहियारो चउवीसविहो । तं जहा– कदी वेयणाए फासे कम्मे पयडीसु बंधणे णिबंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे सादमसादे दीहे रहस्से भवधारणीए पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्तं णिकाचिदमणिकाचिदं कम्मट्ठिदी पच्छिमक्खंधे[1] त्ति । अप्पाबहुगं च सव्वत्थ, जेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं साहारणो तेण पुह अहियारो ण होदि त्ति । एत्थ किं कदीदो, किं वेयणादो ? एवं पुच्छा सव्वत्थ कायव्वा । णो कदीदो, णो वेयणादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा । बंधणादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो– आणुपुव्वी

णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा– पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । तत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे छट्ठादो,

---

निरवशेषरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनाकृत्स्नप्राभृत यह भी गौण्यनाम ही है । यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका ही कथन करनेवाला होनेके कारण इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

कर्मप्रकृतिप्राभृतके अर्थाधिकार चौबीस प्रकारके हैं, वे इस प्रकार हैं– कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातअसात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमस्कंध । इन सब अधिकारोंमें अल्पबहुत्व लगा लेना चाहिये, क्योंकि, चौबीस ही अधिकारोंमें अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है, इसलिये अल्पबहुत्वनामका पृथक् अधिकार नहीं है ।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है ? इस तरह सब अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासेही प्रयोजन है, इस तरह सबका निषेध कर देना चाहिये । किंतु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है, इस तरह उत्तर देना चाहिये । उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है– आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेंसे, पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर छटे अधिकारसे,

---

१. पंचमवस्तुचतुर्थप्राभृतकस्यानुयोगनामानि । कृतिवेदने तथैव स्पर्शनकर्म प्रकृतिमेव ।। बंधन-निबंधनप्रक्रमानुपक्रममथाभ्युदयमोक्षौ । संक्रमलेश्ये च तथा लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ।। सातमसातं दीर्घं ह्रस्वं भवधारणीयसंज्ञं च । पुरुपुद्गलात्मनाम च निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ।। सनिकाचितमनिकाचितमथ कर्मस्थितिक-पश्चिमस्कंधौ । अल्पबहुत्वं च यजे तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ।। द. भ. पृ. ९.

पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे एगूणवीसदिमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बंधणादो। णामं बंध-वण्णणादो बंधणो त्ति गुणणामं। पमाणमक्खर-पय-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं। वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा। अत्थाधियारो चउव्विहो। तं जहा— बंधो बंधगो बंधणिज्जं बंधविधाणं चेदि। एत्थ किं बंधादो? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा। णो बंधादो, णो बंधणिज्जादो। बंधगादो बंधविधाणादो च। एत्थ बंधगे त्ति अहियारस्स एक्कारस अणियोगद्दाराणि। तं जहा— एगजीवेण सामित्तं एगजीवेण कालो एगजीवेण अंतरं णाणाजीवेहि भंगविचयो दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो णाणाजीवेहि कालाणुगमो णाणाजीवेहि अंतराणुगमो भागाभागाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। एत्थ किं एगजीवेण सामित्तादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं। णो एगजीवेण सामित्तादो, एवं धारणा सव्वेसिं। पंचमादो। दव्वपमाणादो दव्वपमाणाणुगमो णिग्गदो।

पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर उन्नीसवें अधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है। यह बन्धन नामक अधिकार बन्धका वर्णन करता है, इसलिये इसका ' बन्धन ' यह गौण्यनाम है। यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है। स्वसमयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वसमयवक्तव्यता है।

इसके अर्थाधिकार चार प्रकारके हैं। वे इस प्रकार हैं— बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। यहांपर क्या बन्धसे प्रयोजन है? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहांपर बन्धसे प्रयोजन नहीं है, न बन्धनीयसे प्रयोजन है, किन्तु बन्धक और बन्धविधानसे यहांपर प्रयोजन है।

इन बन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। वे इस प्रकार हैं— एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। यहांपर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन है? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये। यहांपर एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सबका निषेध भी कर देना चाहिये। किन्तु यहां पांचवें द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इस प्रकार उत्तर देना चाहिये।

इस जीवस्थान शास्त्रमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक नामके अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामके पांचवें अधिकारसे निकला है।

बंधविहाणं चउव्विहं । तं जहा– पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि । तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तर-पयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति । तं जहा, समुक्कित्तणा सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो

अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । एदेसु समुक्कित्तणादो पयडिसमुक्कित्तणा ट्ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया णिग्गया । तेवीसदिमादो भावादो भावो णिग्गदो । जो सो अव्वोगाढुत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, भुजगारबंधो पयडिट्ठाणबंधो चेदि । जो सो भुजगारबंधो तस्स अट्ठ अणियोगद्दाराणि, सो थप्पो । जो सो पयडिट्ठाणबंधो तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि । तं जहा, संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । एदेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु छ अणियोगद्दाराणि णिग्गयाणि ।

बन्धविधान चार प्रकारका है । वह इस प्रकार– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । उन चार प्रकारके बन्धमेंसे मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदसे प्रकृति-बन्ध दो प्रकारका है । उनमेंसे, मूलप्रकृतिबन्धका वर्णन स्थगित करके उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदोंका वर्णन करते हैं । वह उत्तरप्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है– एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध । उनमेंसे जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध है उसके चौवीस अनुयोगद्वार हैं । वे इस प्रकार हैं– समुत्कीर्तना, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्य-बन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसंनिकर्ष, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन चौवीस अधिकारोंमें जो समुत्कीर्तना नामका अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेवीसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है ।

जो अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध है वह दो प्रकारका है– भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थान-बन्ध । उनमेंसे, भुजगारबन्धके आठ अनुयोगद्वारोंके वर्णनको स्थगित करके प्रकृतिस्थानबन्धमें जो आठ अनुयोगद्वार हैं उनका वर्णन करते हैं । वे इस प्रकार हैं– सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छह अनुयोगद्वार निकले हैं । वे इस प्रकार हैं– सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा,

तं जहा— संतपरूवणा खेत्तपरूवणा पोसणपरूवणा कालपरूवणा अंतरपरूवणा अप्पाबहुगपरूवणा चेदि । एदाणि छ पुव्विल्लाणि दोण्णि एक्कदो मेलिदे जीवट्ठाणस्स अट्ठ अणियोगद्दाराणि हवंति । पयडिट्ठाणबंधे वुत्त-संतादि-छ-अणियोगद्दाराणि पयडिट्ठाणबंधस्स वुत्ताणि । पुणो जीवट्ठाणस्स संतादि-छ-अणियोगद्दाराणि चोद्दसण्हं गुणट्ठाणाणं वुत्ताणि । कधं तेहिंतो एदाणमवदारो त्ति? ण एस दोसो, एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी अत्थि । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी एवडि खेत्ते । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधएहि मिच्छाइट्ठीहि एवदियं खेत्तं पोसिदं । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी तं मिच्छत्त-गुणमछंडंता[1] जहण्णेण एत्तियं कालमुक्कस्सेण एत्तियं कालमच्छंति । ताणमंतर-कालो जहण्णुक्कस्सेण एत्तिओ होदि ।

स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा । ये छह और बन्धक अधिकार के ग्यारह अधिकार हैं, उनमेंके द्रव्यप्रमाणानुगममेंसे निकला हुआ द्रव्यप्रमाणानुगम तथा एकोत्तरप्रकृतिबन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनमेंके तेवीसवें भावानुगममेंसे निकला हुआ भावप्रमाणानुगम, इस तरह इन सबको एक जगह मिला देने पर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हो जाते हैं ।

शंका— प्रकृतिस्थानबन्धमें जो छह अनुयोगद्वार कहे गये हैं वे प्रकृतिस्थानबन्धसंबन्धी कहे गये हैं । किन्तु जीवस्थानके जो सत्प्ररूपणा आदि छह अनुयोगद्वार हैं वे चौदह गुणस्थानसंबन्धी कहे गये हैं । ऐसी हालतमें प्रकृतिस्थानबन्धसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोंमेंसे जीवस्थानसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोंका अवतार कैसे हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव हैं । मिथ्यादृष्टि जीव इतने क्षेत्रमें इस प्रकृतिस्थानके बन्धक होते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंने इतना क्षेत्र स्पर्श किया है । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव उस मिथ्यात्व गुणस्थानको नहीं छोड़ते हुए जघन्यकी अपेक्षा इतने कालतक और उत्कृष्टकी अपेक्षा इतने कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंका जघन्य अन्तरकाल इतना और उत्कृष्ट अन्तरकाल इतना होता है । इसी तरह शेष गुणस्थानोंका कथन करके फिर उनका अल्पबहुत्व कहा गया है । इसलिये उस प्रकृतिस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंके साथ जीवस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंका एकत्व अर्थात् समानता विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

विशेषार्थ— प्रकृतिस्थानबन्धमें सदादि छह अनुयोगोंका प्रकृतिस्थानकी अपेक्षा कथन है और इस जीवस्थानमें प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा सदादि छह अनुयोगोंका कथन है । इसलिये प्रकृतिस्थानके छह अनुयोगोंमेंसे जीवस्थानके छह अनुयोगोंकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

१. मु. मछदंता ।

एवं सेसगुणट्ठाणं च भणिऊण पुणो तेसिमप्पाबहुगं उत्तं । तेण तेहि पयडिट्ठाणम्हि उत्त-छहि अणियोगद्दारेहि सह एगत्तं ण विरुज्झदे । एत्थतण-दव्वाणियोगस्स वि किं ण गहणं कीरदि त्ति उत्ते, ण, मिच्छाइट्ठी-आदि-गुणट्ठाणेहि विणा एयस्स बंधट्ठाणस्स बंधया जीवा एत्तिया इदि सामण्णेण वुत्तत्तादो । बंधगे उत्त-दव्वाणियोगस्स गहणं कीरदि, तत्थ बंधगा मिच्छाइट्ठी एत्तिया सासणादिया एत्तिया इदि उत्तत्तादो । कधमजोगि-गुणट्ठाणस्स अबंधगस्स दव्व-संखा परूविज्जदि त्ति, ण एस दोसो, भूद-पुव्व-गइमस्सिऊण तस्स भणण-संभवादो । जीवपयडि-संत-बंधमस्सिऊण उत्तमिदि वा । एवं भावस्स वि वत्तव्वं । एवं जीवट्ठाणस्स अट्ठ-अणियोगद्दार-परूवणं कदं ।

प्रकृतिस्थान अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका भी ग्रहण इस जीवस्थानमें क्यों नहीं किया है ? अर्थात् प्रकृतिस्थान अधिकारके सत्आदि छह अनुयोगोंमेंसे जिस प्रकार जीवस्थानके सत्आदि छह अनुयोगद्वारोंकी उत्पत्ति बतलाई है, उसी प्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानु-योगमेंसे जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है ? इस प्रकारकी शंका करनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृतिस्थानके द्रव्यानुयोग अधिकारमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके विना ' इस बन्धस्थानके बन्धक जीव इतने हैं ' ऐसा केवल सामान्यरूपसे कथन किया गया है । और बन्धक अधिकारके द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपसे कथन किया गया है । इसलिये बन्धक अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें किया है । अर्थात् बन्धक अधिकारके द्रव्यानुगम प्रकरणसे जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है ।

शंका—— अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, इसलिये उनकी द्रव्यप्रमाणानुगममें द्रव्यसंख्या कैसे कही जावेगी ?

समाधान—— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका कथन संभव है । अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें प्रकृतिस्थानोंके बन्धक थे वे ही अयोगी हैं । इस प्रकार अयोगी गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा, जीवके सत्त्वरूप प्रकृतिबन्धका आश्रय लेकर अयोगी गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका प्ररूपण किया गया है ।

भावानुगमका कथन भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

विशेषार्थ—— जीवस्थानकी भावप्ररूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुगममेंसे न निकल कर एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनके तेवीसवें भावानुगममेंसे निकली है । इसका कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और एकैकोत्तर-प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका विशेषरूपसे कथन है । इस तरह जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंका निरूपण किया ।

तदो ट्ठिदिबंधो दुविहो— मूलपयडिट्ठिदिबंधो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिट्ठिदिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्दाराणि । तं जहा— अद्धाछेदो सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि । तत्थ अद्धाछेदो दुविहो— जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदो उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदो चेदि । जहण्णट्ठिदिअद्धाछेदादो जहण्णट्ठिदी णिग्गदा । उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदादो उक्कस्सट्ठिदी णिग्गदा । पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पत्ती णिग्गया । वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिग्गदा । संपहि पुव्वं उत्तपयडिसमुक्कित्तणा[1] ट्ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया एदाणं पंचण्हमुवरि संपहि उत्त[2]-जहण्णट्ठिदि-अद्धाछेदं उक्कस्सट्ठिदिअद्धाछेदं सम्मत्तुप्पत्तिं गदिरागदिं च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति । एवं सव्वमवि मणेण अवहारिय 'एत्तो' इदि उत्तं भयवदा पुप्फयंतेण ।

स्थितिबन्ध दो प्रकारका है— मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध । उनमेंसे मूलप्रकृतिस्थितिबन्धका वर्णन स्थगित करके जो उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं उनका कथन करते हैं । वे इस प्रकार हैं— अर्धच्छेद, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसंनिकर्ष, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इनमें अर्धच्छेद दो प्रकारका है— जघन्यस्थिति-अर्धच्छेद और उत्कृष्ट-स्थिति-अर्धच्छेद । इनमें जघन्यस्थिति-अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति निकली है और उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेदसे उत्कृष्टस्थिति निकली है । सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है और व्याख्याप्रज्ञप्तिसे गति आगति नामका अधिकार निकला है ।

अब नौ चूलिकाओंका उत्पत्तिक्रम बताते हैं, पहले जो एकंकोत्तरप्रकृति अधिकारके समुत्कीर्तना नामके प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महा-दण्डकोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं, उन पांचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति-अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोंके मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार हो जाते हैं । इस समस्त कथनको मनमें निश्चय करके भगवान् पुष्प-दन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा ।

१. मु. उत्तपयडि- । २. मु. पुव्वुत्त ।

'इमेसिं' एतेषाम्। न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः, आगमाहितसंस्कारस्याचार्यस्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तदविरोधात्। जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः[1]। चतुर्दश च ते जीवसमासाः चतुर्दशजीवसमासाः। तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः। तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः। मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायाम्। तस्यामिति तत्र। 'इमानि' इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते, नार्थमार्गणस्थानानि, तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः। तानि च मार्गणस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणस्थानसंख्याया न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल एवकारः। किं मार्गणं नाम? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्। उक्तं च—

'एत्तो' इत्यादि सूत्रमें जो 'इमेसिं' पद आया है उससे जो प्रत्यक्षीभूत पदार्थका निर्देश होता है वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि, जिनकी आत्मा आगमाभ्याससे संस्कृत है ऐसे आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्षीभूत हैं। अतएव 'इमेसिं' इस पदके प्रयोग करनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अनन्तानन्त जीव जिनमें संग्रह किये जांय उन्हें जीवसमास कहते हैं। वे जीवसमास चौदह हैं। उन चौदह जीवसमासोंसे यहां पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं। अर्थात् जीवसमासका अर्थ यहां पर गुणस्थान लेना चाहिये। मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। मार्गणारूप प्रयोजनको मार्गणार्थ कहते हैं। मार्गणार्थ अर्थात् मार्गणारूप प्रयोजनके भाव अर्थात् विशेषताको मार्गणार्थता कहते हैं। उस मार्गणारूप प्रयोजन विशेषकी विवक्षा होनेपर, यहां पर इसी अर्थमें 'तत्थ' यह पद आया है। 'इमाणि' इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका निर्देश किया है। द्रव्यमार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणाएं देश, काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती हैं। अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। वे मार्गणास्थान चौदह ही हैं। यहां सूत्रमें जो 'एवं' पद दिया है उसका फल या प्रयोजन मार्गणास्थानकी संख्याके न्यूनाधिकभावका निषेध करना है।

शंका— मार्गणा किसे कहते हैं?

समाधान— सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। कहा भी है—

---

१. कथमियं 'जीवसमास' इति संज्ञा गुणस्थानस्य जाता? इति चेज्जीवाः समस्यन्ते संक्षिप्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। अथवा जीवाः सम्यगासते एष्विति जीवसमासा इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्येन गुणस्थानान्येव जीवसमासशब्देनोच्यन्ते। गो. जी., जी. प्र., टी. १०.

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणे मग्गणा होंति[1] ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

'तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी' इति न्यायात् 'तं' तत् मार्गणविधानं । 'जहा' यथेति यावत् । एवं पृष्टवतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेश्यायां भव्ये सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः मृग्यन्ते । 'च' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते समुच्चयार्थः । 'इति' शब्दः समाप्तौ वर्तते । सप्तमीनिर्देशः किमर्थः ? तेषामधि-

श्रुतज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप परमागममें जीव पदार्थ जिस प्रकार देखे गये हैं उसी प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोंके द्वारा अथवा जिन नारकत्वादिरूप पर्यायोंमें खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । और वे चौदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥

वे चौदह मार्गणास्थान जैसे ? ॥३॥

'तत् शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है' इस न्यायके अनुसार 'तत्' इस शब्दसे मार्गणाओंके भेदोंका ग्रहण करना चाहिये । 'जहा' इस पदका अर्थ 'जैसे' होता है । वे जैसे ? इस तरह पूंछनेवाले शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

गति इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं और इनमें जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमें, इन्द्रियमें, कायमें, योगमें, वेदमें, कषायमें, ज्ञानमें, संयममें, दर्शनमें, लेश्यामें, भव्यत्वमें, सम्यक्त्वमें, संज्ञीमें और आहारमें जीवसमासोंका अन्वेषण किया जाता है । इस सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका संबन्ध कर लेना चाहिये । 'इति' शब्द समाप्तिरूप अर्थमें आया है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएं चौदह ही होती हैं ।

१. प्रा. पं. १, ५६. गो. जी. १४१. गत्यादिमार्गणा यदा एकजीवस्य नारकत्वादिपर्यायस्वरूपा विवक्षितास्तदा 'याभिः' इतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिः । यदा एकद्रव्यं प्रति पर्यायाणामधिकरणता विवक्ष्यते तदा 'यासु' इत्यधिकरणे सप्तमी विभक्तिः, विवक्षावशात्कारकप्रवृत्तिरिति न्यायस्य सद्भावात् । जी. प्र. टी. श्रुतं ज्ञायतेऽनेनेति श्रुतज्ञानं, वर्णपदवाक्यरूपं द्रव्यश्रुतं गुरुशिष्यप्रशिष्यपरम्परया द्रव्यागमस्य अविच्छिन्नप्रवाहेण प्रवर्तमानत्वात् । तत्र 'यथा दृष्टास्तथा जानीहि' इति वचनेन शास्त्रकारस्य कालदोषात्प्रमादाद्वा यत्स्खलितं तन्मुक्त्वा परमागमानुसारेण व्याख्यातारः अध्येतारो वाऽविरुद्धमेव वस्तुस्वरूपं गृह्णन्तीति प्रदर्शितमाचार्यैः । मं. प्र. टी.

करणत्वप्रतिपादनार्थः तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्धः। स कथं लभ्यते ? न, देशामर्शकत्वान्निर्देशस्य। यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि 'आइ-मज्झंत-वण्ण-सर-लोवो' इति लुप्ता विभक्तिरित्यभ्यूह्यम्। अहवा 'लेस्सा-भविय-सम्मत्त-सण्णि-आहारए' चेदि एकपदत्वात्सावयवविभक्तयः श्रूयन्ते।

अथ[1] स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पद्यमानोपलभ्यते[2]। तद्यथा, मृगयिता मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति। नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति। नैष दोषः, तेषामप्यत्रोपलम्भात्। तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः,

शंका— सूत्रमें गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यों किया गया है ?

समाधान— उन गति आदि मार्गणाओंको जीवोंका आधार बतानेके लिये सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है।

इसी तरह सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे संभव है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ जो सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण हो जाता है।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोंमें विभक्ति नहीं पायी जाती है, वहां पर भी 'आइमज्झंतवण्णसरलोवो' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है। इस प्राकृतव्याकरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है। फिर भी उसका अस्तित्व समझ लेना चाहिये। अथवा 'लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए' यह एक पद समझना चाहिये, इसलिये लेश्या आदि प्रत्येक पदमें विभक्तियां देखनेमें नहीं आती हैं।

शंका— लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्वेषण देखा जाता है। वे चार प्रकार ये हैं– मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय। परंतु यहां लोकोत्तर पदार्थके विचारमें वे चारों प्रकार नहीं पाये जाते हैं, इसलिये मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी वे चारों प्रकार पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं– जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भव्यपुण्डरीक मृगयिता

१. ननु लोके व्यावहारिकपदार्थस्य विचारे कश्चिन्मृगयिता किंचित् मृग्यं कापि मार्गणा कश्चिन्मार्गणोपाय इति चतुष्टयमस्ति। अत्र लोकोत्तरेऽपि तद् वक्तव्यमिति चेदुच्यते, मृगयिता भव्यवरपुण्डरीकः गुरुः शिष्यो वा। मृग्याः गुणस्थानादिविशिष्टाः जीवाः, मार्गणा गुरुशिष्ययोर्जीवतत्त्वविचारणा। मार्गणोपायाः गतीन्द्रियादयः पंच भावविशेषाः करणाधिकरणरूपाः सन्तीति लोकव्यवहारानुसारेण लोकोत्तरव्यवहारोऽपि वर्तते। गो. जी., मं. प्र., टी. ८४१.   २. मु. निष्पाद्य–।

चतुर्दशगुणविशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यस्याधारतामास्कंदन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति। सूत्रे शेषत्रितयं परिहृत्य किमिति[1] मार्गणमेवोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरीयकत्वाद्वा।

गम्यत इति गतिः[2]। नातिव्याप्तिदोषः, सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात्। न केवलज्ञानादयः प्राप्याः, तथात्मकैकस्मिन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात्। कषायादयो हि प्राप्याः, औपाधिकत्वात्। गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीव-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है। चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं। जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा हैं। शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं।

शंका— इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणावाचक पद देशामर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्संबन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापकभावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है। परंतु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

शंका— जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं?

१. मु. परिहृतमिति।

२. 'गम्यत इति गतिः' एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यात्? तन्न, गतिनामकर्मोदयोत्पन्नजीवपर्यायस्यैव गतित्वाभ्युपगमात्। गमनं वा गतिः। एवं सति ग्रामारामादिगमनस्यापि गतित्वं प्रसज्यते। तन्न, भवाद् भवसंक्रांतेरेव विवक्षितत्वात्। गमनहेतुर्वा गतिरित्यपि भण्यमाने शकटादेरपि गतित्वं प्राप्नोति। तन्न, भवांतरगमनहेतोर्गतिनामकर्मणो गतित्वाभ्युपगमात्। जी. प्र., टी. अत्र मार्गणाप्रकरणे गतिनामकर्म न गृह्यते, वक्ष्यमाणनारकादिगतिप्रपंचस्य नारकादिपर्यायेष्वेव संभवात्।
गो. जी., मं. प्र., टी. १४६.

प्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तितः प्राप्तकर्मभावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। भवाद्भवसंक्रान्तिर्वा गतिः। सिद्धि[1]गतिस्तद्विपर्यासात्। उक्तं च—

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ[2] ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। भावेन्द्रियकार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः। नेयमदृष्टपरिकल्पना, कार्यकारणोपचारस्य

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मासे कथंचित् भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है। और इसीलिये प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं। पूर्वमें जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कह आये हैं, ठीक इससे विपरीतस्वभाववाली सिद्धगति होती है। कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं। अथवा, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाते हैं उसे गति कहते हैं ॥ ८४ ॥

जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। जिसका खुलासा इस प्रकार है— अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है उस इन्द्रियविषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तरूप ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामक ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे इन्द्रियां होती हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में प्रसिद्धरूपसे पाया जाता है।

---

१. मु. सिद्ध-।

२. प्रा. पं. १, ५८. गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई। णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा ॥ गो. जी. १४६.

जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाद्यभावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यागच्छद्गोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात्। भवतु तत्र रूढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । विशेषाभावतस्तेषां[1] सङ्करव्यतिकररूपेण[2] व्यापृतिः व्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे [3]निनियमिते रतानीति प्रतिपादनात् । सङ्करव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम् । स्वेषां विषयः स्वविषयस्तत्र निश्चयेन

शंका— इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता, और अनध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिये उस अवस्थामें आत्माके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं । इस तरह 'गो' शब्दकी व्युत्पत्ति होने पर भी नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमें भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पाई जाती है ।

शंका— भले ही गोपदार्थमें रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी गो-शब्दकी प्रवृत्ति होवे । किंतु इन्द्रियवैकल्यादिरूप अवस्थामें आत्माके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो आत्मामें भी इन्द्रियोंकी विकलता आदि कारणोंके रहने पर रूढिके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार मान लेना चाहिये । ऐसा मान लेनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शंका— इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोंका अभाव होनेसे उनका संकर और व्यतिकररूपसे व्यापार होने लगेगा । अर्थात् या तो वे इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण करेंगी या समस्त इन्द्रियोंका एकही साथ व्यापार होगा ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, 'प्रत्यक्षनिरतानि इन्द्रियाणि' यह पहले कह आये हैं । तदनुसार 'निरतानि' पदमें आये हुए 'नि' उपसर्गका अर्थ नियमित है और प्रत्यक्ष पदका अर्थ विषय या इन्द्रियजन्य ज्ञान है । इस प्रकार जो नियमित अपने अपने विषयमें या उस उस इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें 'रतानि' रत हैं अर्थात् व्यापार करती हैं वे इन्द्रियां हैं यह पहले कह आये हैं, इसलिये संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है ।

१. इत आरभ्य 'इन्द्रिय' शब्दस्य व्याख्यानं यावत्समग्रपाठः गो. जीवकांडस्य 'मदि-आवरण इत्यादि १६५ तमगाथायाः जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकया प्रायेण समानः ।

२. सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः । परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । स्या. मं. च. पृ. ३६०.

३. मु. नीतिनियमिते । 'नीति' इति पाठो नास्ति । गो. जी., जी. प्र. टी. १६५.

निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययावस्थायां निर्णयात्मकरतेरभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रूढिबललाभादुभयत्र प्रवृत्त्यविरोधात् । अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि । निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । अर्यत इत्यर्थः, स्वेऽर्थे च निरतानीन्द्रियाणि, निरवद्यत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति । अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि[1] । उक्तं च—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदिए जाण[2] ॥ ८५ ॥

शंका— संशय और विपर्ययरूप ज्ञानकी अवस्थामें निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका अभाव होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, रूढ़िके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । इसका खुलासा इस प्रकार है— संशय और विपर्ययज्ञानसे निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति कहते हैं । उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते है ।

शंका— जब इन्द्रियां अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित अवस्थामें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूढ़िके बलसे ऐसी अवस्थामें भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है ।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते । 'अर्यते' अर्थात् जो निश्चित किया जाय उसे अर्थ कहते हैं । उस अपने विषयरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । इन्द्रियोंका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विषयमें अधिक वक्तव्य कुछ भी नहीं है । अर्थात् इन्द्रियोंका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहां अवकाश ही नहीं है ।

अथवा, अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियां कहलाती हैं । कहा भी है—

जिस प्रकार ग्रैवेयकादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव मैं सेवक हूं अथवा स्वामी हूं इत्यादि

---

१. यदिन्द्रस्यात्मनो लिंगं यदि वेन्द्रेण कर्मणा । सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियम् ॥ गो. जी., जी. प्र., टी. १६४. इंदो जीवो सव्वोवलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ । सोत्ताइ भेयमिदियमिह तल्लिंगाइ भावाओ ॥ वि. भा. ३५६०. 'इदि' परमैश्वर्ये 'इदितो नुम्' इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीवः) सर्वविषयोपलब्धि- (ज्ञान) -भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं चिन्हमविनाभाविलिङ्गसत्तासूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । अभि. रा. को. (इंदिय).

२. प्रा. पं. १.६५. गो. जी. १६४. यथा ग्रैवेयकादिजाता अहमिन्द्रदेवा अहमहमिति स्वामिभृत्यादि-

चीयत इति कायः । नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः, पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात् । औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे तच्चयनानुपपत्तेः । कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात् । अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गल-

---

विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आज्ञा आदिके पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं, अतएव अहमिन्द्रोंकी तरह इन्द्रियां जानना चाहिये ।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं । यहां पर जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ती बना लेने पर कायको छोड़कर ईंट आदिके संचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ती घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है । ऐसी शंका मनमें निश्चय करके आचार्य कहते है कि इस तरह ईंट आदिके संचयके साथ व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही ' जो संचित किया जाता है ' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है ।

शंका— पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्मवर्गणाओंका संचय नहीं हो सकता है ।

शंका— कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदि कर्मोंके द्वारा संचित हुए नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचयके कारणरूप नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है ।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं ।

शंका— कायका इस प्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह दूर नहीं होता है । अर्थात् इस तरह भी जीवके कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें अकायपनेकी प्राप्ति होती है ।

विशेषशून्यं मन्यमाना एकैके भूत्वा आज्ञादिभिरपरतन्त्राः सन्तः ईशते प्रभवन्ति स्वामिभावं श्रयन्ति, तथा स्पर्शनादिन्द्रियाण्यपि स्पर्शादिस्वस्वविषयेषु ज्ञानमुत्पादयितुमीशते, परानपेक्षया प्रभवन्ति, ततः कारणादहमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि इति । जी. प्र. टी.

पिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निवार्यत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गल-पिण्डस्य तत्र सत्त्वात् । आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वान्न तस्य काय-व्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः । उक्तं च—

> अप्पप्पवुत्ति-संचिद-पोग्गल-पिंडं वियाण कायो त्ति ।
> सो जिणमदम्हि भणिओ पुढविक्कायादिछब्भेदो[1] ॥ ८६ ॥
> जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेण्हिऊण कावोडिं ।
> एमेव वहइ जीवो कम्म-भरं काय-कावोडिं[2] ॥ ८७ ॥

युज्यत इति योगः । न युज्यमानपटादिना व्यभिचारः, तस्यानात्मधर्मत्वात् ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है । अर्थात् जिससमय आत्मा कार्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है ।

शंका—कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता है ?

समाधान—नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव होनेसे कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह संज्ञा बन जाती है । कहा भी है—

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय समझना चाहिये । वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है । और वे पृथिवी आदि छह काय, त्रसकाय और स्थावरकायके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार भारको ढोनेवाला पुरुष कावड़को लेकर भारको ढोता है, उसी प्रकार यह जीव शरीररूपी कावड़को लेकर कर्मरूपी भारको ढोता है ॥ ८७ ॥

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । यहां पर जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं ऐसी व्याप्ति करने पर संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार हो जायगा । इस प्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह संयोगको प्राप्त होने-वाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं हैं । जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । इस प्रकारकी व्याप्तिमें

१. जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ । सो जिणमदम्हि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेओ ॥ प्रा. पं. १, ७५ । गो. जी. १८१.

२. प्रा. पं. १, ७६ ; गो. जी. २०२. लोके यथा भारवहः पुरुषः कावटिकं भारं गृहीत्वा विवक्षितस्थानं वहति नयति प्रापयति तथा संसारिजीवः औदारिकादिनोकर्मशरीरस्थितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभारं गृहीत्वा नानायोनिस्थानानि वहति । जी. प्र. टी.

न कषायेण व्यभिचारः, तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः । अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः । उक्तं च—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो ।
जीवस्स प्पणिओओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो[1] ॥ ८८ ॥

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति, वेदत्वं[2] प्रत्यविशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगतेः 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा । अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । अत्रापि

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे यद्यपि संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकका निराकरण हो जायगा फिर भी कषायका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि, कषाय आत्माका धर्म है और संयोगको भी प्राप्त होता है। इसलिये जो आत्मप्रवृत्ति संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यह व्याप्ति कषायमें भी घटित होती है, अतएव कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। ऐसी शंकाको मनमें धारण करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पड़ती है। अथवा, प्रदेशपरिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत वीर्यकी उत्पत्तिको योग कहते हैं। अथवा, आत्माके प्रदेशोंके संकोच और विस्ताररूप होनेको योग कहते हैं। कहा भी है—

मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्यविशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं। अथवा, जीवके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाको योग कहते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कथन किया है ॥ ८८ ॥

जो वेदा जाय, अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं।

शंका— वेदका इस प्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद संज्ञा प्राप्त हो जायगी, क्योंकि, वेदनपनेकी अपेक्षा वेद और आठ कर्मोंका उदय ये दोनों ही समान हैं। जिस तरह वेद वेदनरूप है, उसी तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पाई जाती है, इसलिये विशेषका ज्ञान हो जाता है। अथवा, रौढ़िक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढ़िके आधीन होती है, इसलिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ़ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नहीं।

१. प्रा. पं. १, ८८। पुग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स। जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो। गो. जी. २१६. मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो। जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसण्णो जिणक्खाओ॥ तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो। जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो॥ जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा। सत्ती सामत्थं ति य जोगस्स हवंति पज्जाया॥ स्था. सू. पृ. १०१.

२. मु. वेदत्वं।

मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रूढिवशाद्वेदनाम्नां कर्मणा-मुदयस्यैव वेदव्यपदेशात्। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः। उक्तं च—

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो।
थी-पुं-णवुंसए वि य वेए त्ति तओ हवइ वेओ॥ ८९॥

सुखदुःखबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः। 'कषन्तीति कषायाः' इति किमिति न व्युत्पादितः कषायशब्दश्चेन्न, ततः संशयोत्पत्तेः प्रतिपत्तिगौरवभयाच्च। उक्तं च—

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमें सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं।

शंका— इस प्रकारके लक्षणके करने पर भी संपूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, इस व्युत्पत्तिमें भी रूढिके बलसे वेदनामक कर्मोंके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है।

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमें स्त्री-पुरुषविषयक मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। कहा भी है—

वेदकर्मकी उदीरणासे यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है, और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभावका वेदन करता है, इसलिये उस वेदकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं॥ ८९॥

सुख, दुःखरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं।

शंका— यहां पर कषाय शब्दकी, 'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इस प्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं' कषाय शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर कसनेवाले किसी भी पदार्थको कषाय माना जायगा। अतः कषायोंके स्वरूप समझनेमें संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं इस प्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई। तथा, उक्त व्युत्पत्तिसे कषायोंके स्वरूपके समझनेमें कठिनता जायगी, इस भीतिसे भी 'जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं,' कषाय शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई। कहा भी है—

---

१. प्रा. पं. १, १०१। पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे। णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो। संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोसं वा॥ गो. जी. २७१, २७२.

सुह-दुक्ख-सुबहु-सस्सं कम्म-क्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसार-दूर-मेरं तेण कसायो त्ति णं बेंति[1] ॥ ९० ॥

भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात् । कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्तेः । एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् ।

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं ॥ ९० ॥

सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्तिविशेषको ज्ञान कहते हैं ।

शंका— मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान भूतार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है ।

शंका— यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रतिभासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है ।

शंका— इस तरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है ।

शंका— यदि ऐसा है तो इस कथनका कालानुयोगमें आये हुए 'एगजीवं पडुच्च

१. प्रा. पं. १, १०० । गो. जी. २८२. अत्र मिथ्यादर्शनादिजीवसंक्लेशपरिणामरूपं बीजं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदकर्मबन्धनलक्षणे क्षेत्रे उप्त्वा क्रोधादिकषायनामा जीवस्य भृत्यः पुनरपि कालादिसामग्रीलब्धिसमुत्पन्नसुखदुःखलक्षणबहुविधधान्यानि अनाद्यनिधनसंसारदूरसीमानि यथा सुफलितानि भवंति तथा उपर्युपरि कृषति इति 'कृषि विलेखने' इत्यस्य धातोर्विलेखनार्थं गृहीत्वा निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थनिरूपणं आचार्येण कृतमिति । जी. प्र. टी. कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति । कषः संसारः तस्मिन्नासमन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कषायाः । यद्वा कषाया इव कषायाः, यथा हि तुवरिकादिकषायकलुषिते वाससि मञ्जिष्ठादिरागः श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठते तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्म संबध्यते चिरं स्थितिकं च जायते, तदायत्तत्वात्तस्थितेः । अभि. रा. को. (कसाय)

कालसूत्रेण सह विरोधः किन्न भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात्। विपर्ययः कथं भूतार्थप्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलभ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्व-तस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्। एतेन संशय-विपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात् शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्। ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्याया-ननेन जानातीति ज्ञानम्। अभिन्नस्य कथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदेऽभेदे च

अणादिओ अपज्जवसिदो [illegible] आयगा ? अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त आदि आया है। और यहां पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर विरुद्ध है। अतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि, इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान— ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा कालका कथन किया है, वहां क्षयोपशमकी प्रधानता है।

शंका— विपर्ययज्ञान सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थोंमें सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका इस प्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका (सम्यग्ज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्ध-निश्चयनयकी विवक्षामें तत्त्वार्थका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं यह बात सिद्ध होती है।

शंका— ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थोंके जाननेके प्रति साधकतम कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्माके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और कथंचित् भिन्न तथा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिये आत्मासे कथंचित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

---

१. कालपदेनात्र कालानुयोगद्वारो बोद्धव्यः। तत्र चैकानेकजीवापेक्षया ज्ञानादिमार्गणानां कालः प्रतिपादितः। तत्र प्रतिपादितानि च सूत्राणि कालसूत्राणि ज्ञेयानि। प्रकृते च 'णाणाणुवादेण मदिअण्णाणि-सुदअण्णाणीसु मिच्छादिट्ठी ओघं (कालानु. सू. २४३.) ओघेण मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा (कालानु. सू. २१०.) एगजीवं पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो, अणादिओ सपज्जवसिदो, सादिओ सपज्जवसिदो। (कालानु. सू. ३.) क. जी. का. सू.

स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य करणत्वविरोध इति । उक्तं च—

जाणइ तिकाल-सहिए दव्व-गुणे पज्जए य बहु-भेए ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणं[1] त्ति णं बेंति[2] ॥ ९१ ॥

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमः, तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेषसमितित्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः । उक्तं च—

लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ— यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्मी है अथवा यह धर्म इस धर्मीका है, इस प्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग आता है । और यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्मी इस प्रकारका भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अभेद माननेपर इन दोनोंसे किसी एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जावे, तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके विना नहीं रह सकता है । और यदि केवल धर्मीका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके विना उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मीसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये । इस तरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मी व्यवस्था बन सकती है और धर्म-धर्मी व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९१ ॥

संयमन करनेको संयम कहते हैं । संयमका इस प्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य-यम अर्थात् भावचारित्रशून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमें ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

शंका— यहां पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं होने पर संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममें दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण समितियोंका ग्रहण हो जाता है ।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है । कहा भी है—

१. मु. णाणे त्ति ।
२. प्रा. पं. १, ११७ । गो. जी. २९९.

वय-समिदि-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया संजमो भणिओ[1] ॥ ९२ ॥

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसङ्गः, तयोरनात्मधर्मत्वात् । दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात्[2] । किं तच्चैतन्यमिति चेत्, त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यम् ।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना; क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायोंका निग्रह करना; मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंका जय; इसको संयम कहते हैं ॥ ९२ ॥

जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इस प्रकारका लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष आता है । शङ्काकारकी इस प्रकारकी शङ्काको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं । यहां चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये ।

शंका— जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इस प्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है ।

शंका— वह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान— त्रिकालविषयक अनन्तपर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं ।

शंका— अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

---

१. प्रा. पं. १२७ । गो. जी. ४६५.

२. उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत्स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते । तदनन्तरं यद् बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम् । यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात्पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्य यत्स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति । तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते । बृ. द्र. सं. पृ. ८१-८२.

स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्य-नेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । तर्ह्यस्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति[1] चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनोऽक्रमेणोपल-म्भात्[2] । सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवओगा' इत्यनेन सह विरोधात् । अपि च न ज्ञानं प्रमाणं, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात् । न तस्य ग्रहणमपि, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषे

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिस तरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उस तरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका— यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है।

शंका— यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा आओ, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'छद्मस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है। और जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है। अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्ताकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इस तरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात्, जब कि सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं ?

१. जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं । स. त. २. १.
२. मु. वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् ।

अवस्तुनि[1] कर्तृकर्मरूपाभावात् । तत एव न दर्शनमपि प्रमाणम् । अस्तु प्रमाणाभाव इति चेन्न, प्रमाणाभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम् । तथा च 'जं सामण्णग्गहणं[2] तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्[3] । तदपि कथमवसीयत इति चेत्[4] 'भावाणं णेव कट्टु आयारं' इति वचनात् । तद्यथा, भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम् । अस्यैवार्थस्य पुनरपि

शंका— यदि ऐसा है, तो प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय ?

समाधान— यह ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभीका अभाव मानना पड़ेगा ।

शंका— यदि प्रमेयादि सभीका ही अभाव होता है तो होओ ?

समाधान— यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमेयादिका अभाव देखनेमें नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है । अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक स्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका— उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारणरूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है ।

शंका— यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है ?

समाधान— क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' इस वचनसे उक्त बात जानी जाती है । इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके, अर्थात् बाह्य पदार्थोंके, आकार अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्थाको नहीं करके, जो ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं । फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है' इत्यादि रूपसे

१. मु. व्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि ।

२. मु. सामण्णं गहणं ।

३. यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते तर्हि 'जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दंसणं' इति गाथार्थः कथं घटते ? तत्रोत्तरं, सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत्, आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यते । बृ. द्र. सं. पृ. ८२-८३.

४. मु. चेन्न ।

दृढीकरणार्थमाह, 'अविसेसिऊण अट्ठे' इति, अर्थानविशेष्य यद् ग्रहणं तद्दर्शनमिति[1]। न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं, तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दति, अतिप्रसङ्गात्[2]। सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्यानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात्। दर्शनं प्रमाणमेव, अविसंवादित्वात्, प्रतिभासः प्रमाणञ्चाप्रमाणञ्च, विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात्। आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका-आलोकत इत्यालोकनमात्मा,

पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसी आशङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेषरहित केवल सामान्य अवस्तुस्वरूप है, इसलिये वह दर्शनके विषयभावको (कर्मपनेको) नहीं प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार सामान्यके बिना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्यका ग्रहण मान लिया जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

शंका— दर्शनके लक्षणको इस प्रकारका मान लेने पर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिये वह अनध्यवसायरूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है। और जो प्रतिभास अर्थात् ज्ञानसामान्य है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि, उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते हैं।

अथवा आलोकन वृत्तिको अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन अर्थात् आत्मा कहते हैं। और वर्तन अर्थात् व्यापारको वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति को आलोकनवृत्ति कहते हैं, इसीका नाम

१. यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूल-व्याख्यानेन बहिर्विषये यत्सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादि-विशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यान-मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति। बृ. द्र. सं. पृ. ८६.

२. मु. मास्कन्दतीत्यतिप्रसङ्गात्।

वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका— प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः। उक्तं च —

जं सामण्णग्गहणं[1] भावाणं णेय कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए[2] ॥ ९३ ॥

लिम्पतीति लेश्या। न भूमिलेपिकयाऽतिव्याप्तिदोषः, कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षितत्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। नात्रातिप्रसङ्गदोषः, प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या[3]। ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा

स्वसंवेदन है, उसीको दर्शन कहते हैं। यहां पर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है। अथवा, प्रकाश-वृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है। अर्थात् विषय और विषयीके योग्य देशमें होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते हैं। कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्रका अवभासन होता है उसको परमागममें दर्शन कहा है ॥ ९३ ॥

जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं। यहां पर जो लिम्पन करती है यह लक्षण भूमिलेपिका (जिसके द्वारा जमीन लीपी जाती है) में चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत लेश्याको छोड़कर लक्षणके अलक्ष्यमें चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है। ऐसी शंकाको मनमें उठाकर आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको' इतने अध्याहारकी अपेक्षा है। इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका संबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है। अथवा, कषायसे अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल

१. मु. सामण्णं गहणं।

२. प्रा. पं. १, १३५। गो. जी. ४८२. भावानां सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थानां आकारं भेदग्रहणमकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथं? अर्थात् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिक्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः। जी. प्र. टी. भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं। वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ गो. जी. ४८३.

३. कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या। स. सि. २, ६.

योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्थेयं, तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं, विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्। उक्तं च—

लिंपदि अप्पीकीरदि एदाए णियय-पुण्ण-पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा[1] ॥ १४ ॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। उक्तं च—

सिद्धत्तणस्स[2] जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ॥
ण उ मल-विगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव[3] ॥ १५ ॥

योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लेश्यामें योगकी प्रधानता है। कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं है। कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्याके स्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥१४॥

जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य हैं उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं। किंतु उनके कनकोपल अर्थात् स्वर्णपाषाणके समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है।

विशेषार्थ— सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमें सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिद्ध-अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिद्ध-पदकी प्राप्ति नहीं होती है।

---

1. प्रा. पं. १, १४२। गो. जी. ४८९. । किंतु 'णिययपुण्णपावं च' इत्यत्र 'णियअपुण्णपुण्णं च' पाठः।

2. प्रा. पं. १, १५४। गो. जी. ५५८. किंतु 'सिद्धत्तणस्स' इति स्थाने 'भव्वत्तणस्स' इति पाठः।

3. भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोगत्तेण सिज्झई सव्वो। जह जोग्गम्मि वि दलिए सव्वत्थ न कीरए पडिमा॥ जह वा स एव पासाणकणगजोगो विओगजोग्गोऽवि। न वि जुज्जइ सव्वोच्चिय स विजुज्जइ जस्स संपत्ती॥ किं पुण जा संपत्ती सा जोग्गस्सेव न उ अजोग्गस्स। तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाणं न इयरेसिं॥
वि. भा. २११३,–२११५.

तद्विपरीतोऽभव्यः। सुगममेतत्।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं, सम्यक्त्वम्[1]। सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत्, शुद्धनये समाश्रियमाणे। अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अस्य गमनिकोच्यते— आप्तागमपदार्थास्तत्त्वार्थास्तेषु[2] श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात्। अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्। उक्तं च—

जिन्होंने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया है उन्हें अभव्य कहते हैं। इसका अर्थ सरल है।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी प्रगटता जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

शंका— इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा?

समाधान— शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करने पर यह कहना सत्य है।

अथवा तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं। और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। तथा आप्त, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है।

शंका— पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रशमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिको सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप्त आदिके विषयमें श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है। इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अविरोध कैसे हो सकता है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं। अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें दृष्टिभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है।

अथवा तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये। कहा भी है—

---

१. प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं॥ रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। संसाराद्भीरुता संवेगः। सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकंपा। जीवादयोऽर्था यथास्वभावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्। एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। त. रा. वा. १, २, ३०.

२. मु. पदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु।

छ-प्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण[1] व सद्दहणं होइ सम्मत्तं[2] ॥ ९६ ॥

सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गः, तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही[3] संज्ञी । उक्तं च—

सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु[4] ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । सुगममेतत् । उक्तं च—

आहरदि सरीराणं तिण्हं एगदर-वग्गणाओ जं ।
भासा-मणस्स णियदं तम्हा आहारओ भणिओ[5] ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अधिगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्तिरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं । वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं । यह लक्षण एकेन्द्रियादिकमें चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आजायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है । अथवा जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं । और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ॥ ९७ ॥

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्‌गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । इसका अर्थ सरल है । कहा भी है—

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उदयको प्राप्त हुए किसी

---

१. मु. आणाए हिगमेण ।

२. प्रा. पं. १, १५९ । गो. जी. ५६१. आणाए आज्ञया प्रमाणादिभिर्विना ईषन्निर्णयलक्षणया । अहिगमेण अधिगमेन प्रमाणनयआप्तवचनाश्रयेण निक्षेपनिरुक्त्यनुयोगद्वारैः विशेषनिर्णयलक्षणेन । जी. प्र. टी.

३. हिताहितविधिनिषेधात्मिका शिक्षा । करचरणचालनादिरूपा क्रिया । चर्मपुत्रिकादिनोपदिश्यमानवधविधानादिरुपदेशः । श्लोकादिपाठ आलापः । तद्ग्राही मनोऽवलंबेन यो मनुष्यः उक्षगजशुककीरादिजीवः स संज्ञी नाम । गो. जी., जी. प्र., टी. ६६२.

४. प्रा. पं. १, १७३ । गो. जी. ६६१. मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च । सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ गो. जी. ६६१.

५. प्रा. पं. १, १७६ । गो. जी. ६६५. तत्र च 'भासामणस्स' स्थाने 'भासामणाण' इति पाठः । उदयावण्णसरीरोदएण तद्देहवयणचित्ताणं । णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ गो. जी. ६६४.

तद्विपरीतोऽनाहारः । उक्तं च—

> विग्गह[1]-गइमावण्णा केवलिणो समुहदा अजोगी य ।
> सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा[2] ॥ ९९ ॥

अन्विष्यमाणगुणस्थानानामनुयोगद्वारप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥

'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' एतदेवालं, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वर्त्तिकेत्यर्थः[3] । उक्तं च—

एक शरीरके योग्य तथा भाषा और मनके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको [illegible] ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं ॥ ९८ ॥

उसके विपरीतको अर्थात् औदारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं । कहा भी है—

विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त हुए सयोगिकेवली, और अयोगिकेवली तथा सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं । शेष जीवोंको आहारक समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

अन्वेषण किये जानेवाले गुणस्थानोंके आठ अनुयोगद्वारोंके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन ही चौदह जीवसमासोंके (गुणस्थानोंके) निरूपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर वहां आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शंका—— 'तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि, सूत्रका शेष भाग इसका अविनाभावी है । अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है । उसे सूत्रमें निहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान—— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहके लिये शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है ।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये पांचों पर्यायवाची नाम हैं । कहा भी है—

१. प्रतरलोकपूरणसमुद्घातपरिणतसयोगिजिनाः । गो. जी., जी. प्र., टी. ६६६.

२. प्रा. पं. १, १७७ । गो. जी. ६६६.

३. मु. वार्त्तिकेत्यर्थः । तत्रानुयोजनमनुयोगः, किन्च तत् ? श्रुते निजाभिधेयसम्बन्धनं, अथवा योग इति व्यापार उच्यते, ततस्तानुरूपोऽनुकूलो वा योगो, यथा घटशब्देन घटो भण्यते, अणुना वा योगो अनुयोग इत्येवमादि । तथा निश्चितो योगो नियोगो यथा घटध्वनिना घट एवोच्यते नान्य इत्येवमादि । भाषणं भाषा,

अणियोगो य णियोगो भास-विभासा य वट्टिया चेय ।
एदे अणिओअस्स दु णामा एयट्ठआ पंच[1] ॥ १०० ॥

सूई मुद्दा पडिहो संभवदल-वट्टिया चेय ।
अणियोग-णिरुत्तीए दिट्ठंता होंति पंचेय[2] ॥ १०१ ॥

एते अष्टावधिकाराः अवश्यं ज्ञातव्या भवन्ति, अन्यथा जीवसमासान-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्त्तिका ये पांच अनुयोगके एकार्थवाची नाम जानना चाहिये ॥ १०० ॥

अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा, प्रतिघ, संभवदल और वर्त्तिका ये पांच दृष्टान्त होते हैं ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—— अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पांच दृष्टान्त दिये हैं वे लकड़ी आदिके कामको लक्ष्यमें रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं । जैसे, लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये पहले लकड़ीके निरुपयोगी भागको निकालनेके लिये उसके ऊपर एक रेखामें डोरा डाला जाता है, इसे सूचीकर्म कहते हैं । अनन्तर उस डोरासे लकड़ीके ऊपर चिन्ह कर दिया जाता है, इसे मुद्राकर्म कहते हैं । इसके बाद लकड़ीके निरुपयोगी भागको छांटकर निकाल दिया जाता है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं । फिर उस लकड़ीके कामके लिये उपयोगी जितने भागोंकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे संभवदलकर्म कहते हैं । और अन्तमें वस्तु तैयार करके उसके ऊपर ब्रश आदिसे पालिश कर दिया जाता है, यही वर्त्तिका-कर्म है । इस तरह इन पांच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसी प्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुकूल संपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है । नियोग, भाषा, विभाषा और वर्त्तिका ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विशद करते हैं, अतएव वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥ १०१ ॥

ये आठ अधिकार अवश्य ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके बिना जीव-

व्यक्तीकरणमित्यर्थः, तथथा, घटनाद् घटः, चेष्टावानित्यर्थः । विविधा भाषा विभाषा, यथा घटः कुटः कुम्भ इत्येवमादि । 'वर्तिकं' वृत्तौ भवं वार्तिकं, अशेषपर्यायकथनमित्यर्थः । अनुयोगस्य पुनरमूनि एकार्थिकानि पञ्चेति । वि. भा., को. वृ. १३९२.

१. आ. नि. १२५.

२. कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए पोंड-देसिए चेव । भासगविभासए वा वित्तीकरणे य आहरणा (नि. १२९) पढमो रूवागारं थूलावयवोवदंसणं बीओ । तइओ सव्वावयवे निद्दोसे सव्वहा कुणइ ॥ कट्ठसमाणं सुत्तं तदत्थरूवेसभासणं भासा । थूलत्थाण विभासा सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥ वि. भा. १४३३-१४३५. प्रथमः काष्ठे रूपकारो रूपमाविर्भावयति, 'उल्लेइ' त्ति भणियं होइ । तथा द्वितीयस्तु स्थूलावयवोपदर्शनं, 'वट्टेइ' त्ति भणियं होइ । तृतीयस्तु सर्वथा सर्वावयवानिर्दोषान् करोति, चीरयतीत्यंजमाधुवलं भवतीति दृष्टान्त-गाथार्थः । वि. भा., को. वृ. १४३४.

गमानुपपत्तेरितिश्रुतवतः शिष्यस्य तन्निर्देशविषयसंशयः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः पृच्छासूत्रमाह—

तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वात्सदिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः । यथेति पृच्छा । एवं पृष्टवतः शिष्यस्य संदेहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥ ७ ॥

अट्ठण्णमणियोगद्दाराणमाइम्मि किमिदि संतपरूवणा चेय उच्चदे ? ण, संताणियोगो सेसाणियोगद्दाराणं जेण जोणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेय भण्णदे[1] ।

समासोंका ज्ञान नहीं हो सकता है ऐसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामके विषयमें संशय उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकारका निश्चय होने पर आचार्य पृच्छासूत्रको कहते हैं—

वे आठ अधिकार कैसे ? ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला विषय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियमको ध्यानमें रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुंसकलिंग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है। 'यथा' यह पद पृच्छाको प्रगट करता है। अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं ? इस प्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेके लिये, आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार हैं ॥ ७ ॥

शंका— आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्प्ररूपणा ही क्यों कही गई है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्प्ररूपणारूप अनुयोगद्वार जिस कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसी कारण सबसे पहले सत्प्ररूपणाका ही निरूपण किया है।

---

१. सत्त्वं ह्यव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्, न हि कश्चित् पदार्थः सत्तां व्यभिचरति ××× सर्वेषां च विचारार्हाणामस्तित्वं मूलं तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिन्ता युज्यते अतस्तदादौ वचनं क्रियते । ततः परिणामोपलब्धेः संख्योपदेशः । निर्ज्ञातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम् । अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम् । स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् । अनुपहतवीर्यस्य क्वचिन्निरुद्धस्य पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् (अंतरवचनम्) । परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम् । संख्यातादन्यतमनिश्चयेऽप्यन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनम् । त. रा. वा. पृ. ३०.

संतपरूवणाणंतरं किमिदि दव्वपमाणाणुगमो उच्चदे? ण, णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं

खेत्तं उच्चदे । एदं चेव अदीद-फुसणेण सह फोसणं उच्चदे । तदो दो वि अहियारा संखा-जोणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिऊण उच्चमाण-कालंतर-परूवणा वि संखा-जोणी । इदं थोवमिदं च बहुवमिदि भण्णमाण-अप्पाबहुगं पि संखा-जोणी । तेण एदाणमाइम्हि दव्वपमाणाणुगमो भणण-जोग्गो । एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे ? ण, तस्स बहुवण्णणादो । कधं भावो बहु-वण्णणीयो ? ण, कम्म-कम्मोदय-परूवणाहि विणा तस्स परूवणाभावादो । छ-वड्ढि-हाणि-ट्ठिय-भाव-संखमंतरेण भाव-वण्णणाणुववत्तीदो वा । वट्टमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं । फोसणं पुण अदीदं वट्टमाणं च वण्णेदि । अवगय-वट्टमाणफासो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु त्ति

....

शंका—— सत्प्ररूपणाके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यों किया गया है ?

समाधान—— क्योंकि, अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्र कहते हैं। और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शनके साथ स्पर्शन कहा जाता है। इसलिये इन दोनों ही अधिकारोंका संख्याधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है। उसी प्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका भी संख्याधिकार योनिभूत हैं। तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इस प्रकार कहे जानेवाले अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी संख्याधिकार योनिभूत है। इसलिये इन सबके आदिमें द्रव्यप्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है ।

शंका—— यहां भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है ?

समाधान—— उसका वर्णन करने योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका—— यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है ?

समाधान—— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, कर्म और कर्मोदयके निरूपणके विना भाव का निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह समझना चाहिये। अथवा, षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धिमें स्थित भावकी संख्याके विना भाव का वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भाव का वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका—— क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लिया है वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये

फोसणपरूवणादो होदु णाम पुव्वं खेत्तस्स परूवणा, ण पुण कालंतरेहिंतो ? इदि ण, अणवगय-खेत्त-फोसणस्स तक्कालंतर-जाणणुवायाभावादो। ण च संतत्थमागमो[1] ण परूवेइ, तस्स अत्थावयत्तप्पसंगादो। णेदाणि तक्कालंतरं पढिज्जदीदि[2] खेण्ण, तप्पढणे विरोहाभावादो। तहा भावप्पाबहुगाणं पि परूवणा खेत्त-फोसणाणुगममंतरेण ण तव्विसया होदि[3] त्ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परूवणा कायव्वा। सेसाहियारेसु संतेसु ते मोत्तूण किमट्ठं कालो पुव्वमेव उच्चदे ? ण ताव अंतरपरूवणा एत्थ भणण-जोग्गा, काल-जोणित्तादो। ण भावो वि, तस्स तदो हेट्ठिमअहियार-जोणित्तादो। ण अप्पाबहुगं पि, तस्स वि, सेसाणियोग-जोणित्तादो। पारिसेसादो[4] कालो चेव तत्थ

स्पर्शन प्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु काल और अन्तरप्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन संभव नहीं है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तत्संबन्धी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है। और आगम, जिस प्रकारसे वस्तु-व्यवस्था है, उसी प्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह हो नहीं सकता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थापकत्व अर्थात् अनर्थकपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका—— तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् तत्सम्बन्धी काल और अन्तर-प्ररूपणाका कथन प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर-प्ररूपणाके कथन करनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

उसीप्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके बिना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये।

शंका—— अन्तरादि शेष अधिकारोंके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालाधिकारका कथन पहले क्यों किया गया है ?

समाधान—— यहांपर (स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाका मूल-आधार (योनी) कालप्ररूपणा ही है। स्पर्शन-प्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, उससे पूर्वका अधिकार भावप्ररूपणाका योनिरूप है। उसी प्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अल्पबहुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शेष अनुयोगद्वार उसका अल्पबहुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है। इस प्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इनमेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता था तब परिशेषन्यायसे वहां पर काल ही प्ररूपणाके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है।

---

१. मु. संतमत्थमागमो। २. मु. पढियज्जदीदि। ३. मु. होंति। ४. मु. परिसेसादो।

परूवणा-जोगो त्ति । भावप्पाबहुगाणं जोणित्तादो पुव्वमेवंतरपरूवणा उत्ता । अप्पाबहुग-जोणित्तादो पुव्वमेव भावपरूवणा उच्चदे । सुत्ते तहा परूवणा किमिदि ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थ-सूयणमेत्त-वावारादो । तहाइरिया किमिदि ण वक्खाणेंति ? ण, अवधारणसमत्थाणं सिस्साणं संपहि अभावादो तहोवएसाभावादो वा । अत्थित्तं भणदि संताणियोगो । संताणियोगम्हि जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परूवेदि दव्वाणियोगो । तेहिंतो अवगय-संत-पमाणाणं वट्टमाणोगाहणं परूवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहिंतोवलद्ध-संत-पमाण-खेत्ताणं अदीद-काल-विसिट्ठ-फासं परूवेदि फोसणाणु-गमो । तेहिंतोअवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं ट्ठिदिं परूवेदि कालाणियोगो । तेसिं चेव विरहं परूवेदि अंतराणियोगो । तेसिं चेव भावं परूवेदि भावाणियोगो । तेसिं चेव अप्पाबहुअं परूवेदि अप्पाबहुगाणियोगो । उत्तं च—

अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं ।
पच्चुप्पण्णं खेत्तं अदीद-पदुप्पण्णणं फुसणं ॥ १०२ ॥

भावप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही अन्तरप्ररूपणाका उल्लेख किया है । तथा अल्पबहुत्वकी योनि होनेसे इसके पहले ही भावप्ररू-पणाका कथन किया है ।

शंका—– सूत्रमें इस प्रकारकी प्ररूपणा क्यों नहीं दिखाई देती है ?

समाधान—– यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थको सूचना करना मात्र है ।

शंका—– यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान—– ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आजकल विस्तृत व्याख्यानरूप तत्त्वार्थके अवधारण करनेमें समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उस प्रकारके उपदेशका अभाव है । इसलिये आचार्योंने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान नहीं किया ।

सत्प्ररूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है । सत्प्ररूपणामें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए अस्तित्व और संख्या-प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण क्षेत्रानुयोग करता है । उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीतकालविशिष्ट वर्तमान स्पर्शका स्पर्शनानुयोग वर्णन करता है । पूर्वोक्त चारों अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग करता है । जिन पदार्थोंके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग करता है और उन्हींके अल्पबहुत्वका वर्णन अल्पबहुत्वानुयोग करता है । कहा भी है—–

कालो ट्ठिदि-अवधाणं अंतरविरहो[1] य सुण्ण-कालो य ।
भावो खलु परिणामो स-णाम-सिद्धं खु अप्पबहुं ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

संतपरूवणदाए[2] दुविहो णिद्देसो— ओघेण आदेसेण[3] य ॥ ८ ॥

चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते चतुर्दशजीवसमासानां सत्प्ररूपणायामिति । सत्सत्त्वमित्यर्थः । कथम् ? अन्तर्भावितभावत्वात् । प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । चतुर्दशजीवसमाससत्त्वप्ररूपणायामित्यर्थः । सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचकः,

अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाको सत्प्ररूपणा कहते हैं । जिन पदार्थोंके अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली संख्याप्ररूपणा है । वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है । अतीतस्पर्श और वर्तमानस्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है । जिससे पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका निश्चय हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं । जिसमें विरहरूप शून्यकालका कथन हो उसे अन्तरप्ररूपणा कहते हैं । जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है । तथा अल्पबहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सदनुयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सत्प्ररूपणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इस तरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्प्ररूपणामें'। यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व है ।

शंका— यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व करनेका क्या कारण है ?

समाधान— क्योंकि, सत्में भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व लिया गया है ।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये 'संतपरूवणदाए' इस पदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्त्वके निरूपण करनेमें । 'सत्' शब्द शोभन अर्थात् सुंदर अर्थका भी वाचक है । जैसे, सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको

---

१. मु. ट्ठिदि-अवधरणं अंतरं विरहो ।

२. संतंति विज्जमाणं एयस्स पयस्स जा परूवणया । गइयाइएसु वत्थुसु संतपयपरूवणा सा उ । जीवस्स व जं संतं जम्हा तं तेहिं तेसु वा पयति । सो संतस्स पयाई ताइं तेसु परूवणया ॥
वि. भा. ४०७-४०८.

३. संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा । वित्थारादेसो त्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ॥ गो. जी. ३.

सति सत्ये व्रतीत्यादि । अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः । निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत् । स द्विविधो द्विप्रकारः – ओघेन आदेशेन च । ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः । अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति । न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति, सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । विशेष-व्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणाया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्यपर्यायार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः । क्वासते ? गुणेषु । के

सत्य कहते हैं । कहीं पर ' सत् ' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है । जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें व्रती है । इनमेंसे यहां पर ' सत् ' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये ।

निर्देश, प्ररूपण विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं । वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है । ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश-प्ररूपणा है । इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओंको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है ।

शंका— विशेषको छोड़कर सामान्य स्वतन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेश-प्ररूपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा । अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है ?

समाधान— यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेप-रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं । और जो विस्तार-रुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहां पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओंका कथन किया है ।

शंका— जीवसमास किसे कहते हैं ?

समाधान— जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ।

शंका— जीव कहां रहते हैं ?

समाधान— गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका— वे गुण कौनसे हैं ?

समाधान— औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये

गुणाः ? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः । अस्य गमनिका– कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः । कर्मोदयोपशम-क्षयक्षयोपशम मन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः । गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते । उक्तं च—

> जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहिं ।
> जीवा ते गुण-सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं[1] ॥ १०४ ॥

ओघनिर्देशार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी[2] ॥ ९ ॥

'यथोद्देशस्तथा निर्देश ' इति न्यायात् ओघाभिधानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यते

पांच प्रकारके गुण अर्थात् भाव हैं । इनका खुलासा इस प्रकार है– जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और अनागत कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सदवस्थारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके विना जीवके स्वभावमात्रसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है । कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥ १०४ ॥

अब ओघ अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ९ ॥

शंका— ' उद्देशके अनुसार ही निर्देश होता है ' इस न्यायके अनुसार ' ओघ ' इस शब्दके कहे विना भी ' ओघ ' का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

१. प्रा. पं. १, ३ । गो. जी. ८. अनेन गुणशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण मिथ्यात्वादयोऽयोगि-केवलित्वपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषाः त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादितम् । जी. प्र. टी.

२. ननु यदि मिथ्या दृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसंभवः । गुणा हि ज्ञानादिरूपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति ? उच्यते, इह यद्यपि सर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादि-वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथाऽजीवत्वप्रसंगात् ।

अभि. रा. को. (मिच्छाइट्ठिगुणट्ठाण)

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात् । सर्वसत्त्वानुग्रहकारिणो हि जिनाः, नीरागत्वात् । सन्ति मिथ्यादृष्टयः । मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः ।

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा ।
जावदिया णय-वादा तावदिया चेव पर-समया[1] ॥ १०५ ॥

इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति[2], किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः । उक्तं च—

मिच्छत्तं वेयंतो जीवो विवरीय-दंसणो होई ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो[3] ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अल्पबुद्धि या मूढजनोंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें 'ओघ' शब्दका उल्लेख किया है। जिनदेव संपूर्ण जीवोंका अनुग्रह करनेवाले होते हैं, क्योंकि, वे वीतराग हैं।

'मिथ्यादृष्टि जीव हैं' यहां पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नयके भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय (अनेकान्त-बाह्य-मत) होते हैं ॥ १०५ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिये, किंतु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है। अथवा, मिथ्या शब्दका अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिये जिन जीवोंकी रुचि असत्यमें होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा भी है—

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत-श्रद्धावाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस अच्छा मालूम

---

१. गाथेयं पूर्वमपि ६७ गाथाङ्केन आगता ।

२. एवं स्थूलांशाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पंचविधत्वं कथितं सूक्ष्मांशाश्रयेणासंख्यातलोकमात्रविकल्पसंभवात् तत्र व्यवहारानुपपत्तेः । गो. जी., जी. प्र. टी. १५.

३. प्रा. पं. १, ६ । गो. जी. १७.

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं[1] तच्चाण होइ अत्थाणं ।
संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं ति तं तिविहं ॥ १०७ ॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रमाह---

सासणसम्माइट्ठी ॥ १० ॥

आसादनं सम्यक्त्वविराधनम् सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो[2] । विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन[3] इति भण्यते । अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं, मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्रुचेरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, उभयविषयरुचेरभावात् । न

नहीं होता है उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है ॥ १०६ ॥

जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तत्त्वार्थके विषयमें अश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं । उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इस प्रकार तीन भेद हैं ॥ १०७ ॥

अब दूसरे गुणस्थानके कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

सामान्यसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥ १० ॥

सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं । जो इस आसादनसे युक्त है उसे सासादन कहते हैं । किसी एक अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किंतु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामोंको नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं ।

शंका--- सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनोंको विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है । इनके

१ मु. जहमसद्दहणं । प्रा. पं. १, ७ ।

२ असनं क्षेपणं सम्यक्त्वविराधनं, तेन सह वर्तते यः स सासन इति निरुक्त्या सासन इत्याख्या यस्यासौ सासनाख्यः । गो. जी., मं. प्र., टी. १९.

३ अयं औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति अपनयतीत्यासादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः, कृद्बहुलमिति कर्तर्यनट् । सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूतः औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति, ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः । × × × सास्वादनमिति वा पाठः । तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः । यथा हि, भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति । ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । अभि. रा. को. (सासणसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण)

च चतुर्थी दृष्टिरस्ति, सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्[1]। ततोऽसन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं, नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असद्दृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—— यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाले अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ—— विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

१ यदि तत्त्वरुचिस्तदा सम्यग्दृष्टिरेवासौ, यद्यतत्त्वरुचिस्तदा मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्युभयरुचिस्तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्यनुभयरुचिस्तदा आत्माभावः स्यात्। गो. जी., मं. प्र., टी. १९.

२ ननु सम्यग्दर्शनघातकस्यानंतानुबंधिनः कथं दर्शनमोहत्वाभावः ? इति चेत् न, तस्य चारित्रघातकतीव्रतमानुभागमहिम्ना चारित्रमोहस्यैव युक्तत्वात्। तर्हि तस्मात् न सम्यग्दर्शनविनाशः ? इति चेत्, अनन्तानुबंध्युदये सति षडावलिरूपस्तोककालव्यवधानेऽपि मिथ्यात्वकर्मोदयाभिमुखे सत्येव सम्यग्दर्शनविनाशसंभवात्। अतएव मिथ्यात्वोदयनिरपेक्षनया सासादनत्वं भवतीति पारिणामिकभावत्वमुक्तम्। परिणामः स्वभावः तस्माद्भवः पारिणामिक इति व्युत्पत्तेः। नन्वेवं कथमनन्तानुबंध्यन्यतमोदयाद्विनाशितसम्यक्त्व इत्युच्यते? इति चेत् न, मिथ्यात्वोदयाभिमुखसन्निहितस्य अनन्तानुबंध्युदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशसंभवेन तदुदयात्तद्विनाश इति वचनाविरोधात्। किं बहुना अनन्तानुबंधिनः सम्यक्त्वविनाशसामर्थ्यशक्तिसंभवेऽपि मिथ्यात्वोदयाभिमुखे सत्येव तत्सामर्थ्यव्यक्तिरिति सिद्धो नः सिद्धान्तः। गो. जी., मं. प्र., टी. १९.

सासादन इति व्यपदिश्यते । किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत । यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं, तस्य चारित्रावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽर्पितनयापेक्षः । विवक्षितदर्शन-

---

शंका— पूर्वके कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ— सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है । एक तो अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है । इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है । दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिस प्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है । इस प्रकारकी द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शंका— अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है ?

समाधान— यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है । फिर भी परमागममें मुख्य नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है ।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है । सासादन जो

मोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः। सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः। विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति। उक्तं च—

सम्मत्त-रयण-पव्वय सिहरादो मिच्छ-भूमि-समभिमुहो।
णासिय-सम्मत्तो सो सासण-णामो मुणेयव्वो[1] ॥ १०८ ॥

त्र्यामिश्ररुचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठी ॥ ११ ॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। अथ स्यादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीनदृष्टयोरस्ति संभवः, विरोधात्। न क्रमेणापि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरेवान्तर्भावादिति। अक्रमेण

सम्यग्दृष्टि वह सासादनसम्यग्दृष्टि है।

शंका—— सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टिपना कैसे बन सकता है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है। कहा भी है——

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिमुख है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परंतु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे सासन अर्थात् सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं——

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

शंका—— एक जीवमें एकसाथ सम्यक् और मिथ्यारूपदृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि, इन दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध आता है। यदि कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियां क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

१ प्रा. पं. १, ९। गो. जी. २०.

२ लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति, शुद्धमर्धशुद्धमविशुद्धं चेति। तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदार्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयाज्जीवस्यार्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्तकालं स्पृशति। अभि. रा. को. (सम्मामिच्छादिट्ठिगुणट्ठाण)

सम्यग्मिथ्यारुच्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽपि, अनेकान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः । नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धम्,अनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः । अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसङ्गात् । किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्क्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे । अस्ति चानयोः श्रद्धयोः क्रमेणैकस्मिन्नात्मनि संभवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्तयोः संभवेन भवितव्यमिति । न चैतत्काल्पनिकं, पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात्[1] । पंचसु

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है ?

समाधान— युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक-धर्मात्मक है, इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है यह बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है ।

शंका— जिन धर्मोंका एक आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परंतु संपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं ?

समाधान— कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है ? यदि संपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये परस्पर विरोधी संपूर्ण धर्म एक आत्मामें रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किंतु अनेकान्तका यह अर्थ समझना चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इस प्रकार जब कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना संभव है, तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिहंत भी देव है ऐसा अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

---

१ यथा कस्यचित् मित्रं प्रति मित्रत्वं, चैत्रं प्रत्यमित्रत्वमित्युभयात्मकत्वमविरुद्धं लोके दृश्यते तथा

गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः। कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते। तद्यथा– मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः। सतापि सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिव ततः[1] सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात्। सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयविनाशाकारिणः सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य तस्य तथोपदेशात्। मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न तस्य चारित्रप्रतिबन्धक-

समाधान— तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है।

शंका— मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है?

समाधान— वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है।

शंका— तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहां औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिस प्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव कहा है।

शंका— सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है।

शंका— जिस तरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलाई है उसी प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा?

कस्यचित्पुरुषस्य अर्हदादिश्रद्धानापेक्षया सम्यक्त्वं, अनाप्तादिश्रद्धानापेक्षया मिथ्यात्वं च युगपदेव विषयभेदेन सम्भवतीति सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वमविरुद्धमेव दृश्यते। गो. जी. म. प्र. टी. २२.

1. मु. दिवात:।

स्यात् । ये त्वनन्तानुबन्धिक्षयोपशमात्तदुत्पत्तिं[1] प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः । सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषया श्रद्धोत्पद्यत[2] इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः । अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नम्, तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यौपशमिकत्व-

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्धक है, इसलिये यहां उसके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है ।

जो अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा । पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है ।

अथवा, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है । यहां इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिये ही कहा है । वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त, आगम और पदार्थ-विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किंतु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है । यदि इस गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है ।

शंका— उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस तरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा ।

१. मु. मात्तदुत्पत्ति । २. मु. विषयश्रद्धो –

प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यार्षस्याभावात् । अपि च यद्येवं क्षयोपशम इष्येत, मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकम्, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात्सतामुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्व-गुणस्य प्रादुर्भावोपलम्भादिति । उक्तं च—

> दहि-गुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
> एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो[1] ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

असंजदसम्माइट्ठी[2] ॥ १२ ॥

शंका— तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव ही रहा आवे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाक्य नहीं है । अर्थात् आगममें तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव नहीं बताया है ।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे क्षयोपशम भावकी उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय अवस्थाको प्राप्त हुए स्पर्धकोंका क्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हींका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है । इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धीके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रभाव होता है । कहा भी है—

जिस प्रकार दही और गुड़को मिला देने पर उनको अलग अलग नहीं अनुभव किया जा सकता है, किंतु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको मिश्र गुणस्थान कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥ १२ ॥

१. प्रा. प. १, १० । गो. जी. २२. यथा नालिकेरद्वीपवासिनः क्षुधादितस्यापीहागतस्यौदनादिके-नेकविधे ढौकिते तस्योपरि न रुचिः नापि निन्दा, यतस्तेन स ओदनादिक आहारो न कदाचित् दृष्टो नापि श्रुतः, एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न च रुचिर्नापि निन्देति । नं. सू. पृ. १०६.

२. यं अविरुद्धहेउं आणाए भगवओसद्दहणं ण । विरइसुहं इच्छंतो विरइं काउं च असमत्थो ॥ एम

समीचीना दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयतसम्यग्दृष्टिः। सो वि सम्माइट्ठी तिविहो– खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि। दंसण-चरण-गुण-घाइ-चत्तारि-अणंताणुबंधि-पयडीओ, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि दंसणमोह-पयडीओ च एदासिं सत्तण्हं णिरवसेस-क्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चइ। एदासिं सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होइ। सम्मत्त-सण्णिद-दंसणमोहणीय-भेय-कम्मस्स उदएण वेदय-सम्माइट्ठी णाम। तत्थ खइयसम्माइट्ठी ण कयाइ वि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणइ संदेहं पि, मिच्छत्तुब्भवं दट्ठूण णो विम्हयं जादि[1]। एरिसो चेय उवसमसम्माइट्ठी[2], किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं पि पडिवज्जइ, सम्मामिच्छत्त-गुणं पि ढुक्कइ, वेदगसम्मत्तं पि समल्लियइ[3]। जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिढिल[4]-

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और संयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुणका घात करनेवाली चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियां, और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीयकी प्रकृतियां, इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा विनाशसे जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। तथा इन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रकृतिके उदयसे यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है। उनमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकारके संदेहको भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकारका होता है, किंतु परिणामोंके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुंच जाता है और वेदकसम्यक्त्वको भी प्राप्त कर लेता है। तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिये वृद्ध पुरुष जिस प्रकार अपने हाथमें लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थके विषयमें शिथिलग्राही होता है, अतः कुहेतु और

असंजयसम्मो निंदंतो पावकम्मकरणं च। अहिगयजीवाजीवो अवलियदिट्ठी चलियमोहो॥ अभि. रा. को. (अविरयसम्मदिट्ठि)

१. मु. जायदि। वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं। बीभच्छजुगुच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो॥ गो. जी. ६४७.

२. दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं॥ गो. जी. ६५०.

३. मु. समिल्लियइ।

४. मु. सिथिल–।

सद्दहणो थेरस्स लट्ठि-ग्गहणं व सिढिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ[१]। पंचसु गुणेसु के गुणे अस्सिऊण असंजदसम्माइट्ठि-गुणस्सुप्पत्ती जादेत्ति पुच्छिदे उच्चदे, सत्त-पयडि-क्खएणुप्पण्ण-सम्मत्तं खइयं। तेसिं चेव सत्तण्हं पयडीणुवसमेणुप्पण्ण-सम्मत्तमुवसमियं। सम्मत्त-देसघाइ-वेदयसम्मत्तुदएणुप्पण्ण-वेदयसम्मत्तं खओवसमियं। मिच्छत्ताणंताणुबंधीणं सव्वधाइ-फद्दयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अहवा सम्मामिच्छत्त-सव्वघाइ-फद्दयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण उहयत्थ सम्मत्त-देसघाइ-फद्दयाणमुदएणुप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं खओवसमियमिदि केसिंचि आइरियाणं वक्खाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्, तण्ण, पुव्वं

कुदृष्टान्तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेमें देर नहीं लगती है।

पांच प्रकारके भावोंमेंसे किन किन भावोंके आश्रयसे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है? इस प्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है और सम्यक्त्वका एकदेश घातरूपसे वेदन करानेवाली सम्यक्प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

शंका— मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सर्वघाती स्पर्धकोंके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा इन दोनों ही अवस्थाओंमें सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे जब क्षयोपशमरूप सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा कितने ही आचार्योंका मत है उसे यहां पर क्यों नहीं स्वीकार किया है?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे चुके हैं।

विशेषार्थ— जिस प्रकार मिश्र गुणस्थान की उत्पत्ति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयकी मुख्यतासे बतला आये हैं, उसी प्रकार यहां पर भी सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता समझना चाहिये। यदि इस सम्यक्त्वमें सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता न मान कर केवल मिथ्यात्वादिके क्षयोपशमसे ही इसकी उत्पत्ति मानी जावे तो सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयाभाव क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे तथा मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा। क्योंकि, वहां पर भी क्षयोपशमका लक्षण घटित होता है। इसलिये इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोपशमकी प्रधानतासे न मानकर सम्यक्प्रकृतिके उदयकी प्रधानतासे समझना चाहिये।

सूत्रमें सम्यग्दृष्टिके लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अन्तदीपक है, इस-

१. दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। चलमलिणमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे॥ गो. जी. ६४९.

उत्तरादो । 'असंजद' इदि जं सम्माइट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परूवेदि । उवरि असंजम-भावो[1] किण्ण परूवेदि त्ति उत्ते ण परूवेदि, उवरि सव्वत्थ संजमासंजम-संजम-विसेसणोवलंभादो त्ति । उत्तं च–

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरु-णियोगा[2] ॥ ११० ॥
णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो[3] ॥ १११ ॥

एदं सम्माइट्ठि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्ठाणेसु अणुवट्टइ गंगा-णई-पवाहो व्व ।

देसविरइ-गुणट्ठाण-परूवणट्ठमुत्तर-सुत्तमाह—

संजदासंजदा ॥ १३ ॥

संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः । यदि संयतः, नासावसंयतः । अथासंयतः,

---

लिये वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरूपण करता है ।

शंका— चौथे गुणस्थानसे आगे असंयमका अभाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान— आगे के गुणस्थानोंमें असंयमका अभाव इसलिए नहीं कहा, क्योंकि, आगेके गुणस्थानोंमें सर्व संयमासंयम और संयम ये विशेषण पाये जाते हैं । कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किंतु किसी तत्वको नहीं जानता हुआ गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किंतु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥

इस सूत्रमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान आगेके समस्त गुणस्थानोंमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है । अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है ।

अब देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे संयतासंयत जीव हैं ॥ १३ ॥

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं ।

शंका— जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है ? और जो असंयत

---

१ ... असब्भावं ।   २ प्रा. पं. १, १२ । गो. जी. २७.

३ प्रा. पं. १, ११ । गो. जी. २९. 'अपि' शब्देनानुकम्पादिगुणसद्भावान्निरपराधहिंसां न करोतीति सूचयति ।

नासौ संयत इति विरोधान्नायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः, इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । न गुणानां सहानवस्थानलक्षणो विरोधः सम्भवति, सम्भवे वा न वस्त्वस्ति, तस्यानेकान्तनिबन्धनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु । सा च नैकान्ते, एकानेकाभ्यां प्राप्तनिरूपितानवस्थाभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्याचैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्गुणत्वाभावात् । सहभुवो हि गुणाः, न चानयोः सहभूतिरस्ति, असति विबन्धर्यनुपलम्भात् । भवतु च विरोधः समाननिबन्धनत्वे सति । न चात्र विरोधः, संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात् । औदयिकादिपञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुणः समुत्पन्नः

होता है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयमभाव और असंयमभावका परस्पर विरोध है। इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान— विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्थालक्षण विरोध। इनमेंसे एक द्रव्यके अनन्त गुणोंमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है। परंतु इतने मात्रसे गुणोंमें सहानवस्थालक्षण विरोध संभव नहीं है। यदि नाना गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त-निमित्तक ही होता है। जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है। परंतु वह अर्थक्रिया एकान्तपक्षमें नहीं बन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियाको यदि एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे एकान्तपक्षमें अर्थक्रियाके होनेमें विरोध आता है।

पूर्वके कथनसे चैतन्य और अचैतन्यके साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं है। जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं। परंतु ये दोनों सहभावी नहीं है, क्योंकि बंधरूप अवस्थाके नहीं रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते हैं। दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परंतु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं। संयमभावकी उत्पत्तिका कारण त्रसहिंसासे विरतिभाव है और असंयमभावकी उत्पत्तिका कारण स्थावरहिंसासे अविरतिभाव है। इसलिये संयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान बन जाता है।

शंका— औदयिक आदि पांच भावोंमेंसे किस भावके आश्रयसे संयमासंयम भाव पैदा होता है ?

समाधान— संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानावरणीय

इति चेत्क्षायोपशमिकोऽयं गुणः, अप्रत्याख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदय-क्षयात् सतां चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमासंयमाधा-[1]राधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण, [2]तान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात् । सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः । उक्तं च——

> जो तस-वहाउ विरओ अविरओ तह य थावर-वहाओ ।
> एक्क-समयम्हि जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई[3] ॥ ११२ ॥

संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह——

पमत्तसंजदा ॥ १४ ॥

प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः । प्रमत्ताश्च ते संयताश्च

कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य उन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयसे संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है ।

शंका—— संयमासंयमरूप देशचारित्रके आधारसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्-दर्शन होते हैं ?

समाधान—— क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनोंमेंसे कोई एक सम्यग्दर्शन विकल्पसे होता है, क्योंकि, उनमेंसे किसी एकके बिना अप्रत्याख्यान चारित्रका प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है ।

शंका—— सम्यग्दर्शनके बिना भी देशसंयमी देखनेमें आते हैं ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसंयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । कहा भी है——

जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ एक ही समयमें त्रसजीवोंकी हिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है, उसको विरताविरत कहते हैं ॥ ११२ ॥

अब संयतोंके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं——

सामान्यसे प्रमत्तसंयत जीव हैं ॥ १४ ॥

प्रकर्षसे मत्त जीवोंको प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्राप्त जीवोंको संयत कहते हैं । जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं ।

---

१. मु. संयमयराधिकृत- ।

२. मु. तान्यन्तरेणा- ।

३. प्रा. पं. १, १३ । गो. जी. ३१. 'च' शब्देन प्रयोजनं विना स्थावरवधमपि न करोतीति व्याख्येयो भवति । जी. प्र. टी.

प्रमत्तसंयताः । यदि प्रमत्ताः न संयताः, स्वरूपासंवेदनात् । अथ संयताः न प्रमत्ताः, संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति ? नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्तिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते, तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः । संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽवसीयत इति चेत् ? संयमाविनाशान्यथानुपपत्तेः । न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति विबन्धर्यनुपलब्धेः । प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीत-सर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति । पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसंयतगुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः । कथम् ? प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धको-

शंका—— यदि छटवें गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रमत्त जीवोंको अपने स्वरूपका संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, संयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है।

समाधान—— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पांच समितियोंसे अनुरक्षित है। वह संयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, संयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति होती है।

शंका—— छटवें गुणस्थानमें संयममें मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयमका नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान—— छटवें गुणस्थानमें प्रमादके रहते हुए संयमका सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे छटवें गुणस्थानमें होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि, सकलसंयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमें संयमका नाश नहीं पाया जाता।

यहां पर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिये वह छटवें गुणस्थानसे पहलेके संपूर्ण गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है।

शंका—— पांच भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

समाधान—— संयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

शंका—— प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान—— क्योंकि, वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आनेरूप उपशमसे तथा संज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये

दयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः। संज्वलनोदयात्संयमो[1] भवतीत्यौदयिकव्यपदेशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न, ततः संयमस्योत्पत्तेरभावात्। क्व तद् व्याप्रियत इति चेत्प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयसमुत्पन्नसंयममलोत्पादने तस्य व्यापारः। संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकगुणनिबन्धनः। सम्यक्त्वमन्तरेणापि संयमोपलम्भनार्थः सम्यक्त्वानुवर्तनेनेति चेन्न, आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य त्रिमूढालीढचेतसः संयमानुपपत्तेः। द्रव्यसंयमस्य नात्रोपादानमिति कुतोऽवगम्यत इति चेन्न,[2] सम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तितस्तदवगतेः उक्तं च—

क्षायोपशमिक है।

शंका— संज्वलन कषायके उदयसे संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संज्वलन कषायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका— तो संज्वलनका व्यापार कहां पर होता है ?

समाधान— प्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे (और सदवस्थारूप उपशमसे) उत्पन्न हुए संयममें मलके उत्पन्न करनेमें संज्वलनका व्यापार होता है।

संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावनिमित्तक है।

शंका— यहां पर सम्यग्दर्शनपद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शनके बिना भी संयमकी उपलब्धि होती है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढताओंसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका— यहां पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है उसे संयत कहते हैं। संयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहां पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है—

१. विदविरदस्स संजमस्स खओवसमित्तपदुप्पायणमेसफलसादो कथं संजलणणोकसायाणं चारित्तविरोहीणं चारित्तकारयत्तं ? देसघादित्तेण सपडिवक्खगुणविणिम्मूलणसत्तिविरहियाणमुदयो विज्जमाणो वि ण स कज्जकारओ त्ति संजमहेदुत्तेण विवक्खियसादो, वत्थुदो दु कज्जं पडुप्पाएदि मलजणणपमादो त्ति य। गो. जी., जी. प्र., टी. ३२.

२. मु. चेत्सम्यक्।

वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओ होइ।
सयल-गुण-सील-कलिओ महव्वई चित्तलायरणो[1] ॥ ११३ ॥
विकहा तहा कसाया इंदिय-णिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु-चदु-पणमेगेगं होंति पमादा य पण्णरसा[2] ॥ ११४ ॥

क्षायोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलक्षितगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अप्पमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमादरहितसंयता इति यावत् । शेषाशेषसंयतानामत्रैवान्तर्भावाच्छेषसंयतगुणस्थानानामभावः स्यादिति चेन्न संयतानामुपरिष्टात्प्रतिपाद्यमान[3] विशेषणविशिष्टानामस्तप्रमादानामिह

जो व्यक्त अर्थात् स्वसंवेद्य और अव्यक्त अर्थात प्रत्यक्षज्ञानियोंके ज्ञानद्वारा जानने योग्य प्रमादमें वास करता है, जो सम्यक्त्व, ज्ञानादि संपूर्ण गुणोंसे और व्रतोंके रक्षण करनेमें समर्थ ऐसे शीलोंसे युक्त है, जो (देशसंयतकी अपेक्षा) महाव्रती है और जिसका आचरण प्रमादमिश्रित है, अथवा चित्रल सारंगको कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सारंगके समान शबलित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, चित्तमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका आचरण है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ये चार विकथाएं; क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां; निद्रा और प्रणय इस प्रकार प्रमाद पन्द्रह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अब क्षायोपशमिक संयमोंमें शुद्ध संयमसे उपलक्षित गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसंयत जीव हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं, अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये ।

शंका—— बाकीके संपूर्ण संयतोंका इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये शेष संयतगुणस्थानोंका अभाव हो जायगा ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे कहे जानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणोंसे

---

१. प्रा. पं. १, १४ । गो. जी. ३३. चित्रं प्रमादमिश्रं लातीति चित्रलं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः । अथवा चित्रलः सारंगः, तद्वत् शबलितं आचरणं यस्यासौ चित्रलाचरणः । अथवा चित्तं लातीति चित्तलं, चित्तलं आचरणं यस्यासौ चित्तलाचरणः । जी. प्र. टी.

२. प्रा. पं. १, १५ । गो. जी. ३४. । अप्रतौ गाथेयं नास्ति।

३. मु. प्रतिपद्यमान — ।

ग्रहणात् । तत्कथमवगम्यत इति चेन्न उपरिष्टात्तनसंयतगुणस्थाननिरूपणान्यथानुपपत्तितस्तदवगतेः । एषोऽपि गुणः क्षायोपशमिकः, प्रत्याख्यानावरणीयकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां क्षयक्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धनः । उक्तं च—

णट्ठासेस-पमाओ वय-गुण-सीलोलि-मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अक्खवओ झाण-णिलीणो हु अपमत्तो[1] ॥ ११५ ॥

चारित्रमोहोपशामकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥

युक्त नहीं हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतोंका ही यहां पर ग्रहण किया है । इसलिये आगेके समस्त संयतगुणस्थानोंका इनमें अन्तर्भाव नहीं होता है ।

शंका— यह कैसे जाना जाय कि यहां पर आगे कहे जानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणोंसे युक्त संयतोंका ग्रहण नहीं किया गया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि यह न माना जाय, तो आगेके संयतोंका निरूपण बन नहीं सकता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यहां पर अपूर्वकरणादि विशेषणोंसे रहित केवल अप्रमत्त संयतोंका ही ग्रहण किया गया है ।

वर्तमान समयमें प्रत्याख्यानावरणीय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे तथा संज्वलन कषायके मन्द उदय होनेसे प्रत्याख्यानकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है । संयमके कारणभूत सम्यक्त्वकी अपेक्षा, सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक कर्मोंके क्षय, क्षयोपशम और उपशमसे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भी है । कहा भी है—

जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलोंसे मण्डित है, जो निरन्तर आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणीपर आरूढ नहीं हुआ है और जो ध्यानमें लवलीन है, उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११५ ॥

अब आगे चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवाले या क्षपण करनेवाले गुणस्थानोंमेंसे प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतोंमें सामान्यसे उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकारके

---

१. प्रा. पं. १, १६ । गो. जी. ४६.

करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः । नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत् । अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः[1] । एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति द्रष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात् । अपूर्वशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थवाचको नासमानार्थवाचक इति चेन्न, पूर्वसमानशब्दयोरेकार्थत्वात् । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धयः । के ते ? संयताः । तेषु संयतेषु 'अत्थि' सन्ति । नदीस्रोतो-

....

जीव हैं ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यात-लोक-प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अधःप्रवृत्त-परिणामोंका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पाई जाती है ।

शंका—— अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थका वाचक है, असमान अर्थका वाचक नहीं है, इसलिये यहां पर अपूर्व शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची है, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये । ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि जीव कहते हैं ।

शंका—— वे कौन हैं ? संयत हैं । उनमें 'अत्थि सन्ति' अर्थात् उपशमक और क्षपक होते हैं । नदीस्रोत-न्यायसे 'सन्ति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है, इसलिये

....

१. अपूर्वामपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणि-गुणसंक्रमाः अन्यश्च स्थितिबन्धः इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । अभि. रा. को. (अपुव्वकरण)

न्यायेन सन्तीत्यनुवर्तमाने पुनरिह तदुच्चारणमनर्थकमिति चेन्न अस्यान्यार्थत्वात्। कथम्? स गुणस्थानसत्त्वप्रतिपादकः, अयं तु संयतेषु क्षपकोपशमकभावयोर्व्यधिकरण्यप्रतिपादनार्थ इति। अपूर्वकरणानामन्तः प्रविष्टशुद्धयः क्षपकोपशमकसंयताः, सर्वे संभूय एको गुणः 'अपूर्वकरण'[1] इति। किमिति नामनिर्देशो न कृतश्चेन्न सामर्थ्यलभ्यत्वात्। अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविनि भूतवदुप-

उसका फिरसे इस सूत्रमें ग्रहण करना निरर्थक है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, यहां पर 'सन्ति' पदका दूसरा ही अर्थ लिया गया है।

शंका—वह दूसरा अर्थ किस प्रकारका है?

समाधान—पहले जो 'सन्ति' पद आया है वह गुणस्थानोंके अस्तित्वका प्रतिपादक है, और यह संयतोंमें क्षपक और उपशमक भावके भिन्न भिन्न अधिकरणपनेके बतानेके लिये है।

जिन्होंने अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विशुद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसे क्षपक और उपशमक संयमी जीव होते हैं, और ये सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान बनता है।

शंका—तो फिर यहां पर इस प्रकार नामनिर्देश क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाती है। अर्थात् अपूर्वकरणको प्राप्त हुए उन सब क्षपक और उपशमक जीवोंके परिणामोंमें अपूर्वपनेकी अपेक्षा समानता पाई जाती है, इसलिये ये सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान होता है यह अपने आप सिद्ध है।

शंका—आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही, फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भावी अर्थमें भूतकालीन अर्थके समान उपचार कर लेनेसे आठवें गुणस्थानमें क्षपक और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती है।

शंका—इस प्रकार मानने पर तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जायगा?

---

१ इदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति। तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः प्रपद्यन्ते प्रपत्स्यन्ते च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तॄणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम्। ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदैतद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्मान्न भवन्ति अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति। सत्यम्, स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तॄणां सर्वेषां पृथक् पृथग् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहूनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति। × × युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते॥ अभि. रा. को. (अपुव्वकरणगुणट्ठाण)

[illegible] चेन्न, असति प्रतिबन्धरि मरणे[1] नियमेन चारित्रमोहक्षपणोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजामुपलम्भात् । क्षपणोपशमननिबन्धनत्वाद् भिन्नपरिणामानां कथमेकत्वमिति चेन्न क्षपकोपशमकपरिणामानाम-पूर्वत्वं प्रति साम्यात्तदेकत्वोपपत्तेः । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्रतनगुणश्चेत्क्षपकस्य क्षायिकः, उपशमकस्यौपशमिकः । कर्मणां क्षयोपशमाभ्यामभावे कथं तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्नैष दोषः, तयोस्तत्र सत्त्वस्योपचारनिबन्धनत्वात् । सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः, दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । उपशमकस्यौपशमिकः

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रतिबन्धक मरणके अभावमें नियमसे चारित्रमोहका उपशम करनेवाले तथा चारित्रमोहका क्षय करनेवाले अतएव उपशमन और क्षपणके सन्मुख हुए और उपचारसे क्षपक या उपशमके संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवें गुणस्थानमें भी क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

विशेषार्थ— क्षपकश्रेणीमें तो मरण होता ही नहीं है, इसलिये वहां प्रतिबन्धक मरणका सर्वथा अभाव होनेसे क्षपकश्रेणीके आठवें गुणस्थानवाला आगे चलकर नियमसे चारित्रमोहनीयका क्षय करनेवाला है । अतः क्षपकश्रेणीके आठवें गुणस्थानवर्ती जीवके क्षपक संज्ञा बन जाती है । तथा उपशमश्रेणीस्थ आठवें गुणस्थानके पहले भागमें तो मरण नहीं होता है । परंतु द्वितीयादिक भागोंमें मरण संभव है, इसलिये यदि ऐसे जीवके द्वितीयादिक भागोंमें मरण न हो तो वह भी नियमसे चारित्रमोहनीयका उपशम करता है । अतः इसके भी उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

शंका— क्षपणनिमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमननिमित्तक परिणाम भिन्न हैं, उनमें एकत्व कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षपक और उपशमक परिणामोंमें अपूर्वपनेकी अपेक्षा साम्य होनेसे एकत्व बन जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान— क्षपकके क्षायिक और उपशमकके औपशमिक भाव पाया जाता है ।

शंका— इस गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही होता है, ऐसी अवस्थामें यहां पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस गुणस्थानमें क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव उपचारसे माना गया है ।

१. उपशमश्रेण्यारोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे मरणं नास्तीति आगमः । जी. प्र. । मरणूणम्मि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य, गो. क. ९९. । अतो नियमेन अम्रियमाणाः प्रथमभागवर्तिनोऽपूर्वकरणाः, द्वितीयादिभागेषु च आयुषि सति जीवंतोऽपूर्वकरणाः उपशमश्रेण्यां चारित्रमोहं उपशमयंति अतएवोपशमका इत्युच्यन्ते । गो. जी., मं. प्र., टी. ५५.

क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात् । उक्तं च—

भिण्ण-समय-ट्ठिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सरिसो ।
करणेहि एक्क-समय-ट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य[1] ॥ ११६ ॥
एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समय-ट्ठिएहि जीवेहि ।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा[2] ॥ ११७ ॥
तारिस-परिणाम-ट्ठिय-जीवा हु जिणेहि गलिय-तिमिरेहि ।
मोहस्स पुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया[3] ॥ ११८ ॥

इदानीं बादरकषायेषु चरमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १७ ॥

समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्ति[4]

....

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । और उपशमकके औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । कहा भी है—

अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पाई जाती है, किंतु एक-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनों ही पाई जाती है ॥ ११६ ॥

इस गुणस्थानमें विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समयमें रहनेवाले जीव, जो पूर्वमें कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं, (इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है ।) ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्त अपूर्व परिणामोंको धारण करनेवाले जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंके क्षपण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११८ ॥

अब बादर-कषायवाले गुणस्थानोंमें अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अनिवृत्ति-बादर-सांपरायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतोंमें उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ॥ १७ ॥

समान-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं अथवा

---

१. गो. जी. ५२. २. प्रा. पं. १, १८ । गो. जी. ५१. ३. प्रा. पं. १, १९ । गो. जी. ५४.
४. निवृत्तिर्व्यावृत्तिः परिणामानां विसदृशभावेन परिणतिरित्यनर्थान्तरम् । जयध. अ. पृ. १०७४.

व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः । अपूर्वकरणाश्च तादृशाः केचित्सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानसमयस्थितजीव-परिणामानामिति कथमधिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादि-समयवर्तिजीवैः सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धेः । साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः । अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायाश्च अनिवृत्तिबादरसाम्परायाः । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादर-साम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति[1] । यावन्तः परिणामास्तावन्त एव गुणाः किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा

निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति है । अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं ।

शंका— अपूर्वकरण गुणस्थानमें भी तो कितने ही परिणाम इस प्रकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति संज्ञा प्राप्त होनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके इसका कोई नियम नहीं है ।

शंका— इस गुणस्थानमें जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना ?

समाधान— 'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुण-स्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है । (अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पदका सम्बन्ध एकसमय-वर्ती परिणामोंके साथ ही है ।)

सांपराय शब्दका अर्थ कषाय है, और बादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूलकषायोंको बादर-सांपराय कहते हैं । और अनिवृत्तिरूप बादर सांपरायको अनिवृत्तिबादरसांपराय कहते हैं । उन अनिवृत्तिबादरसांपरायरूप परिणामोंमें जिन संयतोंकी विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अनिवृत्तिबादरसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं । ऐसे संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं । और उन सब संयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है ।

शंका— जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने

---

१. युगपदेतद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्ति-र्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः । समकालमेतद् गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्यैवेत्यर्थः । संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः कषायोदयः । × × तत्र चान्तर्मुहूर्ते यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टानां तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानु-वर्तनादिति । अभि. रा. को. (अणियट्टिबादरसंपरायगुणट्ठाण)

द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात् । बादरग्रहणमन्तर्दीपकत्वात् गताशेषगुणस्थानानि बादर-कषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति न्यायात् । संयतग्रहणमनर्थकमिति चेन्नैष दोषः, संयमस्य पञ्चस्वपि गुणेषु सम्भव एव न व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याधिगमोपायस्याभावतस्तदुक्तेः । आद्यं संयतग्रहणमनुवर्तते, ततस्तदवसीयत इति चेत्तर्ह्यस्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तकषायादिष्वपि संयतग्रहणमस्त्विति चेन्न, सकषायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्द-धियामधः संशयोत्पत्तिसम्भवात् । नोपशान्तकषायादिषु मन्दधियामप्यारेकोत्पद्यते । क्षीणोपशान्तकषायाः संयताः, भावतोऽसंयतैस्संयतानां साधर्म्याभावात् ।

जाय तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नियत-संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं ।

सूत्रमें जो 'बादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादरकषाय हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर विशेषण संभव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभिचार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका— इस सूत्रमें संयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संयम पांचों ही गुणस्थानोंमें संभव है, इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इस प्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे यहां संयम पदका ग्रहण किया है ।

शंका— 'पमत्तसंजदा' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी यहां अनुवृत्ति होती है, और उससे ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यदि ऐसा है, तो संयत पदका यहां पुनः प्रयोग मन्दबुद्धि जनोंके अनुग्रहके लिये समझना चाहिये ।

शंका— यदि ऐसा है, तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें भी संयत पदका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दशवें गुणस्थानतक सभी जीव कषायसहित होनेके कारण, कषायकी अपेक्षा संयतोंकी असंयतोंके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके दशवें गुणस्थानतक मन्दबुद्धि-जनोंको संशय उत्पन्न होनेकी संभावना है । अतः संशयके निवारणके लिये संयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें मन्दबुद्धि-जनोंको भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहां पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्त-कषायही होते हैं, इसलिये भावोंकी अपेक्षा भी संयतोंकी असंयतोंसे सदृशता नहीं पाई जाती है । अतएव यहां पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति, काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः। काश्चित् प्रकृतीः[1] क्षपयति काश्चिदुपरिष्टात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च। सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणः, तत्रान्यभावासंभवात्। तदुपशमकस्यौपशमिकः क्षायिकश्च, उभयोरपि तत्राविरोधात्। क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिवृत्तिपरिणामानां साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोक्तेः[2]। उक्तं च—

> एक्कम्मि काल-समए संठाणादीहि[3] जह णिवट्टंति।
> ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहि मिहो जे हु ॥ ११९ ॥
> होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्स एक्क[4] परिणामा।
> विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिद्दड्ढ[5]-कम्म-वणा[6] ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है। और कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस दृष्टिसे क्षायिक भी है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें दूसरा भाव संभव ही नहीं है। तथा चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि, उपशमश्रेणीकी अपेक्षा वहां पर दोनों भाव संभव हैं।

शंका— क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमका स्वतन्त्र गुणस्थान, इस तरह अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता कही है। अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनोंमें अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी अपेक्षा समानता है। कहा भी है—

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी

---

१. नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं विकलत्रयं स्त्यानगृद्धित्रयमुद्योतः आतपः एकेन्द्रियं साधारणं सूक्ष्मं स्थावरं चेति षोडश अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषाया अष्टौ, क्रमेण षंढवेदः स्त्रीवेदो नोकषायषट्कं, पुंवेदः संज्वलनक्रोधः संज्वलनमानः संज्वलनमाया एताः स्थूले अनिवृत्तिकरणे (सत्त्व–) व्युच्छिन्ना भवन्ति। गो. क., जी. प्र., टी. ३३८-३३९.

२. मु. तदेकत्वोपपत्तेः।

३. प्रा. पं. १, २०। संस्थानवर्णावगाहनलिंगादिभिर्बहिरंगैर्यनिदर्शनादिभिरन्तरंगैः। गो. जी., मं. प्र., टी. ५६.

४. मु. जेसिमेक्क.　　५. मु. णिद्दड्ढ।　　६. प्रा. पं. १, २१। गो. जी. ५७

इदानीं कुशीलेषु पाश्चात्यगुणप्रतीपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १८ ॥

सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः। तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। सर्वे त एकगुणः,[1] सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात्। अपूर्व इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च। ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो[2] विशेषयितव्यः, अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः।

क्रियाओंसे कर्म-वनको भस्म करनेवाले होते हैं ॥ ११९-१२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोंके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्मकषायको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। और सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानमें अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है। इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म-सांपराय-शुद्धि-संयतके साथ जोड़ लेना चाहिये। अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है।

विशेषार्थ— यदि दशवें गुणस्थानमें अपूर्व विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा-भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्व और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये। इस प्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपनारूप विशेषता सिद्ध हो जाती है।

---

१ मु. एको गुणः।

२ संज्वलनलोभस्य अणुनसंख्येयतमस्य खण्डस्यासंख्येयानि खण्डानि वेदयमानोऽनुभवन् उपशमकः क्षपको वा भवति। सोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्सूक्ष्मसंपरायी भण्यते। × × सुहुमसंपराइयं जो बन्धति सो सुहुमसंपरागो। सुहुमं नाम थोवं। कहं थोवं ? आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ अप्पकालट्ठितिकाओ महाणुभावाओ अप्पदेसग्गाओ सुहुमसंपरागस्स बज्झंति। एवं थोवं संपराइयं कम्मं तं स बज्झति। सुहुमो संपरागो वा जस्स सो सुहुमसंपरागो, सो य असंखेज्जसमइओ अंतोमुहुत्तिओ विसुज्झमाणपरिणामी वा पडियत्तमाणपरिणामो वा भवति त्ति। अभि. रा. को. [सुहुमसंपराय]

प्रकृतीः कांश्चित्क्षपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चेति क्षायिकगुणः, कांश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेत्यौपशमिकगुणः। सम्यग्दर्शनापेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा, द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशम-श्रेण्यारोहणसम्भवात्। संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपवेष्टव्यम् उक्तं च–

> पुव्वापुव्व-फद्दय-अणुभागादो अणंत-गुण-हीणे।
> लोहाणुम्हि ट्ठियओ हंद सुहुम-संपराओ सो[1]॥ १२१॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्त्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥

उपशान्तः कषायो येषां त उपशान्तकषायाः। वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः। छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। वीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च वीतरागछद्मस्थाः। एतेन सरागछद्मस्थनिराकृतिरवगन्तव्या। उपशान्त-

इस गुणस्थानमें जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्वमें क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है। तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है। और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशमश्रेणीका चढ़ना संभव है। इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सफलताके समान सफलता समझ लेना चाहिये। कहा भी है—

पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्मलोभमें जो स्थित है उसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये॥ १२१॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं॥ १९॥

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषणसे दशम गुणस्थान तकके सरागछद्मस्थोंका निराकरण समझना चाहिये। जो उपशान्तकषाय होते हुए भी वीतरागछद्मस्थ होते हैं उन्हें

---

१. सूक्ष्मसाम्पराये सूक्ष्मसंज्वलनलोभः, गो. क., जी. प्र., टी. ३३९.

२. प्रा. पं. १, २३। पुव्वापुव्वप्फड्डयबादरसुहुमगयकिट्टिअणुभागा। हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स॥ गो. जी. ५९.

कषायाश्च ते वीतरागछद्मस्थाश्च उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः[1] । एतेनोपरितन-गुणव्युदासोऽवगन्तव्यः । एतस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिकः औपशमिको वा गुणः । उक्तं च

> सकयगहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलए[2]
> सयलोवसंत-मोहो उवसंत-कसायओ होई[3] ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था[4] ॥ २० ॥

क्षीणाः कषाया येषां ते क्षीणकषायाः । क्षीणकषायाश्च ते वीतरागाश्च

उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं । इससे (उपशान्तकषाय विशेषणसे) आगेके गुणस्थानोंका निराकरण समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें संपूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है । तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं । कहा भी है—

निर्मली फलसे युक्त निर्मल जलकी तरह, अथवा शरद् ऋतुमें निर्मल होनेवाले सरोवरके जलकी तरह, संपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं ॥ १२२ ॥

अब निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं ॥ २० ॥

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं । जो क्षीणकषाय होते हुए

---

१ अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतयः उपशान्ता ज्ञातव्याः । उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् । तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेधा, भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतति यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् ॥ × × यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमये सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः । अभि. रा. को. । (उवसंतकसायवीयरागच्छउमत्थगुणट्ठाण)

२ मु. णिम्मलयं ।

३ प्रा. पं. १, २४ । गो. जी. ६१. परं च तत्र प्रथमचरणे ' कदक-फल-जुद-जलं-वा ' इति पाठः ।

४ क्षीणा अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः । तच्चान्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणिद्वारोत्कयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति ; ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं । वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थः स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । अभि. रा. को. [खीणकसायवीयरायछउमत्थ]

क्षीणकषाय-वीतरागाः। छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः। छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचकमित्यवगन्तव्यम्। क्षीणकषाया हि वीतरागा एव, व्यभिचाराभावाद्वीतरागग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकषायविनिवृत्तिफलत्वात्। पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य प्रादुर्भाव इति चेद्द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मकमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणनिबन्धनः। उक्तं च——

> णिस्सेस-खीण-मोहो फलिहामल[1]-भायणुदय-समचित्तो।
> खीण-कसाओ-भण्णइ णिग्गंथो[2] वीयराएहिं॥ १२३॥

स्नातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह——

सजोगकेवली ॥ २१ ॥

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपनेका सूचक समझना चाहिये।

शंका—— क्षीणकषाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकषायकी निवृत्ति करना यही इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है। अर्थात् इस गुणस्थानमें नाम, स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकषायका ग्रहण नहीं है, किंतु भावरूप क्षीणकषायोंका ही ग्रहण है, इस बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है।

शंका—— पांच प्रकारके भावोंमेंसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है?

समाधान—— मोहनीय कर्मके दो भेद हैं-- द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है, अतएव इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है। कहा भी है——

जिसने संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त (आत्मा) स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रक्खे हुए जलके समान निर्मल है, ऐसे निर्ग्रन्थको वीतरागदेवने क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती कहा है॥ १२३॥

अब स्नातकोंके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं——

सामान्यसे सयोगकेवली जीव हैं॥ २१॥

१ मु. फलियामल

२ प्रा. पं. १, २५। ग्रथ्नन्ति रचयन्ति संसारकारणं कर्मबन्धमिति ग्रन्थाः परिग्रहाः मिथ्यात्ववेदादयः अन्तरंगाश्चतुर्दश, बहिरंगाश्च क्षेत्रादयो दश, तेभ्यो निष्क्रान्तः सर्वात्मना निवृत्तो निर्ग्रन्थ इति। गो. जी., मं. प्र., टी. ६२.

केवलं केवलज्ञानम्। कथं नाम्नैकदेशात्सकलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावगतिरिति[1] चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात्। न च दृष्टेऽनुपपन्नता, अव्यवस्थापत्तेः। केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेषामस्तीति केवलिनः। मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्योगः, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः। सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयोगत्वप्रतिपादकम्, अन्तदीपकत्वात्। क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नष्टाष्टकर्मावयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः। उक्तं च—

केवलणाण-दिवायर-किरण-कलाव-प्पणासियण्णाणो[2]।
णवकेवल-लद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्प-ववएसो[3] ॥ १२४ ॥

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है।

शंका— नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होता पाया जाता है। और इस तरह प्रतीति-सिद्ध बातमें, 'यह नहीं बन सकता है' इस प्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं। वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं। इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं। इस सूत्रमें जो, सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तदीपक होनेसे नीचेके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है। चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर-कर्म-प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है।

विशेषार्थ— यद्यपि अरहंत परमेष्ठीके चारों घातिया कर्मोंकी सेंतालीस, नामकर्मकी तेरह और आयुकर्मकी तीन, इस तरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है। फिर भी यहां साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है। इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुकी तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुकी सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहां पर आयुकर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अविवक्षा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है। कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

---

१. स्यावगम इति।

२. अनेन सयोगभट्टारकस्य भव्यलोकोपकारकत्वलक्षणपरार्थसंपत्प्रणीता। गो. जी., जी. प्र., टी. ६३.

३. प्रा. प. १, २७। (अनेन पदेन) भगवदर्हत्परमेष्ठिनोऽनन्तज्ञानादिलक्षणस्वार्थसंपत् प्रदर्शिता। गो. जी., जी. प्र., टी. ६३

असहाय-णाण-दंसण-सहिओ इदि केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोगी इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो[1] ॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथितशब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह—

अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः[2]। केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली। केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलिग्रहणं न कर्तव्यमिति चेन्नैष दोषः, समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्नं प्रतीयते च। सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति, तत्र मनसोऽसत्वादिति विप्रति-

हो गया है, और जिसने नव केवल-लब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस संज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली और तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्षमें कहा है। ॥ १२४-१२५ ॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्थरूपसे अरहंत-परमेष्ठीके मुखसे निकले हुए, गणधरदेवके द्वारा गूंथे गये शब्द-रचनावाले, प्रवाहरूपसे कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जीव हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं।

शंका— पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्व-देश और सर्व-कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वीकार किया गया है और प्रतीत भी होता है, इस प्रकारके नियमके होनेपर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, वहां पर मन नहीं पाया जाता है, इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

१. प्रा. पं. १, २९। गो. जी. ६४.

२. योगः अस्यास्तीति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी केवलिजिनः इत्यनुवर्तनात् अयोगी चासौ केवलिजिनश्च अयोगिकेवलिजिनः। गो. जी., जी. प्र., टी १०.

पक्षस्य शिष्यस्य सदस्तित्वप्रतिपादनफलत्वात्। कथं वचनात्तदस्तित्वमवगम्यत इति चेच्चक्षुषा स्तम्भादेरस्तित्वं कथमवगम्यते ? तत्प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेश्चक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेत्तर्ह्यत्रापि वचनस्य प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः समस्ति वचने वाच्यमिति समानमेतत्। वचनस्य प्रामाण्यमसिद्धम्,[1] क्वचिद् विसंवाददर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्यापि[2] क्वचिद्विसंवाददर्शनत्वं प्रति ततोऽविशेषात्। यदविसंवादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न, सर्वेषामपि चक्षुषां सर्वत्र सर्वदा अविसंवादस्यानुपलम्भात्। यत्र यदाविसंवादः[3] समुपलभ्यते चक्षुषस्तत्र तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेदपि क्वचित्कदाचिदविसंवादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमिष्यते दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र

इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण किया।

शंका— इस सूत्रमें केवली इस वचनके ग्रहण करनेमात्रसे अयोगी-जिनके केवल-ज्ञानका अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

समाधान— यदि यह पूछते हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तम्भ आदिके अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय, कि चक्षुज्ञानमें अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षुद्वारा गृहीत स्तम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं। तो हम भी कह सकते हैं कि अन्यथा वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते हो, क्योंकि, दोनों बातें समान हैं।

शंका— वचनकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, कहीं पर वचनमें भी विसंवाद देखा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमें भी कहीं पर विसंवाद प्रतीत होता है।

शंका— जो चक्षु अविसंवादी होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सभी चक्षुओंका सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादी-पना नहीं पाया जाता है।

शंका— जिस देश और जिस कालमें चक्षुके अविसंवाद उपलब्ध होता है, उस देश और उस कालमें उस चक्षुमें प्रमाणता रहती है ?

समाधान— यदि किसी देश और किसी कालमें अविसंवादी चक्षुके प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयमें सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादी ऐसे विवक्षित वचनको प्रमाण क्यों नहीं मानते हो।

---

१. मु. मसिद्धं तस्य क्वचित्।

२. मु. तस्य।

३. तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः अ. श. ७९.

सर्वदाविसंवादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ? अदृष्टविषये क्वचिद्विसंवादो-पलम्भान्न तस्य सर्वत्र सर्वदा प्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र वचनस्यापराधाभावात्तत्स्वरूपान-वगन्तुः पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भात् । न ह्यन्यदोषेणान्यः परिगृह्यते, अव्यवस्थापत्तेः। वक्तुरेव तत्रापराधो न वचनस्येति कथमवगम्यत इति चेन्न, तस्यान्यस्य वा तत एव

प्रवृत्तस्य पश्चादर्थप्राप्त्युपलम्भात् । अप्रतिपन्नविसंवादाविसंवादस्यास्य वचनस्य प्रामाण्यं कथमवसीयत इति चेन्नैष दोषः, आर्षावयवेन प्रतिपन्नाविसंवादेन सहास्यार्षा-[1] वयवस्यावयविद्वारेणापन्नैकत्वतस्तत्सत्यत्वावगतेः । इक्षुवन्नानारसः किम

शंका--- परोक्ष-विषयमें कहींपर विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्व-देश और सर्व-कालमें वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

समाधान--- यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं है, किंतु परोक्ष-विषयके स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमें अपराध पाया जाता है। कुछ दूसरेके दोषसे दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जायगी।

शंका--- परोक्ष-विषयमें जो विसंवाद उत्पन्न होता है, इसमें वक्ताका ही दोष है वचनका नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, उसी वचनसे पुनः अर्थके निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले उसी अथवा किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति बराबर देखी जाती है। इससे ज्ञात होता है कि जहां पर तत्त्व-निर्णयमें विसंवाद उत्पन्न होता है वहां पर वक्ताका ही दोष है, वचनका नहीं।

शंका--- जिस वचनकी विसंवादिता या अविसंवादिताका निर्णय नहीं हुआ उसकी प्रमाणताका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान--- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिसकी अविसंवादिताका निश्चय हो गया है ऐसे इस आर्षके अवयवरूप वचनके साथ विवक्षित आर्षके अवयवरूप वचनके भी अवयवोंकी अपेक्षा एकपना बन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचनकी सत्यताका ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ--- जितने भी आर्ष-वचन हैं वे सब आर्षके अवयव हैं, इसलिये आर्षमें प्रमाणता होनेसे उसके अवयवरूप सभी वचनोंमें प्रमाणता आ जाती है।

शंका--- जिस प्रकार गन्ना नाना रसवाला होता है, उसके ऊपरके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, मध्यके भागमें भिन्न प्रकारका और नीचेके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, उसी प्रकार अवयवरूप आर्ष-वचनको भी अनेक प्रकारका मान

---

१. मु. सहार्षावयवस्या- ।

स्यादिति चेन्न, वाच्यवाचकभेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यासत्यकृत-भेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अवयविद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-विरोधात् । अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमभिधत्ते, सर्वेषामपि तदवगम-प्रसङ्गात्[1] । न चैवं,[2] तथानुपलम्भात् ।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारः? न द्वितीयविकल्पः तदर्थज्ञानरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वः सर्वस्य व्याख्यातास्तु, अज्ञत्वं प्रत्यविशेषात् । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा[3] ? न द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातुर्वचनस्य

लेना चाहिये

समाधान — नहीं, क्योंकि, वाच्य-वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है ।

शंका — जिस प्रकार वाच्य-वाचकके भेदसे आर्ष-वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी प्रकार वचनोंमें सत्य-असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-क्रमसे आये हुए अपौरुषेय एक आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है ।

अथवा, यह वेद (आगम) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्ताके दोषसे वचनमें दोष मानना चाहिये । परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्ताओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-ज्ञान है या नहीं ? इस तरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थ-ज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमें विरोध आता है । यदि कहो कि इसमें कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि, अज्ञपना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते हो कि वक्ताको वेदके अर्थका ज्ञान है तो वह वक्ता सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

१ अकृत्रिमाम्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशस्तदर्थविप्रतिपत्त्यभावानुषंगादिति तद्व्याख्याता-नुमन्तव्यः । स च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च स्यात्तदाम्नायस्य नरान्तरतंत्रतया प्रवृत्तेः किमकृत्रिमत्वकारणं पोष्यते । तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागित्वे चाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता तस्य विप्रलंभनात् । त. श्लो. वा. पृ. ७.

२ मु. प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न चैवं ।

३ स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमांश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिरयथार्थाभिधानशंकनात् । सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोऽभेदानीमिष्टो यतस्तदर्थनिश्चयः स्यादिति । त. श्लो. वा. पृ. ८.

प्रामाण्याभावात् । भवतु तस्य तद्वचनस्य चाप्रामाण्यम्, नागमस्य, पुरुषव्यापार-निरपेक्षत्वादिति चेन्न, व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यात्रधीन-वाच्यवाचकभावस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वविरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेच्छातोऽर्थ-प्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् । तथा च ' वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम् ' इति न्यायादप्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थ आगमोऽप्रमाणतां कथं नास्कन्देत् ? तस्माद् विगतदोषावरणत्वात्[1] प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथास्यापौरुषेयस्यापि[2] पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात् । असर्वज्ञानां व्याख्यातृत्वाभावे आर्षसन्ततेर्विच्छेदः स्यात्, अर्थशून्याया[3] वचनपद्धतेरार्षत्वाभावादिति चेन्न, इष्टत्वात् । नान्यार्षसन्ततेर्विच्छेदः, विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य चतुरमलबुद्ध्यति-शयोपेतनिर्दोषगणभृदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्याविनष्ट-

शंका— असर्वज्ञ वक्ता और उसके वचनोंको अप्रमाणता भले ही मान ली जाय, परंतु आगममें अप्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे रहित है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, व्याख्याताके बिना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिये उसका वाच्य-वाचकभाव व्याख्याताके आधीन है । अतएव वेदमें पुरुष व्यापारकी निरपेक्षता नहीं बन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छासे अर्थका प्रतिपादक है, ऐसा समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें ' वक्ताकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता आती है ' इस न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिसने, संपूर्ण दोष और आवरणोंको दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अन्यथा इस अपौरुषेय आगमको भी पौरुषेय आगमके समान अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— असर्वज्ञोंको व्याख्याता नहीं मानने पर आर्षसन्ततिका विच्छेद हो जायगा, क्योंकि अर्थशून्य वचन पद्धतिमें आर्षपना नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैसा तो हम मानते ही है । अर्थात् अर्थशून्य वचन-रचनाको हमारे यहां आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहां आर्ष-परंपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और आवरणसे रहित अरहंत परमेष्टीने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशयसे युक्त और निर्दोष गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरुपरंपरासे चला आ रहा है, जिसका पहलेका वाच्य-वाचकभाव अभीतक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरणसे रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य-स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे श्रद्धाके

१ मु. विगताशेषदोषा-　　२ मु. पौरुषेयत्वस्यापि ।　　३ मु. विच्छेदस्यार्थशून्याया ।

प्रगतनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणप्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः, आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात् । कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणां तदविरोधात् । प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये सर्वत्राविसंवादात्, अदृष्टविषयेऽप्यविसंवादिनागमभागेनैकत्वे[1] सति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्[2], ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा

योग्य है ऐसे आगमकी आज भी उपलब्धि होती है ।

शंका— आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका व्याख्यान किया है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त इस युगके आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है ।

शंका— छद्मस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

शंका— आगमका यह अर्थ प्रामाणिक गुरुपरंपराके क्रमसे आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परोक्ष विषयमें भी, जिसमें परोक्ष-विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होने पर, अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है अथवा, ज्ञान विज्ञानसे युक्त इस युगके अनेक आचार्योंके उपदेशसे उसकी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमें विसंवाद नहीं करते हैं, क्योंकि, इस तरहका विसंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बातके निश्चित हो जानेसे आर्ष-वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है । और आर्ष-वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेसे मनके अभावमें भी केवलज्ञान

---

१ मु. भावेनैकत्वे ।

२ यथा चाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादिति न तद्बाधकं तथान्यत्रान्यदान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति । त. श्लो. वा. पृ. ७.

सदर्थगतिः। न च भूयांसः साधवो विसंवदन्ते, तथान्यत्रानुपलम्भात्। प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य प्रामाण्यम्। ततो मनसोऽभावेऽप्यस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम्। अथवा न केवलज्ञानं मनसः समुत्पद्यमानमुपलब्धं श्रुतं वा, येनैषारेकोत्पद्येत। क्षायोपशमिको हि बोधः क्वचिन्मनस उत्पद्यते। मनसोऽभावाद्भवतु तस्यैवाभावः, न केवलस्य, तस्मात्तस्योत्पत्तेरभावात्। सयोगस्य केवलिनः केवलं मनसः समुत्पद्यमानमुपलभ्यत[1] इति चेन्न, स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिविरोधात्। ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न, क्षायिकक्षायोपशमिकयोः साधर्म्याभावात्। प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमपरिवर्तिनः[2] केवलस्य तदविरोधात्।

होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो किसीने उपलब्ध किया और न किसीने सुना ही, जिससे कि यह शंका उत्पन्न हो सके। क्षायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही कहीं पर (संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें) मनसे उत्पन्न होता है। इसलिये अयोगकेवलीके मनका अभाव होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, अयोगकेवलियोंको मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका— सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है।

शंका— जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा करनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है।

शंका— अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे जानता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंके समान परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके उन पदार्थोंके जाननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय ?

समाधान— नहीं क्योंकि, केवल उपयोग-सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय,

---

१ मु. समुपलभ्यत. २ मु. विपरिवर्तिनः।

ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नोत्पत्तिरिति[1] चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते, स्वरूपहानिप्रसङ्गात्[2] । प्रमेयमपि मैक्षिष्ट, असहायत्वादिति[3] चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात् । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः, अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत् क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसिं[4] संपत्तो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो ।
कम्म-रय-विप्पमुक्को गय-जोगो केवली होई[5] ॥ १२६ ॥

मार्गदर्शक—आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे केवलज्ञानकी इन्द्रियादिकसे उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है । और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान— संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आस्रवका निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

---

१ मु. पुनर्नैवोत्पत्तिरिति । २ विशेषजिज्ञासुभिः अष्टसहस्री पृ. २३६-२३७. तथा प्रमेयकमलमार्तण्डः पृ. ११२-११६. द्रष्टव्यः । ३ मु. मैवमंक्षिष्टासहायत्वादिति ।

४ शिलाभिर्निर्वृत्तः शिलानां वाऽयमिति शैलस्तेषामीशः शैलेशो मेरुः शैलेशस्येयं, स्थिरतासाम्यात् परमशुक्लध्याने वर्तमानः शैलेशीमानभिधीयते, अभेदोपचारात् स एव शैलेशी, मेरुरिवाप्रकम्पो यस्यामवस्थायां सा शैलेश्यवस्था । अथवा पूर्वमस्थिरतयाऽशैलेशो भूत्वा पश्चात्स्थिरतयैव यस्यामवस्थायां शैलेशानुकारी भवति स सा । अथवा सेलेसी होई × × सोऽतिथिरताए सेलोव्व इसीति स ऋषिः स्थिरतया शैल इव भवति । अथवा सेलेसी भण्णइ सेलेसी होइ मागधदेशीभाषया से-सो अलेसीभवति तस्यामवस्थायां, अकारलोपात् । अथवा सेलेसो निश्चयतः शीलं समाधानं, स च सर्वसंवरस्तस्येशः, तस्य शीलेशस्य याऽवस्था सा शैलेशी अवस्थोच्यते । वि. भा. को. वृ. पृ. ८६६.

५ प्रा. पं. १,३० । गो. जी. ६५. तत्र 'सीलेसिं' इति पाठः । शीलानां अष्टादशसहस्रसंख्यानां ऐश्यं ईश्वरत्वं स्वामित्वं संप्राप्तः । मं. प्र. टी.

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संसारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत् । निराकृताशेषकर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशविनिर्गतसायकोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः । उक्तं च—

> अट्ठविह-कम्म-विजडा[1] सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
> अट्ठ-गुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा[2] ॥ १२७ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब संसारसे अतीत गुणके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सिद्ध जीव हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अचल स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए बाणके समान विनिःसंग हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कहा भी है—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हैं, सब प्रकार दुःखोंसे मुक्त होनेसे शांतिसुखमय हैं। निरंजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणोंसे युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

'अत्थि मिच्छाइट्ठि' इस सूत्रसे लेकर 'सिध्दा चेदि' इस सूत्र पर्यन्त सब जगह 'अस्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये। 'सिध्दा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द

१ मु. विजुदा।

२ प्रा. पं. १,३१। गो. जी. ६८ 'अट्ठविहकम्मविजुदा' अनेन संसारिजीवस्य मुक्तिर्नास्तीति याज्ञिकमतं, सर्वदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव सदैवेश्वर इति सदाशिवमतं च अपास्तं। 'सीदीभूदा' अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतं। 'णिरंजणा' अनेन मुक्तात्मनः पुनःकर्माञ्जनसंसर्गेण संसारोऽस्तीति वदन् मस्करीदर्शनं प्रत्याख्यातं। 'णिच्चा' अनेन प्रतिक्षणं विनश्वरचित्पर्याया एव एकसंतानवर्तिनः परमार्थतो नित्यद्रव्यं नेति वदंतीति बौद्धप्रत्यवस्था प्रतिव्यूढा। 'अट्ठगुणा' अनेन ज्ञानादिगुणानामत्यन्तोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिरिति वदन्नैयायिकवैशेषिकाभिप्रायः प्रत्युक्तः। 'किदकिच्चा' अनेन ईश्वरः सदा मुक्तोऽपि जगन्निर्माणे कृतादरत्वेनाकृतकृत्य इति वददीश्वरसृष्टिवादाकूतम् निराकृतम्। 'लोयग्गणिवासिणो' अनेन आत्मनः ऊर्ध्वगमनस्वाभाव्यात् मुक्तावस्थायां क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन् माण्डलिकमतं प्रत्यस्तं। जी. प्र. टी.

सव्वत्थ अत्थि त्ति संबंधो कायव्वो। 'च' सद्दो समुच्चयट्ठो। 'इदि' सद्दो एत्तियाणि चेव गुणट्ठाणाणि त्ति गुणट्ठाणाणं समत्ति-वाचओ।

चोद्दसण्हं गुणट्ठाणाणं ओघ-परूवणं काऊण आदेस-परूवणट्ठं सुत्तमाह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धिगदी[1] चेदि ॥ २४ ॥

आदेशग्रहणं सामर्थ्यलभ्यमिति न वाच्यमिति चेन्न स्पष्टीकरणार्थत्वात्। गतिरुक्तलक्षणा, तस्याः वदनं वादः। प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् वादोऽनुवादः। गतेरनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन। [2]हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति यातयति[3] खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यं[4] नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः।

समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और 'इदि' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते हैं इससे कम या अधिक नहीं, इस प्रकार गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है।

चौदह गुणस्थानोंका सामान्य प्ररूपण करके अब विशेष प्ररूपणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आदेश-प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धिगति है ॥ २४ ॥

शंका— आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें उसको ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, स्पष्टीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमें ग्रहण किया है।

गतिका लक्षण पहले कह आये हैं। उसके कथन करनेको वाद कहते हैं। आचार्य-परंपरासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है। इस तरह गतिका आचार्य-परंपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थात् गत्यनुवादसे नरकगति आदि गतियां होती हैं। जो हिंसादिक असमीचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं, और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं। अथवा, जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है अर्थात् यातना देता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं। अथवा, जिस गतिका उदय संपूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारी-कारण है उसे नरकगति कहते हैं। अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात् प्रीति नहीं रखते

१ मु. सिद्धगदी।

२ अर्धतनसन्दर्भेण गो. जीवकाण्डस्य गा. १४७ तमस्य जी. प्र. टीका प्रायेण समाना।

३ मु. पातयति। ४ मु. नरकस्यापत्यानि।

अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योन्येषु[1] च विरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः[2] उक्तं च—

> ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल-भावे य ।
> अण्णोण्णेहिं य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया[3] ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः। अथवा तिर्यग्गतिकर्मोदयापादिततिर्यक्पर्यायकलापस्तिर्यग्गतिः। अथवा तिरो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति व्रजन्तीति तिर्यञ्चः। तिरश्चां गतिः तिर्यग्गतिः उक्तं च—

> तिरियंति कुडिल-भावं सुवियड-सण्णा णिगिट्ठमण्णाणा ।
> अच्चंत-पाव-बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम[4] ॥ १२९ ॥

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः। अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः। अथवा मनसा निपुणाः मनसा

हैं उन्हें नरत कहते हैं, और उनकी गतिको नरतगति कहते हैं। कहा भी है—

यतः जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें जो स्वयं तथा परस्परमें कभी भी रमते नहीं, इसलिये उनको नारत कहते हैं ॥ १२८ ॥

समस्त जातिके तिर्यंचोंमें उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यग्गति कहते हैं। अथवा तिर्यग्गति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यंच-पर्यायोंके समूहको तिर्यग्गति कहते हैं। अथवा, तिरस् वक्र और कुटिल ये एकार्थवाची नाम हैं, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त होते हैं उन्हें तिर्यंच कहते हैं, और उनकी गतिको तिर्यग्गति कहते हैं। कहा भी है—

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पाई जावे उनको तिर्यंच कहते हैं ॥ १२९ ॥

जो मनुष्यकी संपूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। अथवा, मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य-पर्यायोंके समूहको कार्यमें कारणके उपचारसे मनुष्यगति कहते हैं अथवा, जो मनसे निपुण हैं, या मनसे उत्कट अर्थात् सूक्ष्म-विचार आदि

---

१ नरकगतिसम्बन्ध्यन्नपानादिद्रव्ये तद्भूतलरूपक्षेत्रे समयादिस्वायुरवसानकाले चित्पर्यायरूपभावे। गो. जी., जी. प्र., टी. १४७

२ अथवा निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यस्ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः। गो. जी., जी. प्र., टी. १४७.

३ प्रा. पं. १, ६०　गो. जी. १४७.

४ प्रा. पं. १, ६१। गो. जी. १४८. यस्मात्कारणात् ये जीवाः सुविवृतसंज्ञाः प्रगूढाहारादिप्रकटसंज्ञायुताः, प्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्ध्यादिभिरल्पीयस्त्वान्निकृष्टाः हेयोपादेयज्ञानादिभिर्विहीनत्वादज्ञानाः, नित्यनिगोदविवक्षया अत्यन्तपापबहुलाः तस्मात् कारणात्ते जीवाः तिरोभावं कुटिलभावं मायापरिणामं अंचंति गच्छंति इति तिर्यंचो भणिता भवन्ति। जी. प्र. टी.

उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः। उक्तं च—

> मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
> मणु-उब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया[1] ॥ १३० ॥

[2]अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। देवानां गतिर्देवगतिः। अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धन-पर्यायोत्पादको देवगतिः। देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात्। उक्तं च—

> दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठहि य दिव्व-भावेहि[3]।
> भासंत-दिव्व-काया तम्हा ते वण्णिया देवा[4] ॥ १३१ ॥

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः।

सातिशय उपयोगसे युक्त हैं उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं। कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय-उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-दोषादिकका विचार करनेमें निपुण हैं, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म-विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त हैं, अथवा, जो मनुकी सन्तान हैं, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिके बलसे क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं। अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं। अथवा, देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको कार्यमें कारणके उपचारसे देवगति कहते हैं। कहा भी है—

क्योंकि वे दिव्यस्वरूप अणिमादि आठ गुणोंके द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म-स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं। ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं। कहा भी है—

---

१ प्रा. पं. १,६२। गो. जी. १४९. द्वितीयो यस्माच्छब्दोऽनर्थकः लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्याणां पूर्वोक्तमनुष्यलक्षणाभावेऽपि मनुष्यगतिनामायुःकर्मोदयजनितत्वमात्रेणैव मनुष्यत्वमाचार्यस्येष्टं ज्ञापयति। अनर्थकानि वचनानि किंचिदिष्टं ज्ञापयन्त्याचार्यस्य इति न्यायात्। मं. प्र. टी.

२ अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

३ मु. दव्व-भावेहि।

४ प्रा. पं. १,६३। गो. जी. १५१. तत्र 'दव्वभावेहि' इति स्थाने 'दिव्वभावेहि' इति पाठः।

उक्तं च—

> जाइ-जरा-मरण-भया संजोय-विओय-दुक्ख-सण्णाओ ।[1]
> रोगादिया य जिस्से ण संति सा होइ[2] सिद्धिगई[3] ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः, प्रतिज्ञामात्रतः साध्यसिद्ध्यनुपपत्तेरिति चेन्नेदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाणं प्रमाणान्तरमपेक्षते, अनवस्थापत्तेः । नास्य प्रामाण्यमसिद्धम्, उक्तोत्तरत्वात् ।

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्तित्वमभिधाय तत्र जीवसमासान्वेषणाय सूत्रमाह–

णेरइया चदुसु[4] ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ २५ ॥

जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, आहारादि संज्ञाएं और रोगादिक नहीं पाये जाते हैं उसे सिद्धिगति कहते हैं ॥ १३२ ॥

सूत्रमें आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ संबन्ध कर लेना चाहिये ।

शंका—'नरकगति है, तिर्यंचगति है' इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा-वाक्यसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'नरकगति है' इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य (आगमप्रमाण) हैं । जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थादोष आ जाता है । और इन वचनोंकी स्वयं प्रमाणता भी असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि, इस विषयमें पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वज्ञके मुख-कमलसे प्रगट होकर आचार्य-परंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है ।

मार्गणाके एकदेशरूप गतिका सद्भाव बताकर अब उसमें जीवसमासोंके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं ॥ २५ ॥

---

१ कर्मवशाज्जीवस्य भवे भवे स्वशरीरपर्यायोत्पत्तिर्जातिः । जातस्य तथाविधशरीरपर्यायस्य वयोहान्या विशरणं जरा । स्वायुःक्षयात्तथाविधशरीरपर्यायप्राणत्यागो मरणं । अनर्थाशंकया अपकारकेभ्यः पलायनेच्छा भयं । क्लेशकारणानिष्टद्रव्यसंगमः संयोगः । सुखकारणेष्टद्रव्यापायो वियोगः । एतेभ्यः समुत्पन्नानि आत्मनो निग्रहरूपाणि दुःखानि । शेषास्तित्वः आहारादिवांछारूपाः संज्ञाः । गो. जी., मं. प्र., टी. १५२

२ प्रा. पं. १, ६४ । गो. जी. १५२

३ मु. सिद्धगई ।

४ मु. अ. चउट्ठाणेसु

नारकग्रहणं मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहणं पञ्चादिसंख्यापोहनार्थम् । अस्तिग्रहणं प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थम् । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्तीत्यस्मात्सामान्य-वचनात्संशयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः । अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वम्, मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात् । नेतरेषु गुणेषु तेषां सत्त्वम्, तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिकषायाणां[1] तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात् । न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वान्निरन्वयविनाशः, आर्षविरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते, सूत्रविरोधात्[2] । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिः, तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात्[3] । तर्हि कथं तद्वतां तत्र सत्त्वमिति चेन्न,

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पांच आदि संख्याओंके निराकरण करनेके लिये 'चतुर' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य वचनसे संशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौन कौनसे हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम-निर्देश किया है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि उन नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, नरकायुके बन्ध बिना मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायकी नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले बन्धी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्वय नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर आर्षसे विरोध आता है । जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिस प्रकार संयमको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध होता है ।

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें असंयतसम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें, परंतु सासादन गुणस्थानवालोंकी (मरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

---

१. अ. ब. क. मिथ्याविरति.

२. चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं । अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ।
गो. क. ३३४.

३. ण सासणो णारयापुण्णे . गो. जी. १२८. णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदि त्ति । गो. क. ६२२.

पर्याप्तनरकगत्या सह सापर्याप्तया[1] इव तस्य विरोधाभावात्[2]। किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः। तर्ह्यन्यास्वपि गतिष्व-पर्याप्तकालेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकालेनैव शेषापर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः[3]। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्य पुनः सर्वदा सर्वत्रा-पर्याप्ताद्धाभिर्विरोधस्तत्र[4] तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्षाभावात्। किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्। कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः। तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न,

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस प्रकार पर्याप्त-अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। अर्थात् नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है। यदि कहो कि नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रश्नके योग्य नहीं होते हैं।

शंका—— यदि ऐसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है?

समाधान—— यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस तरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। केवल सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका अस्तित्व बतानेवाले आगमका अभाव है।

शंका—— आगममें अपर्याप्त कालमें मिश्र गुणस्थानका सत्त्व क्यों नहीं बताया?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है।

शंका—— तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें सत्त्व कैसे संभव है?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उनकी उत्पत्ति बन जाती है।

शंका—— तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसी प्रकार होते हैं, ऐसा मानना चाहिये? अर्थात्

१. मु. सहापर्याप्तया।

२. (णेरइया) सासणसम्माइट्ठिसम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता। जी. सं. सू. ८०.

३. तिरिक्खा × × मणुस्सा × × देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता। जी. सं. सू. ८४, ८९, ९४.

४. मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि। गो. जी. २४.

इष्टत्वात् । सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिर्मा भविति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किमित्युत्पद्यन्ते इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात् । नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवः, तेषां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात् ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति[2] ॥ २६ ॥

तिर्यग्ग्रहणं शेषगतिनिराकरणार्थम् । पञ्चसु स्थानेषु[3] सन्तीति वचनं षडादिसंख्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनतः

नरकगतिमें पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शंका— जिस प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है ।

शंका— जिस प्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंके अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, संयमासंयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमें रहनेका विरोध है ।

अब तिर्यंच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यंच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यंच्' पदका ग्रहण किया है । छह संख्या आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यंच

---

१ हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं । पुण्णिदरे ण हि सम्मो ॥ गो. जी. १२८.

२ तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । स. सि. १८.

३ मु. पञ्चसु गुणस्थानेषु ।

समुत्पद्यमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धायुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति, तत्र तेन तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः — तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्यः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति । तत्र न ज्ञायते क्वेमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासम्भवात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? 'पंचिंदिय-तिरिक्ख-अपज्जत्त-मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, असंखेज्जा'[1] इदि, तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रति-

पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' इस सामान्य वचनसे संशय उत्पन्न हो सकता है कि वे पांच गुणस्थान कौन कौन हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नामनिर्देश किया है ।

जिस प्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यंचगतिमें अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका—— तिर्यंच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंचिनी और पंचेन्द्रिय-अपर्याप्त-तिर्यंच । परंतु यह जाननेमें नहीं आया कि इन पांच भेदोंमेंसे किस भेदमें पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान—— उक्त शंका पर उत्तर देते हैं कि अपर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंमें तो पांच गुणस्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्ध्यपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव हैं ।

शंका—— यह कैसे जाना कि लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान—— 'पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-अपर्याप्त-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं' इस प्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि 'असंख्यात' हैं । इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्ध्यपर्याप्तक-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंके एक ही मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आर्षवचन मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। शेष चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पांचों ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेषके चार भेदोंमें पांच गुणस्थान न माने जाय, तो उन चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पांच गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुयोग आदि आगममें

१ जी. द. सू. २१.

पादकार्षात् । शेषेषु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चानां गुणस्थानानां संख्यादिप्रतिपादकद्रव्याद्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्चः किन्न निरूपिता इति चेन्न, 'आकृष्टाशेषविशेषविषयं सामान्यम्' इति द्रव्यार्थिकनयावलम्बनात् । तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धायां मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति[1], न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्[2] । भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्धायामेवेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति ? न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत्—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु ।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो[3] ॥ १३३ ॥ इत्यार्षात् ।

अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—सूत्रमें तिर्यंचसामान्यके स्थानपर पांच प्रकारके तिर्यंचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'अपनेमें संभव संपूर्ण विशेषोंको विषय करनेवाला सामान्य होता है' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य नयके अवलम्बनसे संपूर्ण भेदोंका तिर्यंच-सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पांचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किंतु तिर्यंच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त-कालमें शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शंका—तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि, ये दो गुणस्थान पर्याप्त-कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परंतु उनके अपर्याप्त-कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचनियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त-कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवीके बिना नीचेकी छह पृथिवियोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, और सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें मरकर उत्पन्न नहीं होता है ॥ १३३ ॥

---

१ पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ जी. सं. सू. ८७.

२ सम्मामिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ । जी. सं. सू ८८.

३ प्रा. पं. १, १९३.

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणुस्सा चोद्दससु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासण-सम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टि-बादर-संपराय[2]-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-संपराय[3]-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवलि त्ति[4] ॥ २७ ॥

एदस्स सुत्तस्स अत्थो पुव्वं उत्तो त्ति णेदाणिं वुच्चदे, जाणिद-जाणावण[5]-फलाभावादो । पुव्वमवुत्तमुवसामण-खवण-विहिं एत्थ संबद्धमुवसामग-खवग-सरूव-जाणावणट्ठं संखेवदो भणिस्सामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामो । अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा

....

इस आर्ष-वचनसे जानते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंचनियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

अब मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-विशुद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-बादरसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धि-संयतोंमें उपशामक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धिसंयतोंमें उपशामक और क्षपक, उपशांतकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इस तरह इन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि, जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करानेमें कोई विशेष फल नहीं है । पहले उपशमन और क्षपणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये यहां पर संबन्ध-प्राप्त उपशमक और क्षपकके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये उपशमन और क्षपणविधिको संक्षेपसे कहते हैं । वह इस प्रकार है । उसमें भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा

---

१. मु. गुणट्ठाणेसु । २. मु. सांपराइय ३. मु. सांपराइय ४. मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । स. सि. १. ८. ५. मु. जाणावणे ।

सो वा उवसामेदि[1]। सरूवं छंडिय अण्ण-पयडि-सरूवेणच्छणमणंताणुबंधीणमुवसमो[2]। दंसणतियस्स उदयाभावो उवसमो[3], तेसिमुवसंताणं पि ओकड्डुक्कड्डुण-पर-पयडि-संकमाणमत्थित्तादो। अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि। किंतु अपुव्वकरणो पडिसमय मणंतगुण-विसोहीए वड्ढंतो अंतोमुहुत्तेणंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो संखेज्जसहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि, तत्तियमेत्ताणि ट्ठिदि-बंधोसरणाणि

मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है। अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है। दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उदयमें नहीं आना ही उपशम है, क्योंकि, उपशान्त हुई, उन तीन प्रकृतियोंका उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण पाया जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है। किंतु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थिति-खण्डका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति-खण्डोंका घात करता है। और उतने ही स्थिति-बंधापसरणोंको करता है। तथा

---

१ वेदगसम्माइट्ठी जीवो × × अणंताणुबंधी विसंजोइय अंतोमुहुत्तं अधापवत्तो होदूण पुणो पमत्तगुणं पडिवज्जिय असादअरदिसोगअजसगित्तिआदीणि कम्माणि अंतोमुहुत्तं बंधिय दंसणमोहणीयमुवसामेदि। धवला अ. पृ. ४३६. वेदयसम्मादिट्ठी अणंताणुबंधी अविसंजोएदूण कसाए उवसामेदुं णो उवट्ठादि। अविसंजोइदाणंताणुबंधिचउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठिस्स कसायोवसामणाणिबंधणदंसणमोहोवसामणादिकिरियासु पवुत्तीए असंभवादो। जयध. अ. पृ. १००२. उवसमचरियाभिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोइत्ता। अंतोमुहुत्तकालं अधापवत्तो पमत्तो य॥ ल. क्ष. २०५. णत्थि अणं उवसमगे। गो. क. ३९१. 'णिरयतिरियाउ दोण्णि वि पढमकसायाणि दंसणतियाणि। हीणा एदे णेया भंगे एक्केक्कगा होंति॥ गो. क. ३८४.' इति वचनादुपशमश्रेण्यां १४६ प्रकृतिसत्त्वस्थानस्य सद्भावादनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य सत्तापि विभाव्यते, ततो ज्ञायते यद् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धिन उपशमेनापि भवति। अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानामन्यतमोऽनन्तानु-बन्ध्युपशमनां चिकीर्षुः × × यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं च करोति। क. प्र. पृ. २६७. वेयगसम्मद्दिट्ठी चरित्तमोहुवसमाए चिट्ठंतो। अजउ देसजई वा विरतो वा विसोहिअद्धाए। क. प्र. उप. २७ चारित्र-मोहनीयस्योपशमना क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्कस्य भवति। अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति। यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टिः सन्नुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो बद्धायुष्कोऽबद्धायुष्को वा। स च केषाञ्चिन्मते-नानन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य चतुर्विंशतिसत्कर्मा सन् प्रतिपद्यते। केषाञ्चित्पुनर्मतेनोपशमय्यापि, ततो विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय उपशमितानंतानुबन्धिकषायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति। अथवा × आदौ दर्शनमोहनीयं क्षपयित्वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, अथवा दर्शनमोहनीयं प्रथम मुपशमय्यापि प्रतिपद्यते। कथमुपशमय्येत्य त आह—श्रामण्ये संयमे स्थितस्य। पं. सं. पृ. १७६.

२ तत एभिस्त्रिभिरपि करणैर्यथोक्तक्रमेणानन्तानुबन्धिनः कषायानुपशमयति। × × एवमेकीयम-तेनानन्तानुबन्धिनामुपशमोऽभिहितः, अन्ये त्वनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनामेवाभिदधति। आ. म. पृ. २७१.

३ करणपरिणामेहि णिस्सत्तीकयस्स दंसणमोहणीयस्स उदयपज्जाएण विणा अवट्ठाणमुवसमो त्ति। जयध. अ. पृ. ९५४. दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुपशमेन उदयायोग्यभावेन जीवः उपशान्तः उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति। ल. क्ष. सं. टी. १०२.

करेदि । एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडय-कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि [1]घादेदि । पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि । जे अप्पसत्थ-कम्मंसे ण बंधदि तेसिं पदेसग्गमसंखेज्ज-गुणाए सेढीए अण्ण-पयडीसु बज्झमाणियासु संकामेदि । पुणो अपुव्वकरणं वोलेऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिऊणंतोमुहुत्तमणेणेव विहाणेणच्छिय बारस-कसाय-णव-णोकसायाणमंतरं[2] अंतोमुहुत्तेण करेदि । अंतरकद-पढम-समयादो[3] उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज-गुणाए सेढीए णउंसय-वेदमुवसामेदि । उवसमो णाम किं ? उदय उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसंकम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो[4] । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण णवुंसयवेदमुवसमिद-विहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेणेव

एक एक स्थिति-खण्डके कालमें संख्यात हजार अनुभाग-खण्डोंका घात करता है। और प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रदेशोंकी निर्जरा करता है। तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, उनके प्रदेशोंको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असंख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण करता है। पुनः अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका अन्तर (करण) करता है। (विवक्षित कर्मप्रकृतियोंके नीचेके व ऊपरके निषेकोंको छोड़कर बीचके कितने ही निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंके द्रव्यमें निक्षेपण करके बीचके निषेकोंके अभाव करनेको अन्तर-करण कहते हैं।) अन्तरकरणविधिके हो जाने पर प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम करता है।

शंका— उपशम किसे कहते हैं ?

समाधान— उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डक-घात और अनुभाग-काण्डकघातके बिना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेको उपशम कहते हैं।

तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसकवेदकी उपशमविधिसे ही स्त्रीवेदका

---

१ अ. ब. पादेदि ।

२ अंतरं विरहो सुण्णभावो त्ति एयट्ठो तस्स करणमन्तरकरणं। हेट्ठा उवरिं च केत्तियाओ ट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झिल्लाणं ट्ठिदीणं अंतोमुहुत्तपमाणाणं णिसेगे सुण्णत्तसंपादणमंतरकरणमिदि । जयध. अ. प्र. १००९.

३ मु. अंतरे कदे पढमसमयादो।

४ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः । यथा कतकादिद्रव्यसंबन्धादम्भसि पङ्कस्योपशमः । स. सि. २. १. कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत् । त. रा. २. १. १. अनुद्भूतस्वसामर्थ्यवृत्तितोपशमो मतः । कर्मणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत् ॥ त. श्लो. वा. २. १. २. उपशमिता नाम यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्याभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निस्पन्दो भवति तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः संक्रमणोदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणानामयोग्यो भवति । क. प्र. पृ. २६७.

विहिणा छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि[1]। तदो उवरि समऊण-बे-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-णवक-बंधमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए[2] अपच्चक्खाण-पच्चक्खाणावरणसण्णिदे दोण्णि वि कोधे कोध-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवमुवसामेदि। तदो उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण कोध-संजलण-णवक-बंधमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसिं चेव दुविहं माणमसंखेज्जाए गुणसेढीए माणसंजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलणमुवसामेदि । तदो पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए उवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुविधं मायं माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो दो[3] आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलणमुवसामेदि । तदो समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसमुवसामेंतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगद्धाए बिदिय-ति-भागे

उपशम करता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके (एक समय कम दो आवलीमात्र नवकसमयप्रबद्धोंको छोड़कर बाकीके संपूर्ण) प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ छह नोकषायका उपशम करता है। इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता कर पुरुषवेदके नवक समयप्रबद्धका उपशम करता है। इसके पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें एकसाथ ही उपशम करता है। इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमें क्रोधसंज्वलनके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है। तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें संज्वलनमानके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है। तदनन्तर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ, मायासंज्वलनके नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें माया संज्वलनके नवक-समयप्रबद्धका उपशम करता है। तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंका उपशम करता हुआ, लोभवेदकके दूसरे त्रिभागमें सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ संज्वलनलोभके नवक-समयप्रबद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। इस तरह

---

१ ल. क्ष. गा. २६२. इत्यत्र विशेषो द्रष्टव्यः । २ मु. -मसंखेज्जाए गुणसेढीए ,

३ अ. ब. तदो आवलियाओ

सुहुमकिट्टीओ करेंतो उवसामेदि । सुहुमकिट्टिं मोत्तूण अवसेसो बादरलोभो फद्दयं गदो सव्वो [1]णवकबंधुच्छिट्ठावलिय-वज्जो अणियट्टि-चरिम-समए उवसंतो[2] । णवुंसयवेदप्पहुडि जाव बादरलोभ-संजलणो त्ति ताव एदासिं पयडीणमणियट्टी उवसामगो होदि । तदो णंतर-समए सुहुमकिट्टि-सरूवं लोभं वेदंतो णट्ठ-अणियट्टि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि । तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिट्टि-सरूवं णिस्सेसमुवसामिय उवसंत-कसाय-वीदराग-छदुमत्थो होदि[3] । एसा मोहणीयस्स उवसामण-विही ।

सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्रनिषेकोंको छोड़कर शेष स्पर्द्धकगत संपूर्ण बादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इस प्रकार नपुंसकवेदसे लेकर जब तक बादर-संज्वलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है । इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है । तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभ-संज्वलनका उपशम करके उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ होता है । यह मोहनीयकी उपशमनविधि है ।

विशेषार्थ---- लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्त-संयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहां पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है । धवलामें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथोंमें देखनेमें आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोंमें विसंयोजना कहा है, और यहां पर द्वितीयोपशमका प्रकरण होनेसे उसे उपशम कहा है । सो यह केवल शब्द भेद है । स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है ।

उपशमन और क्षपण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समय-प्रबद्धका उल्लेख आया है । और वहीं पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षपण न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निषेकके

---

१ (यत्र) स्थितिसत्त्वमावलिमात्रमवशिष्यते तदुच्छिष्टावलिसंज्ञम् । ल. क्ष. ११३.

२ ल. क्ष. २९५. संज्वलनबादरलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिष्टावलिमात्रेऽवशिष्टे उपशमनावलि-चरमसमये लोभत्रयद्रव्यं सर्वमप्युपशमितं भवति । तत्र सूक्ष्मकृष्टिगतद्रव्यं समयोनद्व्यावलिमात्रसमयप्रबद्ध-नवकबन्धद्रव्यं उच्छिष्टावलिमात्रनिषेकद्रव्यं च नोपशमयति । एतद्द्रव्यत्रयं मुक्त्वा लोभत्रयस्य सर्वमपि सत्त्वद्रव्यमुपशमितमित्यर्थः । म. टी.

३ विशेषजिज्ञासुभिर्लब्धिसारस्य चारित्रोपशमनविधिरवलोकनीयः । ल. क्ष. २०५-३५१.

खवण-विहिं वत्तइस्सामो । खवणं णाम किं ? अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तर-भेय-भिण्ण-पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम[1] । अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्तमिदि एदाओ सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदो वा पमत्तसंजदो वा अप्पमत्तजदो वा खवेदि[2] । किमक्कमेण किं कमेण खवेदि ? ण, पुव्वमणंताणुबंधि-चउक्कं तिण्णि वि

क्रमसे उपशम या क्षय होता है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है, उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति अनन्तर होती है । वह इस प्रकार कि विवक्षित (पुरुषवेद आदि) प्रकृतिके उपशमन या क्षपण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जानेपर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके [illegible] समयमें एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्णरीतिसे उपशम या क्षय होता है । तथा द्विचरमावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बंधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशम या क्षय होता है । इसी प्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयसे बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशम या क्षय होता है । तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है । इस प्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके उपशम या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशम या क्षय होता है ।

अब क्षपणविधिको कहते हैं—

शंका— क्षय किसे कहते हैं—

समाधान— जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिके भेदसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है ।

शंका— इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

---

१. क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः । स. सि. २. १. त. रा. वा. २. १. २. त. श्लो. वा. २. १. ३.

२. पढमकसायचउक्कं इत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं । अविरयसम्मे देसे पमत्ति अपमत्ति खीअंति । क. ग्रं. ६. ७८.

करणाणि काऊण अणियट्टि-करण-चरिम-समए अक्कमेण खवेदि । पच्छा पुणो वि तिण्णि वि करणाणि काऊण अधापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि वोलिय अणियट्टिकरणद्धाए संखेज्जे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि[1] । तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि । सो ण एक्कं पि कम्मं क्खवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुणसरूवेण पदेस-णिज्जरं करेदि । अंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं ट्ठिदि-खंडयं घादेंतो[2] अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि ट्ठिदि-खंडयाणि घादेदि[3] । तत्तियाणि चेव ट्ठिदि-बंधोसरणाणि वि करेदि । तेहिंतो संखेज्ज-सहस्स-गुणे अणुभाग-खंडय-घादे करेदि ' एक्काणुभाग-खंडय-उक्कीरण-कालादो एक्कं ट्ठिदि-खंडय-उक्कीरण-कालो संखेज्ज-गुणो ' त्ति सुत्तादो । एवं काऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिय तत्थ वि अणियट्टि-

समाधान— नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् फिरसे तीनोंही करण करके, उनमें से अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यातबहुभाग व्यतीत हो जानेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है ।

इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होकर जिस समय क्षपणविधिका प्रारम्भ करता है, उस समय अधःप्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है । वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणितरूपसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जरा करता है । एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात-हजार स्थितिकाण्डकोंका घात करता है । और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है । तथा उनसे संख्यात-हजार-गुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरण कालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण-काल संख्यातगुणा है, ऐसा सूत्र-वचन है । इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसंबन्धी क्रियाको करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहां पर भी अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात बहु भागको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक-घात आदि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातवांभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति,

---

१. अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टिकरणचरिमम्हि । जुगवं संजोगित्ता पुणो वि अणियट्टिकरणबहुभागं ॥ वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे । गो. क. ३६५, ३६६.

२. मु. कंडयं अ. ब. घादेंतो । ३. मु. कंडयाणि अ. ब. घादेदि ।

अद्धाए संखेज्जे भागे अपुव्वकरण-विहाणेण गमिय अणियट्टि-अद्धाए संखेज्जे भागे[1] सेसे थीणगिद्धि-तियं णिरयगइ-तिरियगइ-एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चउरिंदियजादि-णिरयगइ-तिरिय-गइपाओग्गाणुपुव्वि-आदावुज्जोव-थावर-सुहुम-साधारण[2] त्ति एदाओ सोलस-पयडीओ खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-कोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि[3] । एसो संत-कम्म-पाहुड-उवएसो । कसाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ठ-कसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस-कम्माणि खवेज्जंति[4] त्ति । एदे दो वि उवएसा सच्चमिदि के वि भणंति, तण्ण घडदे, विरुद्धत्तादो सुत्तादो । दो वि पमाणा इदि वयणमवि ण घडदे, ' पमाणेण पमाणा-विरोहिणा होदव्वं ' इदि णायादो । णाणा-जीवाणं णाणाविह-सत्ति-संभवाविरोहादो केसिं चि जीवाणं णट्ठेसु अट्ठसु कसाएसु पच्छा सोलसकम्म-क्खवण-सत्ती समुप्पज्जदि

नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता हैं । यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है । किंतु कषायप्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कषायोंके क्षय होजाने पर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियां क्षयको प्राप्त होती हैं । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है । किंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, ' एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये ' ऐसा न्याय है ।

---

२ पु. साहारणा ।

३ णिरयतिरिक्खदु वियलं थीणतिगुज्जोव ताव एइंदी । साहरणसुहुमथावर सोलं मज्झं कसायट्ठं ॥ गो. क. ३३८. अणियट्टिबादरे थीणगिद्धितिगं निरयतिरियनामाओ । संखेज्जइमे सेसे तप्पाउग्गाओ खीअंति ॥ इत्तो हणइ कसायट्ठगंपि × × क. ग्रं. ७८, ७९.

४ तदो अट्ठकसायट्ठिदिसंडयपुधत्तेण संकामिज्जंति । जयध. अ. पृ. १०७८. तदो ट्ठिदिखंडय-पुधत्तेण अपच्छिमे ट्ठिदिखंडए उक्किण्णे एदेसिं सोलसण्हं कम्माणं ट्ठिदिसंतकम्ममावलियब्भंतरं सेसं । जयध अ.पृ.१०७९. × × सवगा पुव्वं खवित्तु अट्ठा य । पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केहिं णिद्दिट्ठं । गो. क,३९१, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानाष्टकमस्तवेद् गुणे नवमे । तस्मिन्नर्धक्षपिते क्षपयेदिति षोडश प्रकृतीः ॥ × × × अर्धदग्धेन्धनो वन्हिर्दहेत्प्राप्येन्धनान्तरम् । क्षपकोऽपि तथाभ्रान्तः क्षपयेत्प्रकृतीः पराः ॥ कषायाष्टकशेषं च क्षपयित्वाऽन्तयेत् क्रमात् । क्लीबस्त्रीवेदहास्यादिषट्कपूरुषवेदकान् ॥ एष सूत्रादेशः । अन्ये पुनराहुः, षोडश कर्माण्येव पू. क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति कर्मग्रन्थवृत्तौ ॥ लो. प्र., प्र. भा. पृ. ६८,

त्ति तेण पच्छा सोलस-कम्म-क्खयो होदि, 'कारणकमाणुसारी कज्जक्कमो' त्ति णायादो । केसि चि जीवाणं पुव्वं सोलस-कम्म-क्खवणसत्ती समुप्पज्जदि, पच्छा अट्ठ-कसाय-क्खवण-सत्ती उप्पज्जदि त्ति णट्ठेसु सोलस-कम्मेसु पच्छा अंतोमुहुत्ते अदिक्कंते अट्ठ कसाया णस्संति । तदो ण दोण्हं उवएसाणं विरोहो त्ति के वि भणंति, तण्ण घडदे । किं कारणं ? जेण अणियट्टिणो णाम जे के वि एग-समए वट्टमाणा ते सव्वे वि अदीदाणागद-वट्टमाण-कालेसु समाण-परिणामा, तदो चेय ते समाण-गुणसेडि-णिज्जरा वि । अह भिण्ण-परिणामा वुच्चंति तो ण्णहि ण ते अणियट्टिणो, भिण्ण-परिणामादो अपुव्वकरणा इव । ण च कम्म-क्खंधाण असंखेज्ज-गुणसेडीए खवण-हेदु-परिणामे उज्झिऊणण्णे परिणामा ट्ठिदि-अणुभागखंडय-घादस्स कारणभूदा अत्थि, तेसिं णिरूवय-सुत्ताभावादो । 'कज्ज-णाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि' इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहु-कोडि-कवालोवलंभा । तत्थ वि होदु

शंका— नाना जीवोंके नाना-प्रकारकी शक्तियां संभव हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये कितने ही जीवोंके आठ कषायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलह कर्मोंके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है । अतः उनके आठ कषायोंके क्षय हो जानेके पश्चात्, सोलह कर्मोंका क्षय होता है । क्योंकि, 'जिस क्रमसे कारण मिलते हैं उसी क्रमसे कार्य होता है' ऐसा न्याय है । तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलह कर्मोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है, और तदनन्तर आठ कषायोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये पहले सोलह कर्म-प्रकृतियां नष्ट होती हैं, और इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होनेपर आठ कषायें नष्ट होती हैं । इसलिये पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं ?

समाधान— परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जितने भी जीव हैं, वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी किसी एक समयमें विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामवाले ही होते हैं, और इसीलिये उन जीवोंकी गुणश्रेणी-निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है । और यदि एकसमयस्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंको विसदृश परिणामवाला कहा जाता है, तो जिसप्रकार एक समयस्थित अपूर्वकरण गुणस्थानवालोंके परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उन्हें अनिवृत्ति यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार इन परिणामोंको भी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी । और असंख्यातगुण-श्रेणीके द्वारा कर्मस्कन्धोंके क्षपणके कारणभूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहीं पाया जाता है ।

---

१ मु. कम्माणुसारी कज्जकमो । २ मु. के वि आइरिया भणंति ।

णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एयकवल्लुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे ? तो वत्थाहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदि-खंडयघाद-अणुभाग-खंडयघाद-ट्ठिदिबंधोसरण-गुणसंकम-गुणसेढि-सुहाणं ट्ठिदि-अणुभाग-बंधकारण-परिणामाणं णाणत्तं, तो वि एग-समय-संठिय-णाणा-जीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टि-विसेसणाणुववत्तीदो। जइ एवं, तो सव्वेसिमणियट्टीणमेय-समयम्हि वट्टमाणाणं ट्ठिदि-अणुभागघादाणं सरिसत्तं पावेदि त्ति चे ? ण एस दोसो, इट्ठत्तादो। पढम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयाणं सरिसत्त-णियमो[1] णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति चे ? स दोसो ण दोसो, हद-सेस-ट्ठिदि-

शंका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है ? अर्थात् नवमें गुणस्थानमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थिति-काण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये।

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है।

शंका—वहां भी मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परंतु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहां पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितीबन्धापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणी शुभप्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोंके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन सकता है।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है।

शंका—प्रथम-स्थितिकाण्डक और प्रथम-अनुभागकाण्डकोंकी समानताका नियम तो नहीं पाया जाता है, इसलिये उक्त कथन घटित नहीं होता है ?

१ तिकालगोयराणं सव्वेसिमणियट्टिकरणाणं समाणसमए वट्टमाणाणं सरिसपरिणामत्तादो पढमट्ठिदिखंडयं पि तेसिं सरिसमेवेत्ति णावहारियव्वं किंतु तत्थ जहण्णुक्कस्सवियप्पसंभवादो। जयध. अ. प्र. १०७४. बादरपढमे पढमं ठिदिखंडं विसरिसं तु विदियादि। ठिदिखंडयं समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि॥ पल्लस्स संखभागं अवरं तु वरं तु संखभागहियं। घादादिमट्ठिदिखंडो सेसा सव्वस्स सरिसा हु॥

ल. क्ष. ४१२, ४१३.

अणुभागाणं एय-पमाण-णियम-दंसणादो । ण च थोव-ट्ठिदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामो तदो अब्भहिय-ट्ठिदि-अणुभागाणमविरोहित्तमल्लियइ[1], अण्णत्थ तहा अदंसणादो । ण च अणियट्टिम्हि पदेस-बंधो एय-समयम्हि वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो, तस्स जोग-कारणत्तादो । ण च तेसिं सव्वेसिं जोग[2]- सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोगपूरणम्हि ट्ठिय-केवलीणं[3] व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो । तदो सरिस-परिणामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संट्ठियाणं ट्ठिदि-अणुभाग-घाद-बंधोसरण[4]-गुणसेढिणिज्जरा-संकमाणं सरिसत्तणं सिद्धं । समाण-समय-संट्ठिय-सव्वाणियट्टीणं ट्ठिदि-[illegible]-ट्ठिदि-अणुभागेसु सरिसत्तणेण वट्टमाणेसु अप्पणो पसत्थापसत्थत्तणं पयडीसु अछंडमाणीसु[5] कथं पयडि-विणासस्स विवज्जासो ? तम्हा दोण्हं वयणाणं मज्झे एक्कमेव सुत्तं होदि, जदो 'जिणा ण अण्णहा-वाइणो' तदो ण तव्वयणाणं[6] विप्पडिसेहो इदि चे ? सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि, एयाइं आइल्ल[7]-आइरिय-वयणाइं, तदो एयाणं विरोहस्सत्थि-

समाधान— यह दोष कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथम समयमें घात करके शेष बचे हुए स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एकप्रमाण नियम देखा जाता है । दूसरे, अल्प-स्थिति और अल्प-अनुभागका विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखनेमें नहीं आता है । परंतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित संपूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है । परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती उन सब जीवोंके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता है । जिस प्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है । इसलिये समान (एक) समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, तथा उनका बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

१ 'उपसर्पेरल्लिअः' हैम ८, ४, १३९.

२ मु. जोगस्स सरिसत्तणे ।

३ ल. क्ष. ६२६. लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स त्ति समजोगो त्ति णायव्वो । लोगपूरणसमुग्घादे वट्टमाणस्सेदस्स केवलिणो लोगमेत्तासेसजीवपदेसेसु जोगाविभागपलिच्छेदा वड्ढिहाणीहि विणा सरिसा चेव होदूण परिणमंति तेण सव्वे जीवपदेसा अण्णोण्णं सरिसधणियसरूवेण परिणदा संता एया वग्गणा जादा तदो समजोगो त्ति एसो तदवत्थाए णायव्वो । जोगसत्तीए सव्वजीवपदेसेसु सरिसभावं मोत्तूण विसरिस-भावाणुवलंभादो त्ति वुत्तं होइ । जयध. अ. पृ. १२३१.

४ मु. घादसबंधोसरण । ५ मु. अ छड्डमाणेसु । ६ मु. तदो तव्वयणाणं । ७ मु. आइल्लु

संभवो इदि । आइल्लाइरिय[1]-कहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे? ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथरयणाणं बारहंगाणं आइरिय-परंपराए णिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठु-बुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थ-वोच्छेदभएण वज्ज-भीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो । जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवत्तादो सुत्तत्तणं पावदि त्ति चे ? भवदु दोण्हं मज्झे एक्कस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि, परोप्पर-विरोहादो । उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज्ज-भीरुणो इदि चे ? ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एक्कस्सेव संगहे कीरमाणे वज्ज-

---

शंका— इस तरह समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिखंड और अनुभागखंडोंके समानरूपसे पतित होने पर, उसके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके नहीं छोड़ने पर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले आठ कषायोंके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोंके पहले सोलह प्रकृतियोंसे नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कषायोंका नाश होता है, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि, जिन अन्यथावादी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ।

समाधान— यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये, परंतु ये जिनेन्द्रदेवके वचन न होकर इस युगके आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें विरोध होना संभव है ।

शंका— तो फिर इस युगके आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थंकरोंने प्रतिपादन किया है, और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थ-रचना की ऐसे बारह अंग आचार्य-परंपरासे निरन्तर चले आ रहे हैं । परंतु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरु परम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग-संबन्धी अर्थको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है ।

---

१ मु. इदि आइरिय ।

भीरुत्तं फिट्टदि त्ति[1] ? दोण्हं पि संगहं करेंताणमाइरियाणं वज्ज-भीरुत्ताविणासादो। दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे ? सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तहा णिण्णयाभावादो। वट्टमाण-कालाइरिएहि वज्ज-भीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चउसंजलण-णवणोकसायाणमंतरं करेदि। सोदयाण-मंतोमुहुत्त-मेत्तिं पढम-ट्ठिदिं अणुदयाणं समऊणावलिय-मेत्तिं पढम-ट्ठिदिं[2] करेदि। तदो अंतरकरणं काऊण पुणो अंतोमुहुत्ते गदे णवुंसय-वेदं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूणित्थिवेदं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-

शंका — यदि ऐसा है तब दोनों ही [illegible] होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान — दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किंतु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

शंका — उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छृंखलता आ जाती है। किन्तु दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है।

शंका — दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जाय ?

समाधान — इस बातको केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमानकालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा।

तत्पश्चात् आठ कषाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर चार संज्वलन और नौ नो-कषायोंका अन्तर करता है। अन्तरकरण करनेके पहले चार संज्वलन और नौ नो-कषायसंबन्धी तीन वेदोंमेंसे जिन दो प्रकृतियोंका उदय रहता है उनकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति एक समयकम आवलीमात्र स्थापित करता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त जाने पर

१ मु. फिट्टदि त्ति।

२ संजलणाणं एक्कं वेदाणेक्कं उदेदि तद्दोण्हं। सेसाणं पढमट्ठिदि ठवेदि अंतोमुहुत्तआवलियं। ल.क्ष. ४३४.

कम्मेण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि । तदो [1]दो-आवलिय-मेत्त-कालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण कोध-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण माया-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं[2] गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणट्ठाणं पडिवज्जदि । सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिमसमए लोभ-संजलणं खवेदि । तदो से काले खीण-कसाओ होदूण अंतोमुहुत्तं गमिय अप्पणो अद्धाए दु-चरिम-समए णिद्दा-पयलाओ दो वि अक्कमेण खवेदि । तदो से काले पंचणाणावरणीय-चदुदंसणावरणीय-पंचअंतराइयमिदि चोद्दसपयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि । एदेसु सट्ठि-कम्मेसु खीणेसु सजोगिजिणो होदि । सजोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि । तदो कमेण विहरिय जोग-णिरोहं-काऊण अजोगकेवली[3] होदि । सो वि अप्पणो दु-चरिम-समए

नपुंसकवेदका क्षय करता है । तदनंतर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्रीवेदका क्षय करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सवेद-भागके द्विचरम समयमें पुरुषवेदके पुरातन सत्तारूप कर्मोंके साथ छह नो-कषायका एकसाथ क्षय करता है । तदनंतर दो आवलीमात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर क्रोध-संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है । वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है । उसके बाद तदनंतर समयमें क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है । इस तरह इन साठ कर्म-प्रकृतियोंका क्षय हो जानेपर यह जीव सयोगकेवली जिन होता है । सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं । इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं । वे भी अपने कालके द्विचरम समयमें वेदनीयकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अनुदयरूप कोई एक, देवगति, पांच शरीर, पांच शरीरोंके संघात, पांच शरीरोंके बन्धन, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह संहनन,

१ ' समऊण ' इत्यधिकेन पाठेन भाव्यम् । समऊण दोण्णिआवलिपमाणसमयप्पबद्धणवबंधो ।
ल. क्ष. ४६१.

२ अणियट्टिगुणट्ठाणे मायारहिदं च ट्ठाणमिच्छंति । ट्ठाणा भंगपमाणा केई एवं परूवेंति ॥
गो. क. ३९२.

३ मु. अजोगिकेवली ।

अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पंचसरीरसंघाद-पंचसरीरबंधण-छस्संठाण-तिण्णि-अंगोवंग-छस्संघडण-पंचवण्ण-दोगंध-पंचरस-अट्ठफास-देवगदिपाओग्गाणुपुव्वि-अगुरुव-लहुव-उवघाद-परघाद-उस्सास-दोविहायगदी-अपज्जत्त-पत्तेय-थिर-अथिर-सुभ-असुभ दूभग-सुस्सर-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसगित्ति-णिमिण-णीचागोदाणि त्ति एदाओ बाहत्तरि पयडीओ खवेदि। तदो से काले सोदय-वेदणीय-मणुसाउ-मणुसगइ-पंचिदिय-जादि-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी-तस-बादर-पज्जत्त-सुभग-आदेज्ज-जसगित्ति-तित्थयर-उच्चागोदाणि त्ति एदाओ तेरस पयडीओ खवेदि, अहवा मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वीए

सह तेहत्तरि पयडीओ दुचरिम-समए णट्ठाओ बारह चरिमसमए[1], उप्पायाणुच्छेदादो[2]। तदो उवरिम-समए णीरओ णिम्मलो सिद्धो होदि। तत्थ जे कम्म-क्खवणम्हि वावदा ते जीवा खवगा उच्चंति। जे पुण तेसिं चेव उवसामणम्हि

पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच-गोत्र, इन बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। इसके बाद तदनन्तर समयमें दोनों वेदनीयमेंसे उदयागत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर और उच्च-गोत्र, इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। अथवा, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोगि-केवलीके द्विचरम समयमें तेहत्तर प्रकृतियोंका और चरम समयमें बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं। यह क्षपणाका कथन उत्पाद अर्थात् भाव ही अनुच्छेद अर्थात् अभाव है इसप्रकार द्रव्यार्थिकनयरूप व्यवहारकी मुख्यतासे किया है।

---

१ बाहत्तरि पयडीओ दुचरिमगे तेरसं च चरिमम्हि. क. क्ष. ३८४. × × द्विसप्ततिः कर्माणि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात्। चरमसमये चान्यतरवेदनीयमनुष्यत्रिकपंचेन्द्रियजातित्रससुभगादेययशःकीर्तिपर्याप्तबादरतीर्थंकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदश-प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः। अन्ये त्वाहुः– 'मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेद उदयाभावात्, उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तास्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः। आनुपूर्वीणां च चतसृणामपि क्षेत्रविपाकतयाऽपान्तरालगतावेवोदय इति न भवस्थस्य तदुदयसंभवः तस्ययोग्य-वस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेदः'। तन्मते द्विचरमसमये त्रिसप्ततेः, चरमसमये च द्वादशानां सत्ताव्यवच्छेदः। क. प्र. म. उ. टी. पृ. ६४. × × त्रयोदशैताः प्रकृतीः क्षपयित्वान्तिमे क्षणे। अयोगिकेवली सिद्धयेन्निर्मूलनष्टकल्मषः॥ मतान्तरेऽआनुपूर्वीं क्षिपत्युपान्तिमक्षणे। ततस्त्रिसप्ततिं तत्र द्वादशान्त्ये क्षणे क्षिपेत्॥ लो. प्र. १, १२७५, १२७६.

२ वोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि। उत्पादः सत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः अभावः निरूपित इति यावत्। उत्पाद एव अनुच्छेदः उत्पादानुच्छेदः भाव एव अभाव इति यावत्। एसो दव्वट्ठियणयव्ववहारो। अनुत्पादः असत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः। अनुत्पाद एव अनुच्छेदः असतः अभाव इति यावत्। सतः असत्त्वविरोधात्। एसो पज्जवट्ठियणयव्ववहारो। धवला अ. पृ. ५७७.

वावदा ते उवसामगा ।

गदि-मग्गणावयव-देवगदिम्हि गुण-मग्गणट्ठं सुत्तमाह—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति[1] ॥ २८ ॥

देवाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्चेति । प्रागुक्तार्थत्वान्नैतेषां गुणस्थानानामिह स्वरूपमुच्यते ।

तदनन्तर आगेके समयमें कर्मरजसे रहित निर्मलदशाको प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं । इनमेंसे जो जीव कर्म-क्षपणमें व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं और जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं ।

विशेषार्थ— चौदहवें गुणस्थानमें अधिकसे अधिक पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । उनमेंसे बहत्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमें और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इसप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षय होता है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार आदि ग्रन्थोंमें इसी एक मतका उल्लेख मिलता है । किंतु यहां मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमें भी क्षय बतलाया गया है, जिसका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें भी मिलता है । तथा उसकी पुष्टिके लिये इसप्रकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयप्राप्त प्रकृतियोंका स्तिबुकसंक्रमणके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमें ही उपान्त्य समयमें संक्रमण हो जाता है । अतः मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमें ही सत्वनाश हो जाता है, क्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विग्रहगतिके गुणस्थानोंमें ही होता है, शेषमें नहीं । इसप्रकार दूसरे आचार्योंके मतानुसार उपान्त्य समयमें मनुष्यगत्यानुपूर्वी-सहित तेहत्तर और अन्त समयमें बारह प्रकृतियोंका सत्त्व नाश होता है ।

अब गतिमार्गणाके अवयवरूप देवगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, इन चार गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं ।

शंका— वे चार गुणस्थान कौनसे हैं ?

समाधान— मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, इसप्रकार देवोंके चार गुणस्थान होते हैं ।

---

१ देवगतौ नारकवत् । स. सि. १, ८.

अथ स्यात्तासु याभिर्वा जीवाः मृग्यन्ते ताः मार्गणा इति प्राक् मार्गणाशब्दस्य निरुक्तिरुक्ता, आर्षे चैयत्सु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यञ्चः सन्ति, मनुष्याः सन्ति, देवाः सन्तीति गुणस्थानेषु मार्गणा अन्विष्यन्ते,[1] अतस्तद्व्याख्यानमार्षविरुद्धमिति ? नैष दोषः, 'णिरय-गईए णेरईएसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया[2]' इत्यादि-भगवद्-भूतबलिभट्टारकमुखकमलविनिर्गतगुणसंख्यादिप्रतिपादकसूत्राश्रयेण तन्निरुक्ते-रवतारात् । कथमनयोर्भूतबलिपुष्पदन्तवाक्ययोर्न विरोध इति चेन्न विरोधः । कथमिदं तावत् ? निरूप्यते । न तावदसिद्धेन असिद्धे वासिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति, विरोधात् । नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वेषणम्, तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावात् । ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्वद्रव्यसंख्याविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मका-नादिबन्धनबद्धज्ञानदर्शनलक्षणस्मास्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेषतोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभावो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः ।

इन गुणस्थानोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये यहां पर उनका स्वरूप पुनः नहीं कहते हैं।

शंका— जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं । इस प्रकार पहले मार्गणा शब्दकी निरुक्ति कह आये हैं । और आर्षमें तो इतने गुण-स्थानोंमें नारकी होते हैं, इतनेमें तिर्यंच होते हैं, इतनेमें मनुष्य होते हैं और इतनेमें देव होते हैं, इस प्रकार गुणस्थानोंमें मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है । इसलिये उक्त प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना आर्षविरुद्ध है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतबलि भट्टारकके मुख-कमलसे निकले हुए गुणस्थानोंका अवलम्बन लेकर संख्या आदिके प्रतिपादक सूत्रोंके आश्रयसे उक्त निरुक्तिका अवतार हुआ है ।

शंका— तो भूतबलि और पुष्पदन्तके इन वचनोंमें विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान— उनके वचनोंमें विरोध नहीं है । यदि पूछो किस प्रकार ? तो आगे इसी बातका निरूपण करते हैं । असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धमें असिद्धका अन्वेषण करना तो संभव नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेमें तो विरोध आता है । उसीप्रकार सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि, सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करने पर कोई फल नहीं है । इसलिये स्वरूप-सामान्यकी अपेक्षासे सिद्ध, किन्तु गुण-सत्व अर्थात् गुणस्थान, द्रव्यसंख्या आदि विशेषरूपसे असिद्ध

---

१ मु. स्थानेषु अन्विष्यन्ते ।

२ जी. द. सू. १२.

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति ॥ २९ ॥

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहृतेन कृत्वेत्यनेनाभिसम्बन्धादस्य नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । यत्परिमाणमस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्यथा एकेन्द्रियादयोऽसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यवगमोपायाभावतस्तदवजिगमयिषायै एतत्प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

....

जीवोंका तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिकोटिसे परिणमनशील अनादि-कालीन बन्धनसे बंधे हुए, तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण स्वरूप आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अन्यथा हो नहीं सकती है, इसलिये सामान्यरूपसे जानी गई और विशेषरूपसे नहीं जानी गई ऐसी गति आदि मार्गणा-ओंका इच्छासे आधार-आधेयभाव बन जाता है । अर्थात् जब गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब वे आधार-भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाएं आधेयपनेको प्राप्त होती हैं । उसीप्रकार जब मार्गणाएं विवक्षित होती हैं तब वे आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेय-पनेको प्राप्त होते हैं । इसलिये भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्योंके वचनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

विशेषार्थ— यहां पर आचार्य पुष्पदन्तने गुणस्थानोंको आधार बनाकर मार्गणाओंका प्रतिपादन किया है तथा आचार्य भूतबलिने आगे मार्गणाओंको आधार बनाकर गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है । अतः दोनोंके कथनमें कोई विरोध नहीं है ।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं । प्रभृतिका अर्थ आदि है । 'एकेन्द्रियको आदि करके' इस प्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'कृत्वा' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय-प्रभृति' इस पदका संबन्ध होनेसे इस पदको नपुंसक-लिंग कहा है । जो असंज्ञी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असंज्ञी-पंचेन्द्रिय कहते हैं । जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है । इसप्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच होते हैं ।

शंका— इस प्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव संजदा-संजदा त्ति ॥ ३० ॥

संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत्संयतासंयतास्तावत्तिर्यञ्चो मिश्राः । न तिरश्चामन्यैः सह मिश्रणमवगम्यते । कथं ? न तावत्संयोगोऽस्यार्थः, तस्योपरितन-गुणेष्वपि सत्त्वात् । नैकत्वापत्तिरर्थः, द्वयोरेकस्याभावतो द्वित्वादिनिबन्धनमिश्रता-नुपपत्तेरिति ? न प्रथमविकल्पः, अनभ्युपगमात् । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, गुणकृतसादृश्यमाश्रित्य तिरश्चां मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाभ्युपगमात् । तद्यथा-मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिगुणैर्गतित्रयगतजीव-साम्यात्तैस्ते मिश्राः, संयमासंयमगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्व-

....

समाधान---- नहीं, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहते तो ' इस (तिर्यंच) गतिमें ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके जीव होते हैं ' इस बातके जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था । अतः उक्त बातको बतानेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया गया है ।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यंचोंका प्रतिपादन कर अब साधारण (मिश्र) तिर्यंचोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं----

संज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत-गुणस्थानतक तिर्यंच मिश्र होते हैं ॥३०॥

संज्ञी-मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक तिर्यंच मिश्र हैं ।

शंका--- तिर्यंचोंका किसी भी गतिवाले जीवोंके साथ मिश्रण समझमें नहीं आता, क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ संयोग तो हो नहीं सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ अन्य गतिवाले जीवोंके साथ संयोग ही लिया जाय, तो ऐसा संयोग तो छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है । और दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप होंगे, तब दोमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान---- प्रथम विकल्पसंबन्धी दोष तो यहां पर लागू हो नहीं सकता, क्योंकि, यहां पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके संयोगरूप स्वीकार नहीं किया है । उसीतरह दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी यहां पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर गुणकृत समानताकी अपेक्षा तिर्यंचोंका मनुष्यगतिके जीवोंके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है । आगे इसीको स्पष्ट करते हैं----

...

मापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मतं, गतिनिरूपणाद्यामियन्तो गुणाः अस्यां गतौ सन्ति न सन्तीति निरूपणाया[१] एव अवसीयते, अस्याः गत्याः अनया गत्या सह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थकमिति ? न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपाद्यस्य बुभुत्सितार्थविषयनिर्णयोत्पादनं वक्तृवचसः फलम्' इति न्यायात् । अथवा न तिरश्चां मिथ्यात्वादिर्मनुष्यादि-मिथ्यात्वादिभिः समानः, तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् । नापि तिर्यगादीनामेकत्वम्, चतुर्गतेरभावप्रसङ्गात् । न चाभावः, मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-तिरश्चामुपलम्भादिति पर्यायनयैकान्तावष्टम्भनबलेन केचिद् विप्रतिपन्नाः । न मिथ्यात्वादयः पर्यायाः जीवद्रव्याद्भिन्नाः, कोशादसेरिव तेषां तस्मात्पृथगनुपलम्भादस्येमे

तिर्यंचोंको मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि-रूप गुणोंकी अपेक्षा तो तीन गतिमें रहनेवाले जीवोंके साथ समानता है, इसलिये तीन गति-वाले जीवोंके साथ तिर्यंच जीव चौथे गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं । और संयमासंयम गुणकी अपेक्षा तिर्यंचोंकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यंच मनुष्योंके साथ एकत्वको प्राप्त हुए हैं । इसलिये पांचवें गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यंचोंको मिश्र कहनेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

शंका— गति-मार्गणाकी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं, और इतने नहीं' इसप्रकारके निरूपण करनेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है, इसकी इसके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो जावे, इसलिये इस कथनका यहां पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्यको जिज्ञासित-अर्थ संबन्धी निर्णय उत्पन्न करा देना ही वक्ताके वचनोंका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यंचोंके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिसंबन्धी जीवोंके मिथ्यात्वादि भावोंके समान नहीं हैं, क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यादिकको छोड़कर मिथ्यात्वादि भावोंका स्वतन्त्र सद्भाव नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना संभव है । यदि कहा जाय कि तिर्यंचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, सो भी कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि, तिर्यंचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका प्रसंग आ जायगा । परंतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता क्योंकि, मनुष्योंसे अतिरिक्त तिर्यंचोंकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायार्थिकनयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादग्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्यायें जीवद्रव्यसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि, जिसप्रकार तरवार म्यानसे भिन्न

---

१ म. निरूपणयैवमवसीयतेऽस्याः ।

इति सम्बन्धानुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनयैकान्तावष्टम्भनबलेन केचिद्विप्रतिपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः । नाभिप्रायद्वयं घटते, तथाप्रतिभासनात् । न च प्रमाणाननुसार्यभिप्रायः साधुः, अव्यवस्थापत्तेः । न च जीवाद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति, कृत्स्नस्यैकत्वाद्देशादेरिव सत्तातोऽप्यन्यतो भेदात् । न प्रमेयस्यापि सत्त्वम्, अपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सत्त्वायोगात् । प्रमाणं वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशाद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभावतः सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात् । अस्तु

उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिककी जीवद्रव्यसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जावें तो ये मिथ्यात्वादिक पर्यायें इस जीव-द्रव्यकी हैं, इसप्रकार संबन्ध नहीं बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीव-द्रव्यसे अभेद है । इस प्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीवसे भेद सिद्ध नहीं होता है, तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद ही सिद्ध होता है । इसप्रकार केवल द्रव्यार्थिक नयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादमें पड़े हुए हैं । इसलिये इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके खण्डन करनेके लिये 'तिरिक्खा मिस्सा' इत्यादि प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तुस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था प्राप्त हो जावेगी । तथा जीवाद्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा अभेद), या जीव-द्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा भेद) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीव-अद्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यंच आदि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आ जाती है । और यदि जीव-द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह सत्तासे वस्तुका भेद मान लेने पर वस्तुका सत्तासे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहीं मिलनेसे प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका प्रमाणके अभावमें सद्भाव नहीं बन सकता है ।

शंका—– प्रमाण वस्तुका कारक (उत्पादक) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होनेपर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और उसके बिना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शंका—– यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु-विषयक विधि-प्रतिषेधका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ।

चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरभावासञ्जनात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्त्वित्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्गात् । ततः सिद्धं गुणद्वारेण जीवानां सादृश्यं विशेषरूपेणासादृश्यमिति । गुणस्थानमार्गणासु जीवसमासान्वेषणार्थं

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण सादृश्यासादृश्यप्रतिपादनार्थमाह––

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥३१॥

आदितश्चतुर्षु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैस्त्रिगतिजीवैः समानाः, संयमासंयमेन तिर्यग्भिः ।

तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥

शेषगुणानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिष्वसम्भवाच्छेषगुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति, उपरितनगुणैर्मनुष्याः न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनरकगत्योः

शंका–– यह भी हो जाओ ?

समाधान–– ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि-प्रतिषेधरूप व्यवहार देखा जाता है । इसलिये विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा पूर्वमें कहे हुए संपूर्ण दोष प्राप्त हो जावेंगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके परस्पर समानता है, और विशेष (गुणभेद) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अथवा, गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमासोंके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र रचा गया है ।

अब मनुष्योंकी गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं––

मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर संयतासंयततकके मनुष्य मिश्र हैं ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोंमें जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानोंकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोंके साथ समान हैं और संयमासंयमगुणस्थानकी अपेक्षा तिर्यंचोंके साथ समान हैं ।

पांचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंको छोडकर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके विना अन्य तीन गतियोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योंमें ही संभव हैं । अतः छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके किन्हीं जीवोंके साथ समानता नहीं रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

सादृश्यमसादृश्यं वा किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधसामपि तदवगमोत्पत्तेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥

इन्दनादिन्द्रः आत्मा, तस्येन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्[1] । तद् द्विविधम्, द्रव्येन्द्रियं[2] भावेन्द्रियं[3] चेति । निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्,[4] निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः, कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्यपदिश्यते[5] ।

शंका— देव और नरकगतिके जीवोंकी अन्य गतिके जीवोंके साथ समानता और असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यसंबन्धी प्ररूपणाओंके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनोंको भी देव और नारकियोंकी दूसरी गतिवाले जीवोंके साथ सदृशता और असदृशताका ज्ञान हो जाता है ।

अब इन्द्रियमार्गणामें गुणस्थानोंके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव हैं ॥ ३३ ॥

इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होनेसे यहां इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, और उस इन्द्रके लिंग (चिन्ह) को इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची जावे उसे इन्द्रिय कहते हैं । वह इन्द्रिय दो प्रकारकी है–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । जो निर्वृत्त होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है उसे निर्वृत्ति कहते हैं । बाह्य-निर्वृत्ति और आभ्यन्तर-निर्वृत्तिके भेदसे वह निर्वृत्ति दो प्रकारकी है । उनमें, प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे परिणत हुए लोकप्रमाण अथवा उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं ।

१ इन्दतीति इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिनिमित्तं लिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम् । आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम् । अथवा 'इन्द्र' इति नामकर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति । स. सि. १, १४.

२ जातिनामकर्मोदयसहकारि देहनामकर्मोदयजनितं निर्वृत्त्युपकरणरूपं देहचिन्हं द्रव्येन्द्रियम् । गो. जी., जी. प्र., टी. १६५.

३ भावः चित्परिणामः, तदात्मकमिन्द्रियं भावेन्द्रियम् । गो. जी., जी. प्र., टी. १६५.

४ त. सू. २, १७.   ५ मु. रित्युपदिश्यते । अ. गा. बा. पृ. ९०

सा निर्वृत्तिर्द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां या वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः[1] ।

आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किमु सर्वात्मप्रदेशेषु जायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः ? यदि सर्वात्मप्रदेशेषु, स्वसर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । न प्रतिनियतात्मावयवेषु वृत्तिः,[2] 'सिया ट्ठिया, सिया अट्ठिया, सिया ट्ठियाट्ठिया[3] ' इति वेदनासूत्रतोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति । नैष दोषः,

शंका— जिस प्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, या प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें ? आत्माके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं आ सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर आत्माके संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग आ जायगा । यदि कहा जाय, कि संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांगसे रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता । इसलिये सर्वांगमें तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है । और यदि आत्माके प्रतिनियत अवयवोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति मानी जाय, सो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर 'आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं' इस प्रकार वेदनाप्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोंका भ्रमण अवगत हो जाने पर, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें संपूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियां रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेंगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है । परंतु ऐसा मान लेने पर भी, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें उसके सहकारी कारणरूप बाह्य-निर्वृत्ति जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पाई जाती है ।

१ उत्सेधांगुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । स. सि. २, १७. त. रा. वा. २. १७.

२ मु. वृत्तेः ।

३ वे. वे. सू. ५-७. स्थितास्थितवचनात् । × × तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशाः निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव । केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वप्रदेशाः स्थिता एव । व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानां इतरे प्रदेशाः अस्थिता एव । शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति वचनात् । त. रा. वा. ५. ८. १४.

सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि, तत्सहकारिकारणबाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात् । कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु भ्रमत्सु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति चेन्न, तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवायाभावात् । शरीरेण समवायाभावे मरणमाढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् । पुनः कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीव-प्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतु-कर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य सत्त्वाच्च । द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न

विशेषार्थ— यहां अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतला आये हैं । प्रथम, लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है । दूसरे, उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है । इस प्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतलानेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि स्पर्शन-इन्द्रिय सर्वांग होती है, इसलिये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति भी सर्वांग होगी । इस अपेक्षासे लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचना अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है, यह कथन बन जाता है । और शेष इंद्रियसंबंधी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण बन जाती है । अथवा, ' सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् ' अर्थात् जीवके संपूर्ण अवयवोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है, यहां कहे गये इस वचनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिये पांचों इन्द्रियोंकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति सर्वांग होना संभव है । किंतु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि स्पर्शनेन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्तिको छोड़कर शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंमें ही व्यक्त होती है ।

शंका— कर्मस्कन्धोंके साथ जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके भ्रमण करने पर, जीवप्रदेशोंसे समवायसंबन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोंके समान भ्रमण होना चाहिये ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवायसंबन्ध नहीं रहता है ।

शंका— भ्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशोंका समवायसंबन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आयु-कर्मके क्षयको मरणका कारण माना है ।

शंका— तो जीवप्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान— इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवोंके प्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा ही जाता है । तथा, दो मूर्त पदार्थोंके संबन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेश और शरीर संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्यकी विचित्रतासे यह

भ्रमणमिति किमेष्यत इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति। तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः[1]। मसूरिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्या निर्वृत्तिः। यवनालिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्तिः। अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः। अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा चाङ्गुलस्य

सत्व होता है। और जिसके अनेक प्रकारके कार्य अनुभवमें आते हैं ऐसे कर्मका सत्व पाया ही जाता है।

शंका — द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो?

समाधान — नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये आत्मप्रदेशोंके भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस तरह इन्द्रिय-व्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्मप्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत आकारवाला और नामकर्मके उदयसे अवस्था-विशेषको प्राप्त पुद्गलप्रचय है उसे बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं। मसूरके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण चक्षु इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। यवकी नालीके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण घ्राण-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। अर्ध-चन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। स्पर्शन-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है। वह जघन्य-प्रमाणकी अपेक्षा घनांगुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके (तीन मोड़ेसे-ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनांगुल-प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवोंके शरीरमें पाई जाती है। चक्षु-इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणे श्रोत्र इंद्रियके प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण-इंद्रियके प्रदेश हैं। उनसे असंख्यात गुणे जिह्वा-इन्द्रियमें प्रदेश हैं। और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शन-इन्द्रियमें प्रदेश हैं।

विशेषार्थ — यहां इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिये। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश-प्रदेशोंको रोकती है, उससे

---

१ पाठोऽयं त. रा. वा. २. १७. वा. ३–४ व्याख्यया समानः।

संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः। स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसंस्थाना। सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु, उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुलप्रमिता महामत्स्यादित्रसजीवेषु[1]। सर्वतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येयगुणाः[2]। उक्तं च---

> जव-णालिया मसूरी चंदद्धइमुत्त-फुल्ल-तुल्लाई।
> इंदिय-संठाणाई पस्सं पुण णेय-संठाणं[3] ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम्। बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं शेषेष्विन्द्रियेषु[4] ज्ञेयम्[5]। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[6]। इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः

....

संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोंको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है। उससे विशेष अधिक आकाश-प्रदेशोंको घ्राण-इन्द्रिय व्याप्त करती है। उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर जिह्वा-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोंको व्याप्त कर स्पर्शन इन्द्रिय रहती है। गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'अंगुलअसंखभागं' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि होती है। अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें भी यह क्रम लागू हो सकता है। परंतु राजवार्तिकमें 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए रसना-इन्द्रियसे स्पर्शन-इन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं। यह कथन इन्द्रियोंकी अवगाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक जीवके अवगाहनरूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे संभव ही नहीं हो सकते। संभव है वहां पर बाह्यनिर्वृत्तिके प्रदेशोंकी अपेक्षासे उक्त कथन किया गया हो। कहा भी है---

श्रोत्र-इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु-इन्द्रियका मसूरके समान, रसना-इन्द्रियका आधे चन्द्रमाके समान, घ्राण-इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शन-इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। वह बाह्य-उपकरण और अभ्यन्तर-उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र-इन्द्रियका अभ्यन्तर-उपकरण है, और दोनों पलकें तथा दोनों

....

१ सुहुमणिगोदअप ज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि। अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे॥ गो. जी. १७३.　　२ 'स्पर्शनेऽनंतगुणाः' इति पाठः त. रा. वा. २. १९. ५.

३ प्रा. पं. १, ६६। चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली। अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं॥ गो. जी. १७१　　४ मु. शेषेष्विन्द्रियेषु।

५ पाठोऽयं त. रा. वा. २. १७. वा. ५-७ व्याख्यया समानः।　　६ त. सू. २. १८.

क्षयोपशमविशेषो लब्धिः[1]। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोग[2] इत्यपदिश्यते। तदेतदुभयं भावेन्द्रियम्। उपयोगस्य[3] तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति। तथेन्द्रियनिर्वृत्त

नेत्ररोम (बरोनी) आदि उसके बाह्य-उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये।

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम-विशेष है उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषको लब्धि कहते हैं। और उस पूर्वोक्त निमित्तके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। इसप्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं।

शंका— उपयोग इन्द्रियोंका फल है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कारणमें रहनेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है। अर्थात् कार्य लोकमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है। जैसे, घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञानको घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है।

इन्द्र (आत्मा) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह क्षयोपशममें प्रधानतासे पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित है।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं। उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव हैं। जिनके एक ही इन्द्रिय पाई

---

१ अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। लघी. स्व. वि. १. ५.। गो. जी., जी. प्र., टी. १६५. लम्भनं लब्धिः। कः पुनरसौ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। स. सि. २. १८. इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। त. रा. वा. २. १८. १. स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः। त. श्लो. वा. २. १८. आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। स्या. रत्ना पृ. ३४४.

२ अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। गो. जी., जी. प्र., टी. १६५. उपयोगः पुनः अर्थग्रहणव्यापारः। लघी. स्व. वि. १. ५. यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः। स. सि. २. १८.। त. रा. वा. २. १८. २. उपयोगः प्रणिधानम्। त. भा. २. १९. उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः। स्या. रत्ना. पृ. ३४४.

३ उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः। त. रा. वा. २. १८. ३.

उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते[1]। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रियशब्दार्थः स क्षयोपशमे प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति। तेन इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः, तेन सन्ति एकेन्द्रियाः। एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः। किं तदेकमिन्द्रियम्? स्पर्शनम्। वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात्स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं[2] करणकारके। इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं च भवति। यथा पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशतीति स्पर्शनम्। कोऽस्य विषयः? स्पर्शः। कोऽस्यार्थः? उच्यते, यदा[3] वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा

जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— वह एक इन्द्रिय कौनसी है?

समाधान— वह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयरूप आलम्बनसे जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। यह लक्षण करण-कारककी अपेक्षामें (परतन्त्र विवक्षामें) बनता है। और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृ-साधन होता है। जैसे, पूर्वोक्त साधनोंके रहने पर जो स्पर्श करता है उसे स्पर्शन-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्या है?

समाधान— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय स्पर्श है।

शंका— स्पर्शका क्या अर्थ है? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये?

समाधान— जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं। इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है। तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जाता है। इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी बन जाता है। जैसे, स्पर्शना ही स्पर्श है।

शंका— यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्श व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, उसमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है?

---

१ सम्यर्थोयं त. रा. वा. २. १८. वा. १-३. व्याख्यया समानः।

२ स. सि. २. १९. त. रा. वा. २. १९.

३ 'नैवासतो जन्म सतो न नाशो' बृ. स्व. स्तो. २४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। भग. गी. २. १६.

इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेत्, वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात्। एतस्यां विवक्षायां

स्पृश्यत इति स्पर्शो वस्तु। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्श इति। यद्येवम्, सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति, तत्र तदभावात्? नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि परमाण्वादिष्वस्ति स्पर्शः, स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथानुपपत्तेः। नह्यत्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्ति अतिप्रसङ्गात्। किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति[1]। ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न तस्य सर्वदा अयोग्यत्वाभावात्। परमाणुगतः सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वो-

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्श है, अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। किंतु स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि, न्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यंत (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि सर्वथा असत्‌की उत्पत्ति मानी जावे, तो अतिप्रसंग हो जायगा। (अर्थात् बांझके पुत्र, आकाशके फूल आदि अविद्यमान बातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा) इसलिये यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं, किंतु वे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

शंका—जब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो फिर उसे स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी अयोग्यताका सर्वदा अभाव नहीं है।

शंका—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोंद्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्‌गत धर्मोंको इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होतीं, यह कैसे जाना?

१ प्रकरणोऽयं त. रा. वा. २. २०. १. व्याख्यया समानः।

पलम्भात् । के ते एकेन्द्रियाः ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषां स्पर्शनमेकमेवेन्द्रियमस्ति, न शेषाणीति कथमवगम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एव इति प्रतिपादकार्षोपलम्भात् । क्व तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते—

जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पासिंदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एइंदिओ तेण[1] ॥ १३५ ॥

'वनस्पत्यन्तानामेकम्[2]' इति तत्त्वार्थसूत्राद्वा । अस्यार्थः— [3]अयमन्तशब्दोऽनेकार्थवाचकः— क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तो वसनान्त इति । क्वचित्सामीप्ये, यथा उदकान्तं गत, उदकसमीपं गत इति । क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः, संसारावसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानार्थो वेदितव्यः, वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति । सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? न, वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत 'पृथि-

समाधान— नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आर्ष-वचन पाया जाता है ।

शंका— यह आर्ष-वचन कहां पाया जाता है ?

समाधान— वह आर्ष-वचन यहां कहा जाता है—

क्योंकि, स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है ॥ १३५ ॥

अथवा, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है । कहीं पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, 'वस्त्रान्तः' अर्थात् वस्त्रका अवयव । कहीं पर समीपताके अर्थमें आता है, जैसे 'उदकान्तं गतः' अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर अवसानरूप अर्थमें आता है, जैसे, 'संसारान्तं गतः' अर्थात् संसारके अन्तको प्राप्त हुआ । उनमेंसे यहां पर विवक्षासे अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये— वनस्पत्यन्त जीवोंके अर्थात् वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

शंका— 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इसमें आये हुए अन्त पदका 'वनस्पतिके समीपवर्ती जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है' इस प्रकार सामीप्य-वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते ?

समाधान— यदि 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप

---

१ प्रा. पं. १, ६९.   २ त. सू. २. २२.
३ पाठोऽयं स. रा. वा. २. २२, वा. १–५ व्याख्यया समानः ।

ब्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । अयमन्तशब्दः सम्बन्धि-शब्दत्वात् कांश्चित्पूर्वानपेक्ष्य वर्तते ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽव-गम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिष्वन्यतममेकमिन्द्रियं प्राप्नोत्यविशेषादिति चेन्नैष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः[1] 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि'[2] इत्यत्र प्रथमसमाम्नातवाक्य-माश्रित इति । वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः । के ते ? शंखशुक्तिकृम्यादयः । उक्तं च—

कुक्खिकिमि-सिप्पि-संखा गंडूलारिट्ठ-अक्ख-खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे[1] ॥ १३६ ॥

अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, 'पृथिव्यप्ते-जोवायुवनस्पतित्रसाः' इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं । यह अन्त शब्द संबन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता है, और इससे अर्थवश आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शंका— ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे संख्यावाची है, इसलिये पांच इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये उससे 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन-इन्द्रियका ही ग्रहण होता है ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर, रसना आदि शेष इन्द्रियावरणके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेपर तथा एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होनेपर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वे द्वीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— शंख, शुक्ति और कृमि आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

---

१ मु. वचनम् ।　　　२ त. सू. २. १९.

१ प्रा. पं. १, ७० पाठभेदः उदरान्तर्वर्तिनो हृर्षा (अर्शो) मूलमपानकंडूकराः स्त्रीयोन्यन्तर्गता

के ते द्वे इन्द्रिये इति चेत् ? स्पर्शनरसने। स्पर्शनमुक्तलक्षणम्। भेदविवक्षायां वीर्यान्तरायरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद्रसयत्यनेनेति रसनं करणकारके। इन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यविवक्षायां पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारके भवति। कोऽस्य विषयः ? रसः। कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वेव रसः। एतस्यां विवक्षायां

कुक्षि-कृमि अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शंख, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली बड़ी कृमि, अरिष्ट नामक एक जीवविशेष, अक्ष अर्थात् चन्दनक नामका जलचर जीवविशेष, क्षुल्लक अर्थात् छोटा शंख और कौडी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका—— वे दो इन्द्रियां कौनसी हैं ?

समाधान——स्पर्शन और रसना। उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं। अब रसना-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं——

भेद-विवक्षाकी प्रधानता अर्थात् करणकारककी विवक्षा होनेपर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्वादका ग्रहण होता है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं। तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विवक्षामें पूर्वोक्त साधनोंके मिलनेपर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—— रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—— इस इन्द्रियका विषय रस है।

शंका—— रस शब्दका क्या अर्थ है ?

या जीवाः कुक्षिकृमयः। गण्डोलका उदरान्तर्बृहत्कृमयः। जलचरजीवविशेषाः चन्दनकाः, ते तु समयभाषयाऽ-क्षत्वेन प्रतीताः। वराटकः कपर्दकः, कौडीति भाषायाम्। (ग्रन्थान्तरेषु निम्नांकितनामानो जीवा अपि द्वीन्द्रियत्वेन प्रसिद्धाः) संख-कवड्डय-गंडोल-जलोय-चंदणग-अलस-लहगाई। मेहर-किमि-पूयरगा बेइंदिय माइवाहाई। जलोय-जलौकसः। अलसा भूनागाः, येऽश्लेषाख्ये भानौ जलवृष्टौ सत्यां समुत्पद्यन्ते। लहको जीवविशेषो विषयप्रसिद्धः (उषिताद्योत्पन्नजीवः, देशीशब्दोऽयं) मेहरकः काष्ठकीटविशेषः। पूयरगा-पूतरा जलान्तर्वर्तिनो रक्तवर्णाः कृष्णमुखाः जीवाः। माइवाही-मातृवाहिका गुर्जरदेशप्रसिद्धा चूडेलीति आदिग्रहणा-दीलिकादयोऽनुक्ता अपि द्वीन्द्रियाः ग्राह्याः। जी. वि. प्र. पृ. १०. किमिणो सोमंगला चेव अलसा माइवाहया। वासीमुहा य सिप्पिया संख संखणगा तहा ॥ पल्लोयाणुल्लया चेव तहेव य वराडगा। जलूगा चेव चन्दणा य तहेव य ॥ उत्त. ३६. १२९--१३०. से किं तं बेइंदिया ? बेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा, पुलाकिमिया, कुच्छिकिमिया, गंडूयलगा, गोलोमा, णउरा, सोमंगलगा, वंसीमुहा, सूइमुहा गोजलोया, जलोया, जालाउया, संखा, संखणगा, घुल्ला, खुल्ला, गुलया, खंधा, वराडा, सोत्तिया, मुत्तिया, कलुयावासा, एगओवत्ता, दुहओवत्ता, नंदियावत्ता, संबुक्का, माइवाहा, सिप्पिसंपुडा, चंदणा, समुद्दलिक्खा, जे यावन्ने तहप्पगारा। प्रज्ञा. १. ४४,

कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति। न सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु रसाभावः, उक्तोत्तरत्वात्। कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेत्, वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति[1] शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। के ते? कुन्थुमत्कुणादयः[2]। उक्तं च–

समाधान— जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है। इस विवक्षामें रसके कर्मसाधनपना है। जैसे, जो चखा जाय वह रस है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है। इस प्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है। जैसे, आस्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं। सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं।

शंका— स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मका आलम्बन होनेपर तथा द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता होनेपर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— वे तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान— कुन्थु और खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

---

१ प्रबन्धोऽयं त. रा. वा. २. १९–२०, वा. १–१ व्याख्याभ्यां समानः।

२ से किं तं तेइंदिय-संसार-समावन्न-जीवपन्नवणा? तेइंदिय संसारसमावन्न-जीवपन्नवणा अणेगविहा पन्नत्ता। तं जहा, ओवइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्दंसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पाडा, तणाहारा, कट्ठाहारा, मालुया, पत्ताहारा, तणबेंटिया, पत्तबेंटिया, पुप्फबेंटिया, फलबेंटिया बीयबेंटिया, तेबुरणमिंजिया, तओसिमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, किंगिरिडा, बाहुया, लहुया, सुभगा, सोवत्थिया, सुयबेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुंबगा, कुच्छलवाहगा, जूया, हालाहला,

कुंथु-पिपीलिक मंकुण-विच्छिअ-जू इंदगोव-गोम्ही य ।
उत्तिगणट्टियादी[1] णेया तीइंदिया जीवा[2] ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणीन्द्रियाणीति चेत्? स्पर्शनरसनघ्राणानि । स्पर्शनरसने उक्त-लक्षणे । किं घ्राणमिति चेत् करणसाधनं घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् । ततो वीर्यान्तरायघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु

कुन्थु, पिपीलिका, खटमल, बिच्छू, जूं, इन्द्रगोप, कनखजूरा, गर्दभाकार कीटविशेष तथा नट्टियादिक कीटविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३७ ॥

शंका— वे तीन इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं । इनमेंसे स्पर्शन और रसनाका लक्षण कह आये । अब घ्राण-इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका— घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान— घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामें इन्द्रियोंके करण-साधन होता है । इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूंघा जाता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं । अथवा, इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है; यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलनेपर जो सूंघता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं ।

पिसूया, सयवाइया, गोम्ही, हत्थिसोंडा, जे यावण्णे तहप्पगारा । प्रज्ञा. १, ४५.

१ मू. उत्तिरंगणट्टियादी ? णेया ।

२ प्रा. पं. १, ७१। कुंथुपिपीलिके प्रतीते । मत्कुणवृश्चिकयूकेन्द्रगोपाश्चापि प्रसिद्धा एव । गोमीति गुल्मिः कर्णशृगाली (कनखजूरा इति हिन्दीभाषायाम्) विशेषपरिज्ञानाभावेऽपि त्रीन्द्रियजीवा उल्लिख्यन्ते । गोमीमंकुणजूआपिपीलिउद्देहिया य मक्कोडा । इल्लियघयमिल्लीओ सावय गोकीडजाईओ ॥ गद्दहयचोरकीडागोमयकीडा य धन्नकीडा य । कुंथु गु (गो) वालिय इलिया तेइंदिय इंदगोवाई ॥ उद्देहिका-उपदेहिका वाल्मीक्यः । इल्लिका धान्यादिषूत्पन्नाः । 'घयमिल्लि' त्ति घृतेलिकाः । 'सावयेति' लोकभाषया सावा, ते मनुष्याणामशुभोदर्कतः प्राग् भाविनि कष्टे शरीरकेशेषूत्पद्यन्ते । गोकीटकाः प्रतीता एव । जातिग्रहणेन सर्वतिरश्चां कर्णावयवेषूत्पन्नाश्च जम्बूकचिच्चडादयो ग्राह्याः । गद्दहय-गर्दभकाः (गोशालोत्पन्नजन्तवः) चोरकीटाः, (विष्टोत्पन्नजन्तवः) गोमयकीटाश्छगणोत्पन्नाः । धान्यकीटा घुणत्वेन प्रसिद्धाः । शेषाश्च स्वनामसिद्धाः । जी. वि. प्र. पृ. ११. कुंथुपिवीलिउड्डंसा उक्कलुद्देहिया तहा । तणहारकट्ठहारा य मालुगा पत्तहारगा ॥ कप्पासट्ठिमि जायंति दुगा तउसमिजगा । सदावरी य गुम्मी य बोधव्वा इन्दगाइया ॥ इन्दगोवगमाईया णेगहा एवमायओ । उत्त. ३६, १३८-१४०.

शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति जिघ्रतीति घ्राणम्। कोऽस्य विषयः? गन्धः। अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः। कुतः? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति। एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, गन्ध्यत इति गन्धो वस्तु। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धनं गन्ध इति। कुत एतेषामुत्पत्तिरिति चेत्? वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति[1]।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। के ते? मशकमक्षिकादयः[2]। उक्तं च—

शंका— घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या है?

समाधान— इस इन्द्रियका विषय गन्ध है।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन समझना चाहिये। जैसे, 'जो सूंघा जाय' इस प्रकारकी निरुक्ति करनेपर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है। इस तरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है। जैसे सूंघनेरूप क्रियाधर्मको गन्ध कहते हैं।

शंका— इन तीनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होनेपर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

जिनके चार इन्द्रियां पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं।

शंका— वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान— मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

---

१ ग्रन्थोऽयं त. रा. वा. २. १९-२०, वा. १-१ व्याख्याभ्यां समानः।

२ से किं तं चउरिंदिय-संसारसमावन्न-जीवपन्नवणा? २ अणेगविहा पन्नत्ता। तं जहा, अंधिय-पत्तिय-मच्छिय-मसगा कीडे तहा पयंगे य। ढंकुण-कुक्कड-कुक्कुह-नंदावत्ते य सिंगिरडे॥ किण्हपत्ता, नीलपत्ता, लोहियपत्ता, हालिद्दपत्ता, सुक्किल्लपत्ता, चित्तपक्खा, विचित्तपक्खा, ओहंजलिया, जलचारिया, गंभीरा,

मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पदंगा य सलह-गोमच्छी ।

मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा[1] ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्वारीन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि । स्पर्शनरसनघ्राणानि उक्तलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा-करणसाधनं चक्षुः । कुतः? चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । यथानेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तरायचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाच्चष्टेरने-[2]कार्थत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । कर्तृसाधनं च[3] भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा दृश्यते च, यथेदं[4] मेऽक्षि

मकड़ी, भौंरा, मधु-मक्खी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमक्खी, मक्खी, और डंशसे डसनेवाले कीड़ोंको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शंका— वे चार इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां हैं । इनमेंसे स्पर्शन, रसना और घ्राणके लक्षण कह आये । अब चक्षु-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । वह इस प्रकार है-चक्षु-इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूं, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूं । इसलिये वीर्यान्तराय और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्मके उदयके लाभसे 'चक्षिङ्' धातु अनेकार्थक होनेसे यहां पर दर्शनरूप अर्थकी विवक्षा होनेपर 'जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है-वह चक्षु है । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें चक्षु इन्द्रियके कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी लोकमें स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं ।

चौरिंदिया, अंधिया, पोत्तिया, मच्छिया, मसगा, कीडा, पयंगा, ढंकुणा, कुक्कडा, कुक्कुहा, णंदावत्ता, बिच्छुया, डोला, भिंगिरीडा, विरली, अच्छिवेहा, अच्छिला, माहया, अच्छिरोडा, विचित्ता, चित्तपक्खा, ओहिंजलिया, जलकारी, णीया, तंतवा, अच्छिरोडा, अच्छिवेहा, सारंगा, नेउरा, दोला, भमरा, भरिली, जरुला, तोट्टा, बिंछुया, पत्तविच्छुया, छाणविच्छुया, जलविच्छुया, पियंगाला, कणगा, गोमयकीडा, जे यावन्ने तहप्पगारा । प्रज्ञा. १. ४६.

१ प्रा. पं. १, ७२ पाठभेदः अंधिया पोत्तिया चेव मच्छिया मसगा तहा । भमरे कीडपयंगे य ढंकुणे उक्कुडो तहा ॥ कुक्कुडे भिंगिरीडी य नंदावत्ते य विच्छुए । डोले भिंगारी य विरली अच्छिवेहए ॥ अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्ते चित्तपत्तए । उहिंजलिया जलकारी य नीया तंतवगाइया ॥ इय चउरिंदिया एएऽणेगहा एवमायओ ॥ उत्त. ३६, १४७, १५०.

२ मु. वष्टम्भाच्चक्षुः । अनेकार्थं । ३ मु. चक्षुषः कर्तृसाधनं च ।

४ मु. विवक्षा च दृश्यते यथेदं ।

सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति चष्ट इति चक्षुः। कोऽस्य विषय इति चेद्वर्णः। अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः। यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः सन्तीत्येतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः। कुत एतेषामुत्पत्तिश्चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्[1]।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः। के ते? जरायुजाण्डजादयः। उक्तं च—

शंका— इस इन्द्रियका विषय क्या है।

समाधान— वर्ण इस इन्द्रियका विषय है। यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है। जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्यायें नहीं पाई जाती हैं। इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन जाना जाता है। उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करनी चाहिये। तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है। उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है।

शंका— इन चारों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम, शेष इन्द्रियावरण सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आलम्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होनेपर चार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है।

जिनके पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं।

शंका— ये पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं?

समाधान— जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव हैं। कहा भी है—

स्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपादिक, रसज, पोत, अंडज और जरायुज, ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये॥ १३९॥

---

१ सन्दर्भोऽयं त. रा. वा. २. १९–२० वा. १–१. व्याख्याभ्यां समानः।

संसेदिम[1]-सम्मुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया[2] चेव।
रस-पोतंडजजरजा[3] पंचिंदिया जीवा[4] ॥ १३९ ॥

कानि तानि पञ्चापीन्द्रियाणीति[5] चेत्? स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। इमानि स्पर्शनादीनि करणसाधनानि। कुतः? पारतन्त्र्यात्। इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पारतन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्ग-नामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्। दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति शृणोतीति श्रोत्रम्। कोऽस्य विषयः? शब्दः। यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य

शंका—— वे पांचोंही इन्द्रियां कौन कौन हैं?

समाधान—— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। ये स्पर्शनादिक इन्द्रियां करण-साधन हैं, क्योंकि, वे परतन्त्र देखी जाती हैं। लोकमें आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होनेपर इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है। जैसे, मैं इस आंखसे अच्छी तरह देखता हूं, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूं। इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं। तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है। जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—— इसका विषय क्या है?

समाधान—— शब्द इसका विषय है। जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज

---

१ मु. सस्सेदिम। २ अ. ब. प्रतौ ओपमादिया चेव।

३ मु. रस. पोदंडजरायुज।

४ प्रा. पं. १, ७३ पाठभेदः से. बेमि संतिमे तसा पाणा, तं जहा, अंडया पोयया जराउआ रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चइ। आचा. सू. ४९. उपेत्योपपद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। त. रा. वा. पृ. ९८. उपपाताज्जाता उपपातजाः। अथवा उपपाते भवा औपपातिका देवा नारकाश्च। आचा. नि. पृ. ६३. सम्पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः। शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाताः अंडजाः। जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं जरायुः, जरायौ जाताः जरायुजाः। त. रा. वा. पृ. १००, १०१. ५ मु. पञ्चेन्द्रियाणीति।

शब्द्यत इति, शब्द्यत इति शब्दः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनः[1] शब्दः, शब्दनं शब्द इति[2] । कुत एतेषामाविर्भाव इति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरण-क्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्[3] । नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति' इति भावसूत्रेण सह विरोधात् । ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजाति-नामकर्मोदयात् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनाम-कर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽर्थोऽत्र प्रधानम्, निरवद्यत्वात् ।

नहीं है । इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है । जैसे, 'शब्द्यते' अर्थात् जो ध्वनिरूप हो वह शब्द है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है । जैसे, 'शब्दनम् शब्दः' अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्मको शब्द कहते हैं ।

शंका— इन पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है । फिर भी वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं, यह व्याख्यान यहां पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, 'एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं' भावानुगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है । इसलिये एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि, यह कथन निर्दोष है ।

जिनके इन्द्रियां नहीं पाई जातीं हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वे कौन हैं ?

---

१ मु. साधनं । २ ग्रन्थोऽयं त. रा. वा. २. १९-२० वा. १-१ व्याख्याभ्यां समानः ।
३ म. भवेदिति ।

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः। के ते? अशरीराः सिद्धाः। उक्तं च—

ण वि इंदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे।
मार्गदर्शक :- णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंत-णाण-सुहा[1] ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशम-जनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात्।

एकेन्द्रियविकल्पप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रियाः द्विविधाः– बादराः सूक्ष्मा इति। बादरशब्दः स्थूलपर्यायः, स्थूलत्वं चानियतम् ततो न ज्ञायते के स्थूला इति। चक्षुर्ग्राह्यास्चेन्न, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां सूक्ष्मतापत्तेः[2]। अचक्षुर्ग्राह्याणामपि बादरत्वे सूक्ष्मबादराणामविशेषः स्यादिति चेन्न,

---

समाधान— शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं। कहा भी है—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं। उनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय हैं ॥ १४० ॥

शंका— उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे इन्द्रियसहित हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं। परंतु जिनके संपूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वह क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है।

अब एकेन्द्रिय जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं।

शंका— बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची है, और स्थूलता नियत नहीं है, इसलिये यह मालूम नहीं पड़ता है, कि कौन कौन जीव स्थूल हैं। जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर, जो

---

१ प्रा. पं. १, ७४। गो. जी. १७४. १ सूक्ष्मतोपपत्तेः।

आर्षस्वरूपानवगमात्। बादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपि तु बादरनाम्नः कर्मणो

वाचकः। तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि बादरः। शरीरस्य स्थौल्यनिर्वर्तकं कर्म बादरमुच्यते। सौक्ष्म्यनिर्वर्तकं कर्म सूक्ष्मम्[1]। तथा च चक्षुषाऽग्राह्यं[2] सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्यं बादरमिति सद्भूतो तद्व्यपदेशो हठादास्कन्देत्। ततश्चक्षुर्ग्राह्या बादराः, अचक्षुर्ग्राह्याः सूक्ष्मा[3] इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतेदन्यथा[4] तेषामविशेषतापत्तेरिति चेन्न स्थूलाश्च भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात्? सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं बादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च बादराः। ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्वी, सर्व-

स्थूल जीव चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्मपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है। और जिनका चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवोंकोभी बादर मान लेनेपर सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आशंका आर्षके स्वरूपकी अनभिज्ञताकी द्योतक है। यह बादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची नहीं है, किंतु बादर नामक नामकर्मका वाचक है, इसलिये उस बादर नामकर्मके उदयके संबन्धसे जीव भी बादर कहा जाता है।

शंका— शरीरकी स्थूलताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको बादर और सूक्ष्मताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको सूक्ष्म कहते हैं। ऐसी अवस्थामें जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह बादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और बादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और बादर शरीरसे युक्त जीवोंको सूक्ष्म और बादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षुसे ग्राह्य हैं वे बादर हैं, और जो चक्षुसे अग्राह्य हैं वे सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म और बादर जीवोंके इन पूर्वोक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो जाता है। यदि पूर्वोक्त लक्षण न माने जायं, तो सूक्ष्म और बादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों, इस कथनमें क्या विरोध है।

शंका— सूक्ष्म जीव शरीरसे असंख्यातगुणी अधिक अवगाहनाले शरीरको बादर कहते हैं. और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे बादर कहते हैं। अथवा, बादर शरीरसे असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते है और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे सूक्ष्म कहते हैं?

१ यदुदयादन्यबाधाकरशरीरं भवति तद् बादरनाम। सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। गो. क., जी. प्र., टी. ३३. स. सि. ८-११. २ मु. तथापि चक्षुषोऽग्राह्यं।

३ यदुदयाद् जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद् बादरनाम, पृथीव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि बादरत्वपरिणामविशेषाद् बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति। तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति। क. प्र. पृ. ३.

४ मु. समापतद।

जघन्यबादराङ्गात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्मशरीरस्यासंख्येगुणत्वतोऽनेकान्तात् । ततो बादरकर्मोदयवन्तो बादराः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तो सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयोः कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेत्? मूर्तैरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तको बादरकर्मोदयः, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः[1]। सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्यैर्न मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तत्प्रतिघातः[2] सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मोदयतः प्राप्तबादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः। अस्तु चेन्न, सूक्ष्मबादरकर्मोदययोरविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायकः सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न,

समाधान— यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य बादर शरीरसे सूक्ष्म नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे उक्त कथनमें अनेकान्त दोष आता है। इसलिये जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे बादर हैं, और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मके उदय और बादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है?

समाधान— बादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है। और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है। यही उन दोनोंमें भेद है।

शंका— सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म संज्ञाको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और बादर नामकर्मके उदयसे बादर संज्ञाको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी।

शंका— आजाने दो?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयमें फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमें भेद है?

१ बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा। घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ गो. जी. १८३

२ मु. तत्प्रतिघातः

तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य बादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात्। तत्कुतोऽवसीयत इति चेद्वेदनाक्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा—

'सव्वत्थोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा। सुहुम-वाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बादरवाउ-बादरतेउ-बादरआउ-बादरपुढवि-बादरणिगोदजीव-[1]बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । सुहुम-णिगोदपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । सुहुमवाउकाइय-सुहुमतेउकाइय-सुहुमआउकाइय-सुहुमपुढविकाइय-

---

समाधान— नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और बादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— वेदना नामक चौथे खण्डागमके क्षेत्रानुयोगद्वारसंबन्धी सूत्रोंसे जाना जाता है । वे इस प्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोक (थोड़ी) है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिविकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे बादर वायुकायिक, बादर अग्निकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादरनिगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष

---

१ बादरणिगोदपदिट्ठिदपज्जत्ता किमिदि सुत्तम्हि ण वुत्ता ? ण, तेसिं पत्तेयसरीरेसु अंतब्भावादो । धवला अ. पृ. २५०.

पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया। तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया। बादरवाउकाइय-बादरतेउकाइय-बादरआउकाइय-बादरपुढविकाइय-बादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया। तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया। बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरपज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। बेइंदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा। तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-पज्जत्तयस्स जहण्णिया ओगाहणा संखेज्जगुणा। तेइंदिय-चउरिंदिय-बेइंदिय-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा। तेइंदिय-चउरिंदिय-बेइंदिय-बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिंदिय पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा[1] त्ति।

परैर्मूर्तद्रव्यैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मकर्म। तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तकं बादरकर्मेति स्थितम्। तत्र बादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति।

अधिक है। इसी तरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अग्निकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिक संबन्धी प्रत्येकको क्रमसे, पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये। इसी तरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायुकायिक, उससे बादर अग्निकायिक, उससे बादर जलकायिक उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसंबन्धी प्रत्येकको क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये। सप्रतिष्ठित प्रत्येककी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है। पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है। पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला बादर नामकर्म है।

१ मु. तस्सेव पज्जत्तयस्स वि. संखेज्जगुणा.

पर्याप्तकर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः। तदुदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्त-नामकर्मोदयसहचाराद्वा। यदि पर्याप्तशब्दो निष्पत्तिवाचकः, कैस्ते निष्पन्ना इति चेत्पर्याप्तिभिः। कियत्यस्ता इति चेत्सामान्येन षड् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः शरीर-पर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते- शरीरनामकर्मोदयात् पुद्‌गलविपाकिन आहार-वर्गणागतपुद्‌गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्म-

---

विशेषार्थ--- यहां जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्ततक जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्रम बतला आये हैं, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना बादरोंसे भी अधिक होती है। इसलिये छोटी बड़ी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे सप्रतिघात और अप्रतिघातवाले शरीरको बादर और सूक्ष्म कहते हैं। तथा यहां जो वेदनाखण्डके सूत्र उद्‌धृत किये हैं उनमें सप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित बादर वनस्पतिका स्थान स्वतंत्र माना है। फिर भी यहां 'सव्वत्थोवा' इत्यादि उद्‌धृत सूत्रमें सप्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें अन्तर्भूत करके सप्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतन्त्र स्थान नहीं बतलाया है।

इनमें, बादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। उनमेंसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

शंका--- पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है।

शंका--- यदि पर्याप्त शब्द निष्पत्ति वाचक है तो यह बतलाइये कि ये पर्याप्तजीव किनसे निष्पन्न होते हैं।

समाधान--- पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं।

शंका--- ये पर्याप्तियां कितनी हैं ?

समाधान--- सामान्यकी अपेक्षा छह हैं-- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। इनमेंसे, पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते हैं- शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके संबन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्‌गलविपाकी आहारवर्गणासंबन्धी

स्कन्धसम्बन्धतो मर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति । तेषामुपगतानां पुद्गल-

स्कन्धानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः । सा च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयेनैकेनैवोपजायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात् । शरीरोपादानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत् । तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसा-शुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमनशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । योग्यदेशस्थितरूपादि-विशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते । न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषय-विज्ञानमुत्पद्यते, तदा तदुपकरणाभावात् । उच्छ्वासनिस्सारणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्त-पुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः । एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत् । भाषावर्गणायाः स्कन्धानुचतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गल-

---

पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्धके संबन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे संबन्धको प्राप्त होते हैं, उनको खल और रसभाग पर्यायरूप परिणमन करनेरूप शक्तिको निमित्त-भूत आगत पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं । वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाथ उस प्रकारका परिणाम नहीं हो सकता है । शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । तिलकी खलीके समान उस खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तैलके समान रसभागको रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । परंतु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है । उच्छ्वास और निःश्वास-

---

१ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिराहारपर्याप्तिः ।

२ आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते × × × आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगता-वेवोत्पद्यते नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात् । तत एकसामयिकी आहारपर्याप्तिनिर्वृत्तिः । नं. सू. १७ टी.

३ मु. परिणाम

४ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः ।

५ विशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ।

६ मु. निःसरण

७ मु. स्कंधाच्चतु

८ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः ।

प्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहुर्तादुपजायते । मनोवर्गणास्कन्ध-निष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः[1] । एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण, जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् । निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण[2] । एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः[1]।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात् । यत आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायूंषि[3] इति । भवन्त्विन्द्रिया-युष्कायाः प्राणव्यपदेशभाजः, आजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात् ।

रूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अनन्तर एक अन्तर्मूहूर्त काल व्यतीत होनेपर पूर्ण होती है । भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मूहूर्तमें पूर्ण होती है। अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मनःपर्याप्ति कहते हैं। इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि, जन्म-समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परंतु पूर्णता क्रमसे होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं ।

शंका—– पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वतके समान भेद पाया जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णताके कारणको पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनोंमें भेद है। वे प्राण पांच इन्द्रियां मनोबल, वचनबल, कायबल, आनापान और आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं ।

शंका—– पांचों इन्द्रियां आयु और कायबल ये प्राण संज्ञाको प्राप्त होवें, क्योंकि, वे जन्मसे लेकर मरणतक भव (पर्याय) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और उनमेंसे किसी एकके अभाव होनेपर मरण भी देखा जाता है । परंतु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि, इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है ?

---

१ गो. जी. गा. ११९. नं. सू. १७. अनयोष्टीका विशेषानुसन्धानाय द्रष्टव्या । मु. मनःपर्याप्तिः (द्रव्यमनोवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा ।) एतासां

२ पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं तु कमेण होदि णिट्ठवणं । अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ गो. जी. १२०.　३ गो. जी. १२९ टीकानुसन्धेया ।

तन्नैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरणसंदर्शनाच्च । अपि तदुच्छ्वासमनोवचसां न प्राण-व्यपदेशो युज्यते, तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तावस्थायां जीवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वाविरोधात् । उक्तं च—

बाहिर-पाणेहि जहा तहेव अब्भतरेहि पाणेहि ।
जीवंति जेहि जीवा पाणा ते होंति बोद्धव्वा[1] ॥ १४१ ॥

पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तिकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात् । तत्पर्याप्तयोऽप्यपर्याप्तकाले न सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, अपर्याप्तरूपेण तत्र तासां सत्त्वात् । किमपर्याप्तरूपमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं

समाधान— नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके बिना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिस प्रकार नेत्रोंका खोलना, बन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणोंसे जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका— पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहनेमात्रमें विवाद है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्ति कालमें नहीं पाये जानेसे पर्याप्ति और प्राणमें भेद समझना चाहिये ।

शंका— वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्त कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्तरूपसे उनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— अपर्याप्तरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

१ प्रा. पं. १,४५ । गो. जी. १२९. तत्र 'जीवंति' इति स्थाने 'प्राणंति' इति पाठः । पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः । तन्निमित्तभूतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमादिविजृंभितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणाः । जी. प्र. टी.

पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः[1]।

एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तर-सूत्रमाह—

बीइंदिया दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । तीइंदिया दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । चउरिंदिया दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । पंचिंदिया दुविहा–सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता । असण्णी दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तभयात्पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते । अथ स्यादेतस्य एतावन्त्येवेन्द्रियाणीति कथमवगम्यते इति चेन्न, आर्षात्तदवगतेः । किं तदार्षमिति चेदुच्यते—

समाधान—पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिये पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है । अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं । इस प्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये ।

इस प्रकार एकेन्द्रियोंके भेद प्रभेदोंका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक । त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक । चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक । पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं– संज्ञी और असंज्ञी । संज्ञी जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक । असंज्ञी जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्तक और अपर्याप्तक ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्त दूषणके भयसे फिरसे यहां नहीं कहते हैं ।

शंका—इस जीवके इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आर्षसे इस बातको जाना ।

शंका—वह आगम कौनसा है ?

---

१ आहारभाषामनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागशरीरावयवरूपद्रव्येन्द्रियरूपोच्छ्वासनिश्वासरूपभाषारूपद्रव्यमनोरूपपरिणमनकारणात्मकशक्तिनिष्पत्तयः पर्याप्तयः, स्वार्थग्रहणव्यापारकायवाग्व्यापारोच्छ्वासनिश्वासप्रवृत्तिभवधारणरूपजीवद्व्यवहारकारणात्मशक्तिविशेषाः प्राणा इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्पर्याप्तिप्राणयोर्भेदप्रसिद्धेः ॥ गो. जी., मं. प्र., टी. १३१.

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चि य होइ सेस-जीवाणं ।
होंति कम-वड्ढियाइं जिब्भा-घाणक्खि-सोत्ताइं[1] ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ—उच्यते स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति[2], स्पर्शनरसने द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षूंषि चतुरिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[3] ' इति अस्मात्तत्त्वार्थसूत्राद्वावसीयते । अस्यार्थ उच्यते— एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि । ' वनस्पत्यन्तानामेकम् ' इत्येतस्मात्सूत्रात्स्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसंबध्यते—स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम् तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति[4] ।

समनस्काः संज्ञिनः, अमनस्का असंज्ञिन इति[5] । मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो

समाधान—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके क्रमसे बढ़ती हुई जिह्वा, घ्राण, अक्षि और श्रोत्र इन्द्रियां होती हैं ॥ १४२ ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं— एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां, त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां और पंचेन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां होती हैं । अथवा तत्त्वार्थसूत्रके कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जीवके कितनी इन्द्रियां होती हैं । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रियका बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढ़ते हुए क्रमरूप पांच इन्द्रियां होती हैं । ' वनस्पत्यन्तानामेकम् ' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनाके साथ घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं । मन दो प्रकारका है— द्रव्यमन और भावमन । उनमें पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । तथा

---

१ प्रा. पं. १, ६७ । गो. जी. १६७. २ वनस्पत्यन्तानामेकम् । त. सू. २. २२.
३ त. सू. २. २३. ४ पाठोऽयं त. रा. वा. २. २३. वा. २-४ व्याख्यया समानः ।
५ सू. समनस्काः संज्ञिन इति ।

भावमन इति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः[1]। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः[2]। तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। पर्याप्तिनिरूपणतस्तदस्तित्वं[3] सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः। न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वम् योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात्। ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम्। मनस इन्द्रियव्यपदेशः किन्न कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य

वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे आत्मामें जो विशुद्धि पैदा होती है वह भावमन है।

शंका— जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंकी तरह भावमनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा जिसके द्रव्यका ग्रहण नहीं होता ऐसे मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार कर लेनेपर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा।

शंका— पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी निष्पत्तिको पर्याप्ति संज्ञा होनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है। बाह्य पदार्थोंको स्मरणकी शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है। अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है यह सिद्ध होता है।

शंका— मनको इन्द्रिय संज्ञा क्यों नही दी गई ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। जिसके

---

१ स. सि. २. ११। त. रा. वा. २. ११. द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानस्याभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्। स. सि. ५. १९.। त. रा. वा. ५. १९.

२ स. सि. २. ११। त. रा. वा. २. ११, भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात्पौद्गलिकम्। स. सि. ५. १९। त. रा. वा. ५. १९. ३ प्र. निरूपणात्तदस्तित्वं।

लिङ्गमिन्द्रियम्[1]। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्र-व्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते[2]। न च मनः[3] उपयोगोपकरणमस्ति। द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति चेन्न, शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः[4]। अथ स्यादर्थालोकमनस्कार-चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते, तस्य कथममनस्केष्वाविर्भाव इति नैष दोषः, भिन्नजातित्वात्।

इन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्ताप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे[5] ॥ ३६ ॥

कर्मोंका संबन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके संबन्धसे इन्द्र संज्ञाको धारण करता है, परंतु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते हैं। परंतु मन उपयोगका उपकरण नहीं है, इसलिये मनको इन्द्रिय संज्ञा नहीं दी गई।

शंका— उपयोगका उपकरण [illegible] है

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता है उस प्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं।

शंका— पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप-ज्ञान समनस्क जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है। परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप-ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप-ज्ञानसे अमनस्क जीवोंका रूप-ज्ञान भिन्न जातीय है।

अब इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

१ स. सि. १, १४.

२ इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्यार्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रिय-मित्युच्यते। त. रा. वा. १. १४. १. ३ मु. मनसः।

४ स. सि. १. १४। त. रा. वा. १. १४. २. अनयोऽर्थोऽस्या विशेषपरिज्ञानायानुसन्धेयः।

५ इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। स. सि १. ८. २ अ. ब. प्रतौ मिच्छाइट्ठिणो ॥

एकस्मिन्नेवेति विशेषणं द्व्यादिसंख्यानिराकरणार्थम्। शेषगुणस्थाननिरसनार्थं मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि, तं कधं घडदे ? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो[1]। विरुद्धत्थाणं कधं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि ण, दोण्हं एक्कदरस्स सुत्तत्तादो[2]। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कधं णव्वदि? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावादो दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेंतो संसय-मिच्छाइट्ठी होदि त्ति, तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उत्तं च–

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो[3] ॥ १४३ ॥

दो, तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें एक पदका ग्रहण किया है। तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिथ्यादृष्टि पदका ग्रहण किया है।

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस खंडागम-सूत्रमें उनके सासादन गुणस्थानका निषेध है।

शंका— जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है।

शंका— दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है, और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— उपदेशके विना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका— दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्रकथित ही है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है—

सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जानेपरभी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

१ येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते × × स. सि. १. ८. जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पज्जंती ति भणंति तेसिमहिप्पाएण बारहचोद्दसभागा देसूणा उववादफोसणं होदि, एदं पि वक्खाणं संतदव्वसुत्तविरुद्धं ति ण घेत्तव्वं। धवला अ. पृ. २६७. २ अ. क. सुत्तादो।

३ गो. जी. २९.

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

पंचिंदिया असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानसंख्यामप्रतिपाद्य किमिति असंज्ञिप्रभृतयः पञ्चेन्द्रिया इति प्रतिपादितमिति चेन्नैष दोषः, असंज्ञादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहितेऽपि पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्तावगतेः। अथ स्यादसंज्ञ्यादयोऽयोगि-केवलिपर्यन्ताः किमु पञ्चद्रव्येन्द्रियवन्त उत भावेन्द्रियवन्त इति ? न तावदाद्यविकल्पः, अपर्याप्तजीवैर्व्यभिचारात्। न द्वितीयविकल्पः, केवलिभिर्व्यभिचारादिति ? नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। न पूर्वोक्तदोषोऽपि, केवलिनां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां प्रहतबाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वा-

पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका— पंचेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंज्ञी आदिक पंचेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंज्ञीको आदि लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त पंचेन्द्रिय जीव होते हैं, ऐसा कथन कर देनेपरही पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका ज्ञान हो जाता है।

शंका— असंज्ञीसे लेकर अयोगिकेवलीतक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं यह ठीक है, परंतु वे क्या पांच द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त होते हैं या पांच भावेन्द्रियोंसे युक्त होते हैं ? इनमें से प्रथम विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् अपर्याप्त जीव पंचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रियां नहीं पाई जातीं, इसलिये व्यभिचार दोष आता है। इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर केवलियोंसे व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् केवली पंचेन्द्रिय होते हुए भी उनके भावेन्द्रियां नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार दोष आता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहांपर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पंचेन्द्रियपना स्वीकार किया है। और ऐसा मान लेनेपर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रियां समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी (छद्मस्थ अवस्थामें) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके

१ पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति। स. सि. १. ८.

पेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चेन्नैष दोषः, मन्दमेधसामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेदं व्याख्यानं समीचीनम् दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । किमपरं व्याख्यानमिति चेदुच्यते । एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। समस्ति च केवलिनामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः । निरवद्यत्वाद् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम् । पञ्चेन्द्रियजातिरिति किं ? यस्याः पारापतादयो जातिविशेषाः, समानप्रत्ययग्राह्याः सा पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य सहकारित्वमादधाना ।

अतीन्द्रियजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

तेण परमणिंदिया इदि ॥ ३८ ॥

सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे उन्हें पंचेन्द्रिय कहा है ।

शंका--- सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु-स्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहां पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान--- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये उक्तप्रकारसे कथन किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरवबोध है । दूसरे इन्द्रिय प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त दोष भी आता है ।

शंका--- तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान--- एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव होते हैं । इस व्याख्यानके अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है । अतः यह व्याख्यान निर्दोष है । अतएव इसका आश्रय करना चाहिये ।

शंका--- पंचेन्द्रियजाति किसे कहते हैं ?

समाधान--- जिससे कबूतर आदि जाति-विशेष 'ये पंचेन्द्रिय हैं' इस प्रकार समान प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते हैं और जिसमें पंचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारीपनेकी अपेक्षा रहती है उसे पंचेन्द्रिय जाति कहते हैं ।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

तेणेति एकवचनं जातिनिबन्धनम् । परमूर्ध्वम् । अनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः, सकलकर्मकलङ्कातीतत्वात् ।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ॥ ३९ ॥

अनुवदनमनुवादः । कायानामनुवादः कायानुवादः, तेन कायानुवादेन । पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः, स एषामस्तीति पृथिवीकायिकाः । न कार्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः, भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः । एवमप्कायिकादीनामपि वाच्यम् । पृथिव्यादीनि कर्माण्यसिद्धानीति चेन्न, पृथिवीकायिकादिकार्यान्यथानुपपत्तितस्तदस्तित्वसिद्धेः । एते पञ्चापि स्थावराः, स्थावरनामकर्मोदयजनित-

---

सूत्रमें 'तेण' यह एक वचन जातिका सूचक है । 'परं' शब्दका अर्थ ऊपर है । जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिभेदोंसे रहित अनिन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते हैं ।

अब कायमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

कायानुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव हैं ॥ ३९ ॥

सूत्रके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कायोंके अनुवादको कायानुवाद कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव हैं । पृथिवीही काय पृथिवीकाय है, वह जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । पृथिवीकायिकका इस प्रकार लक्षण करनेपर कार्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह बात नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह हो चुका इस प्रकार उपचार किया जाता है, उसीप्रकार कार्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है । अथवा, जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं । इसी प्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी निरुक्ति कर लेना चाहिये ।

शंका— पृथिवी आदि कर्म असिद्ध हैं, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्योंका होना अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मोंके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

स्थावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई विशेषताके कारण ये पांचों ही स्थावर कहलाते हैं ।

विशेषत्वात् । स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वायुतेजोऽम्भसां देशान्तरप्राप्ति-दर्शनादस्थावरत्वप्रसङ्गात्[1] । स्थानशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थःप्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दस्येव । त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः । त्रसेरुद्वेजन-क्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तेषु तदभावादत्रसत्व-प्रसङ्गात्[2] । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम् । आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेदं व्याख्यानं विरुद्ध्यत इति चेन्न, जीवविपाकित्रसपृथिवीकायिकादि-कर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्व्यपदेशार्हत्वा-विरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मबन्धातीताः अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

शंका— स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं, ऐसी व्याख्याके अनुसार स्थावरोंका स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमें गति देखी जानेसे उन्हें अस्थावरत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

स्थानशील स्थावर होते हैं, यह निरुक्ति व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्दकी व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं ।

शंका— 'त्रसि उद्वेगे' इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डेमें बन्द, मूर्छित और सोते हुए जीवोंमें उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसंग आजायगा । इसलिये चलने और ठहरनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका— आत्म-प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक-शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अतीत सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिस प्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना, कीट और कालिमारूप बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्मरूप

१ त. रा. वा. २. १२. ३. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः । त. सू. २. १४.

२ त. रा. वा. २. १२. २.

जह कंचणमग्गि-गयं मुंचइ किट्टेण कालियाए य ।
तह काय[1]-बंध-मुक्का अकाइया ज्झाण-जोएण[2] ॥ १४४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुप्पायणट्ठमुत्तर-सुत्तं भणइ—

पुढविकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया दुविहा--बादरा सुहुमा । बादरा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४० ॥

बादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः बादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः सूक्ष्माः । को विशेषश्चेत् ? सप्रतिघाताप्रतिघातरूपः[3] । पर्याप्तनामकर्मोदयजनित-

बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म । बादर जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म । बादर अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म। बादर वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥४०॥

जिनमें बादर नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें बादर कहते हैं। तथा जिनमें सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं ।

शंका— बादर और सूक्ष्ममें क्या विशेषता है ?

समाधान— बादर प्रतिघात सहित होते हैं– और सूक्ष्म प्रतिघात रहित होते हैं, यही इन दोनोंमें विशेषता है । अर्थात् निमित्तके मिलनेपर बादर शरीरका प्रतिघात हो सकता

१ क प्रतौ कालिय.

२ प्रा. पं. १, २७ । गो. जी. २०३. किट्टेन बहिर्मलेन कालिकया च वैवर्ण्यरूपान्तरंगमलेन । जी. प्र. टी.　३ मु. रूपाः ।

शक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः । अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः ।

वनस्पतिकायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

वणप्फइकाइया दुविहा–पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा–बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा–पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४१ ॥

प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः पृथिवीकायिकादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् ।

है, परंतु सूक्ष्मशरीरका कभी भी प्रतिघात नहीं होता है ।

पर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेरूप अवस्था-विशेष प्रगट हो गई है उन्हें पर्याप्त कहते हैं । तथा अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था-विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं ।

अब वनस्पति-कायिक जीवोंके भेद-प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर । प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं– बादर और सूक्ष्म । बादर दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म दो प्रकारके हैं– पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४१ ॥

जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक् पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं, जैसे, खैर आदि वनस्पति ।

शंका— प्रत्येकशरीरका इस प्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकायिक आदि पांचोंको भी प्रत्येकशरीर संज्ञा प्राप्त हो जायगी ?

समाधान— यह आशंका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है ।

शंका— तो फिर पृथिवीकायिक आदिके साथभी प्रत्येकशरीर विशेषण लगा लेना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदिमें अलग विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात् । बादरसूक्ष्मोभयविशेषणाभावादनुभयत्वमनुभयस्य चाभावात्प्रत्येकशरीर-वनस्पतीनामभावः समापतेदिति चेन्न, बादरत्वेन सतामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, सत्त्वान्यथानुपपत्तितस्तत्सिद्धेः । सौक्ष्म्यविशिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्य सम्भवः[1] समस्तीति अनैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, बादरा इति लक्षण-मुत्सर्गरूपत्वादशेषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतयो बादरा एव, न सूक्ष्माः, साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिबाधकापवादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न प्रत्येकवनस्पतित्रसेषूभयविशेषणानुपादनाच्च सूक्ष्मत्वमुत्सर्गः आर्षमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानवगतेरप्रसिद्धस्य बादरत्वस्येवोत्सर्गत्वविरोधात् ।

शंका—— प्रत्येक वनस्पतिमें बादर और सूक्ष्म दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये प्रत्येक वनस्पतिको अनुभयपना प्राप्त हो जाता है । परंतु बादर और सूक्ष्म इन दो भेदोंको छोड़कर अनुभयरूप कोई तीसरा [illegible] नहीं [illegible] है, इसलिये अनुभयरूप विकल्पके अभावमें प्रत्येकशरीर वनस्पतियोंका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका बादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शंका—— प्रत्येक वनस्पतिको बादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये बादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका—— सूक्ष्मता-विशिष्ट जीवोंकी सत्ता संभव है, इसलिये यह सत्त्वान्यथानुप-पत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप (व्यापक) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरोंमें बादर भेदके अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है ।

शंका—— प्रत्येक वनस्पतिमें बादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पति और त्रसोंमें बादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होता है, अतएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध सूक्ष्मको बादरकी तरह उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है ।

---

१ म. स्यात्संभव

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः। प्रतिनियतजीवप्रतिबद्धैः पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिकनोकर्म-स्कन्धैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते, विरोधादिति चेन्न पुद्गला-नामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमिथःसमवेतजीवसमवेतानां तत्रस्थाशेषप्राणि-सम्बन्ध्येकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धम् साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वा-विरोधात् । कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धुं पार्यते, सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात् । उक्तं च---

साहारणमाहारो साहारणमाणपाण-गहणं च ।
साहारण-जीवाणं साहारण लक्खणं भणियं[1] ॥ १४५ ॥
जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं[2] ॥ १४६ ॥

....

विशेषार्थ--- बादरत्व पांचों स्थावर और त्रसोंमें पाया जाता है, परंतु सूक्ष्मत्व प्रत्येकवनस्पति और जलकायिकोंमें नहीं पाया जाता है, इसलिये बादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं।

जिन जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं।

शंका--- जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए पुद्गलविपाकी होनेसे आहार वर्गणाके स्कन्धोंको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करानेमें कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक नोकर्मस्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित हैं और जो एकदेशमें अवस्थित तथा परस्पर संबद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीवसंबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेधभी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है। कहा भी है---

साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। इस प्रकार परमागममें साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवोंका मरण होता है। और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां पर अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है ॥ १४६ ॥

---

१ प्रा. पं. १ ८२। गो. जी. १९२ च शब्देन शरीरेन्द्रियपर्याप्तिद्वयं समुच्चयीकृतम् । जी. प्र. टी. । आचा. नि. १३६.

२ प्रा. पं. १ ८३। गो. जी. १९३. एकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत् सहैव म्रियंते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसंख्यातसागरोपमकोटिमात्री असंख्यातलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थितिः

एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंत-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण[1] ॥ १४७ ॥
अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भाव-कलंकइपउरा णिगोद-वासं ण मुंचंति[2] ॥ १४८ ॥

ते तादृशाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते, स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमसिद्धम् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । बादर-निगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ? प्रत्येकशरीरवनस्पति-ष्विति ब्रूमः । के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः ।

द्रव्य-प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमें देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

नित्य निगोदमें ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं जिन्होंने अभीतक त्रस जीवोंकी पर्याय नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य कषायके उदयसे उत्पन्न हुई दुर्लेश्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद-वासको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका— साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है। एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा । तथा आगमकी प्रमाणता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी असंभावना अच्छी तरह निश्चित है उसको असिद्ध माननेमें विरोध आता है । अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है।

शंका— बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान— प्रत्येक शरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं ।

शंका— जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित हैं वे कौन हैं ?

समाधान— थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं ।

परिसमाप्यते । अत्र विशेषश्च टीकातोऽवसेयः । जी. प्र. टी ।

१ प्रा. पं. १, ८४ । गो. जी. १९६. ननु अष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनन्त-गुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानाम् सर्वजीवराश्यनन्तगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानन्तभागे गते सति संसारि-जीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिबहुत्वस्य च सुघटत्वात् ? इति चेत्तन्न, केवलज्ञानदृष्ट्या केवलिभिः, श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारिजीवराशिक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात् । प्रत्यक्षागमबाधि-तस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात् । जी. प्र. टी.

२ प्रा. पं. १, ८५। गो. जी. १९७. नित्यनिगोदलक्षणमनेन ज्ञातव्यं । × × × एकदेशाभावविशिष्ट-सकलार्थवाचिना प्रचुरशब्देन कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तर-

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तसकाइया दुविहा--पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ४२ ॥

गतार्थत्वान्नास्यार्थ उच्यते । किं त्रसाः सूक्ष्मा उत बादरा इति ? बादरा एव न सूक्ष्माः । कुतः ? तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात् । बादरत्वविधायकार्षाभावे कथं तदवगम्यत इति चेन्न, उत्तरसूत्रतस्तेषां बादरत्वसिद्धेः । के ते पृथिवीकायादय इति चेदुच्यते—

> पुढवी य सक्करा वालुअ उवले सिलादि छत्तीसा[1] ।
> पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं[2] ॥ १४९ ॥

अब त्रसकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

गतार्थ होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहते हैं ।

शंका— त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर ?

समाधान— त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते ।

शंका— यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— क्योंकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है ।

शंका— त्रस जीवोंके बादरपनेका प्रतिपादन करनेवाले आगम प्रमाण का अभाव होनेपर यह कैसे जाना जाता है कि वे बादर ही होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगे आनेवाले सूत्रसे त्रस जीवोंका बादरपना सिद्ध हो जाता है ।

शंका— वे पृथिवीकाय आदि जीव कौनसे हैं ?

समाधान— जिनेन्द्र भगवान्ने पृथिवी, शर्करा बालुका उपल और शिला आदिके भेदसे पृथिवीरूप छत्तीस प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४९ ॥

विशेषार्थ— यहां पर जो पृथिवीके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव छत्तीस प्रकारके कहे हैं, वे इस प्रकार हैं; मट्टीरूप पृथिवी, गंगा आदि नदियोंमें उत्पन्न होनेवाली रूक्ष बालुका, तीक्ष्ण और चौकोर आदि आकारवाली शर्करा, गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, समुद्रादिमें उत्पन्न होनेवाला नमक, लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सोना, वज्र (हीरा), हरिताल, इंगुल, मैनसिल, हरे रंगवाला सस्यक, अंजन, मूंगा, भोडल, चिकनी और चमकती हुई रेती,

षट्पासजीवेषु मुक्ति गतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभावं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवन्तीत्ययमर्थः प्रतिपादितो बोद्धव्यम् । जी. प्र. टी.

१ पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य । अय तंब तउ य सीसय रूप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ हरिदाले हिंगुलए मणोसिला सस्सगंजण पवाले य । अब्भपडलब्भवालु य बादरकाया मणिविधीया ॥ गोमज्झगे य रुजगे अंके फलिहे य लोहिदंके य । चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ गेरुय चंदण वव्वग वगमोए तह मसारगल्लो य । ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचा. २०६–२०९ । आचा. नि. ७३–७६ । उत्त. ३६–७४–७७ । प्रज्ञा. १. १७. २ प्रा. पं. १, ७७ ।

ओसा हिमो य धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणोदो य[1]।
एदे दु आउकाया जीवा जिण-सासणुद्दिट्ठा ॥ १५० ॥
इंगाल-जाल-अच्ची मुम्मुर-सुद्धागणी तहा अगणी[2]।
अण्णे वि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा ॥ १५१ ॥
वाउब्भामो उक्कलि-मंडलि-गुंजा महा घणो य तणू।
एदे दु वाउकाया जीवा जिण-इंद-णिद्दिट्ठा[3] ॥ १५२ ॥
मूलग्ग-पोर-बीया कंदा तह खंध-बीय-बीयरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य[4] ॥ १५३ ॥

कर्केतनमणि, राजवर्तकरूप मणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रकान्तमणि, वैडूर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरुवर्ण रुधिराक्षमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारका मरकतमणि, पुखराज, नीलमणि और विद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इसलिये इनके भेदसे पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

ओस, बर्फ, कुहरा, स्थूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चन्द्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाव और घनवात आदिसे उत्पन्न हुआ घनोदक अथवा हरदणु अर्थात् तालाव और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनमें जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥१५०॥

अंगार, ज्वाला, अर्चि अर्थात् अग्निकिरण, मुर्मुर अर्थात् भूसा अथवा कण्डाकी अग्नि, शुद्धाग्नि अर्थात् बिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

सामान्य वायु, उद्भ्राम अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचेकी ओर बहनेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके घूमता हुआ वायु, गुंजा अर्थात् गुंजायमान वायु, महावात अर्थात् वृक्षादिकके भंगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवानने कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह और संमूर्छिम, ये सब

१ प्रा. । पं. १, ७८ । ओसा य हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य । ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचा. २१० । आचा. नि. १०८ । उत्त. ३६.८६ । प्रज्ञा. १.२०.

२ प्रा. पं. १, ७९ । मूलाचा. २११ । आचा. नि. ११८ । उत्त. ३६. ११०–१११ । प्रज्ञा. १.२३.

३ प्रा. पं. १, ८० । मूलाचा. २१२. उक्कलिया मंडलिया गुंजा घणवाय सुद्धवाया य । बादर वाउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥ आचा. नि. १६६ । उत्त. ३६. ११९–१२० । प्रज्ञा. १. २६.

४ प्रा. पं. १, ८१ । गो. जी. १८६ । मूलाचा. २१३. मूल मूलबीजा जीवा येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादयः । अग्ग-अग्रबीजा जीवाः कोरंटकमल्लिका कुब्जकादयो येषामग्रं प्ररोहति । पोरबीया पोरबीज-

बिहि तीहि चउहि पंचहि सहिया जे इंदिएहि लोयम्मि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवएसेण[1] ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायादीनां[2] स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तर-सूत्रमाह—

पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइ-काइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे[3] ॥ ४३ ॥

आह, आप्तागमविषयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । श्रद्धाभावश्चाश्रद्धेय-वस्तुपरिज्ञानपूर्वकः । तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमविषयपरिज्ञानोज्झितानां कथं

वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दोनों प्रकारकी कही गई हैं ॥ १५३ ॥

लोकमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उन्हें वीर भगवानके उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका कथन करके अब उनमें गुणस्थानोंका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

शंका— शंकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमें विपरीत ज्ञानपूर्वक ही अश्रद्धा अर्थात् मिथ्याभिनिवेश हो सकता है । ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम और पदार्थके परिज्ञानसे रहित पृथिवीकायिक आदि जीवोंके मिथ्यादृष्टिपना कैसे संभव है ?

जीवा इक्षुवेत्रादयो येषां पोरप्रदेशः प्ररोहति । कंदा कन्दजीवाः कदलीपिण्डालुकादयो येषां कन्ददेशः प्रादुर्भवति । तह तथा । खंधबीया स्कन्धबीजजीवाः शल्लकीपालिभद्रकादयो येषां स्कन्धदेशो रोहति । बीयबीया बीजबीजा जीवा यवगोधूमादयो येषां क्षेत्रोदकादिसामग्र्याः प्ररोहः । सम्मुच्छिमा य सम्मूर्च्छिमाश्च मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म । × × पत्तेया प्रत्येकजीवाः पूगफलनालिकेरादयः । अणंतकाया य अनन्तकायाश्च स्नुहीगुडूच्यादयः, ये छिन्ना भिन्नाश्च प्ररोहन्ति । × × स. टी. अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेव पोरबीया य । बीयरुहा सम्मुच्छिम समासओ वणस्सई जीवा ॥ आचा. नि. १३० । उत्त. ३६. ९३–१०० । प्रज्ञा. १.२९–४४.

1 प्रा. पं. १, ८६ । गो. जी. १९८.

2 मु. पृथिवीकायिकादीनां ।

3 कायानुवादेन पृथिवीकायादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । स. सि. १. ८.

मिथ्यादृष्टित्वमिति ? नैष दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूलमिथ्यात्वसत्त्वस्य[1] तत्राविरोधात् । अथवा ऐकान्तिकसांशयिकमूढव्युद्ग्राहितवैनयिकस्वाभाविकविपरीतमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र सम्भवः समस्ति । अग्रतनजीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कित-हृदयानामविनष्टमिथ्यात्वपर्यायेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्नारम्भणीयमिदं सूत्रमिति ? नैष दोषः, पृथिवीकायिकादीनामियन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात् ।

त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥४४॥

एते त्रसनामकर्मोदयवशवर्तिनः । के पुनः स्थावराः इति चेत् ? एकेन्द्रियाः

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूल मिथ्यात्वका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलंकसे अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसंबन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्वपर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आये हैं, इसलिये उसीसे यह ज्ञान हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं । अतः इस सूत्रको पृथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंके इतनी इन्द्रियाँ होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रियाँ नहीं होती हैं, इस प्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है, अथवा जो भूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

द्वीन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिकेवलीतक त्रसकायिक जीव होते हैं ॥ ४४ ॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

शंका— स्थावर जीव कौन कहलाते हैं ?

समाधान— एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

१ मु. सूक्ष्म.   २ त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति । स. सि. १. ८.

कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात् । स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम् । तेजोवाय्वप्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात् ।

बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

बादरकाइया बादरेइंदिय प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥४५॥

बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः । पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव बादराणां सूक्ष्माणां च सत्त्वमुक्तं ततोऽत्र बादरैकेन्द्रियग्रहणमनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

---

शंका— सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर कैसे जाना जाय कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ?

समाधान— सूत्रमें जब द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेषन्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

शंका— स्थावरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान— एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है ।

शंका— ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अग्निकायिक, वायुकायिक और जलकायिक जीवोंका अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुके प्रयोगसे हिला करते हैं और टूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिकके गमन होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है । इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब बादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवलीपर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ॥४५॥

जिन जीवोंका शरीर बादर, स्थूल अर्थात् प्रतिघातसहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं ।

शंका— पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका सद्भाव पहले ही कह आये हैं, इसलिये इस सूत्रमें बादर एकेन्द्रिय पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान— अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये

वनस्पतिप्रभृतयो बादरा इति यावत् । न विधातव्यमेतेषां बादरत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति चेन्न, सौक्ष्म्याभावप्रतिपादनफलत्वात् ।

द्विविधकायातीतजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमकाइया चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्विविधकायात्मकजीवराशेः परं बादरसूक्ष्मशरीरनिबन्धनकर्मातीतत्वतोऽशरीराः सिद्धाः अकायिकाः । जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादिबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात् । अनादिप्रचयोऽपि कायः किन्न स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलानां कर्मनोकर्मपर्यायपरिणतानां सादिसान्तप्रचयस्य

बादर एकेन्द्रिय पद सूत्रमें ग्रहण किया गया है । इस पदके ग्रहण करनेसे प्रत्येकशरीर वनस्पति आदि सभी जीव बादर ही होते हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

शंका—— इस सूत्रमें इन जीवोंके बादरपनेका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि, ये जीव बादर ही होते हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, इन जीवोंके केवल बादरत्वके प्रतिपादन करनेके लिये यह सूत्र नहीं रचा गया है, किन्तु इन जीवोंके सूक्ष्मताके अभावका प्रतिपादन करना ही इस सूत्रके बनानेका फल है ।

अब त्रस और स्थावर इन दोनों कायोंसे रहित जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं——

स्थावर और त्रस कायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं ॥ ४६ ॥

जो उस त्रस और स्थावररूप दो प्रकारकी कायराशिसे परे हैं वे सिद्ध जीव बादर और सूक्ष्म शरीरके कारणभूत कर्मसे रहित होनेके कारण अशरीर होते हैं, अतएव अकायिक कहलाते हैं ।

शंका—— जीवप्रदेशोंके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय हैं, फिर उन्हें अकाय क्यों कहा ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव प्रदेशस्वरूप हैं, इसलिये उसकी अपेक्षा यहां कायपना नहीं लिया गया है ।

शंका—— अनादिकालीन आत्म-प्रदेशोंके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, यहां पर कर्म और नोकर्मरूप पर्यायसे परिणत मूर्त पुद्गलोंके सादि और सान्त प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया है ।

विशेषार्थ—— यद्यपि पांच अस्तिकायोंमें सिद्ध जीवोंका भी ग्रहण हो जाता है । फिर भी यहां पर अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव-प्रदेशोंके प्रचयरूप कायकी

कायत्वाभ्युपगमात् । 'इति' शब्द एक एवास्तु सूत्रपरिसमाप्त्यर्थत्वात्, न 'च' शब्दः, तस्य फलाभावादिति चेन्न, तस्य कायमार्गणपरिसमाप्तिप्रतिपादनफलत्वात् ।

योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ॥ ४७ ॥

अत्र 'इति' शब्दः सूत्रसमाप्तिप्रतिपादनफलः । 'च' शब्दश्च त्रय एव योगाः सन्ति नान्ये इति योगसंख्यानियमप्रतिपादनफलः समुच्चयार्थो वा । योगस्य लक्षणं[1] प्रागुक्तमिति नेदानीमुच्यते । मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्यान्न द्रव्यमनसा सम्बन्धो मनोयोगः, मनोयोगस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरकालस्थितिप्रसङ्गात् । न सक्रियावस्था योगः, योगस्याहोरात्रमात्रकालप्रसङ्गात् । न भावमनसा सम्बन्धो

अपेक्षा न होकर कर्म और नोकर्मके निमित्तसे होनेवाले सादि और सान्त प्रदेशप्रचयरूप कायकी अपेक्षा है । इसलिये इस विवक्षासे सिद्ध जीव अकायिक होते हैं, क्योंकि, उनके कर्म और नोकर्मके निमित्तसे होनेवाले प्रदेशप्रचयरूप कायका अभाव हो गया है ।

शंका— सूत्रमें 'इति' यह एक ही शब्द रहा आवे, क्योंकि, उसका फल सूत्रकी परिसमाप्ति है । परंतु 'च' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, प्रकृतमें उसका कोई प्रयोजन नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कायमार्गणाकी परिसमाप्तिका प्रतिपादन करना ही यहां पर 'च' शब्दका फल है ।

अब योगमार्गणाके द्वारा जीव द्रव्यके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

योगमार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव हैं ॥ ४७ ॥

इस सूत्रमें जो 'इति' शब्द आया है उसका फल सूत्रकी समाप्तिका प्रतिपादन करना है । तथा जो 'च' शब्द दिया है उसका फल, योग तीन ही होते हैं, अधिक नहीं, इस प्रकार योगकी संख्याके नियमका प्रतिपादन करना है । अथवा 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला समझना चाहिये ।

योगका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये यहां पर नहीं कहते हैं । मनके द्वारा होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं ।

शंका— यदि ऐसा है, तो द्रव्यमनसे संबन्ध होनेको तो मनोयोग कह नहीं सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर मनोयोगकी कुछ कम तेतीस सागर प्रमाण स्थितिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । क्रियासहित अवस्थाको भी योग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर योगको दिन-रात्रमात्र कालका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । अर्थात्, कोई कोई क्रिया दिन-रात

१ सु. योगस्य तल्लक्षणं ।

मनोयोगः, तस्य ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति ? न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् । कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगविरोधात्[1] । मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिः, दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिः, तथोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो

रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी पड़ेगी । किंतु आगममें तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं मानी है । अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है । इसी प्रकार भावमनके साथ संबंध होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका उपयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान— इस प्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका— तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान— भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं । उसी प्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका— तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान— युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् मानने पर योगके विरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं बन सकेगा ।

शंका— कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियां युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान— यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ । परंतु इससे, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, आगममें इस प्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

विशेषार्थ— तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एकसाथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं ।

शंका— प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परिस्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात् अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

१ मु. योगनिरोधात् ।

मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति ? न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्त्यस्मिन्निति इनि सति सिद्धं मनोयोगी वाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥४८॥

[illegible] उक्तं च

जेसिं ण सन्ति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव संजणया ।
ते होंति अजोगिजिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया[1] ॥ १५५ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो चउव्विहो—सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-मणजोगो असच्चमोसमणजोगो ॥४९॥

सत्यमवितथममोघमित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः, तेन योगः सत्यमनोयोगः । तद्विपरीतो मोषमनोयोगः । तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः । उक्तं च—

वह मनोयोग जिसके या जिस जीवमें होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहां पर मनोयोग शब्दसे ' इन् ' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसी प्रकार वाग्योगी और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १५५ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयमें होनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृषा इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं । कहा भी है—

---

१ प्रा. पं. १, १०० । गो. जी. २४३. अथ योगाभावे सति अयोगिकेवल्यादीनां बलाभावः प्रसज्यते अस्मदादिषु बलस्य योगाश्रितत्वदर्शनात्, इत्याशंक्य इदमुच्यते अनुपमानन्तबलकलिताः । जी. प्र. टी.

सब्भावो सच्चमणो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति¹ ॥ १५६ ॥

ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसत्यमोषमनोयोगः । तदुभयसंयोगजोऽस्तु ? न, तस्य तृतीयभङ्गेऽन्तर्भावात् । कोऽपरश्चतुर्थो मनोयोग इति चेदुच्यते । समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमनोयोगः । तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः । उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचनव्यतिरिक्तामन्त्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः, सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निरवद्योऽर्थश्चेद्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः ।

सद्भाव अर्थात् सत्यार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । उभयरूप योगको सत्यमृषामनोयोग जानो ॥ १५६ ॥

सत्यमनोयोग और मृषामनोयोगसे व्यतिरिक्त योगको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

शंका— तो असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) उभयसंयोगज रहा आवे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उभयसंयोगजका तीसरे भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका— तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान— समनस्क जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोंमेंसे सत्यवचननिमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनोंरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभय मनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभयमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्य नहीं हैं, क्योंकि, इसकी संपूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती हैं । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी सत्यादिकतासे मनमें सत्य आदिका उपचार किया गया है ।

शंका— तो फिर यहां पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिये ?

---

१ प्रा. पं. १, ८९ । गो. जी. २१८. सद्भावः सत्यार्थः तद्विषयं मनः सत्यमनः, सत्यार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमन इत्यर्थः । × × तद्विपरीतः असत्यार्थविषयज्ञानजननशक्तिरूपभावमनसा जनितप्रयत्नविशेषः मृषा असत्यमनोयोगः । उभयः सत्यमृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेषः उभयमनोयोगः । जी. प्र. टी.

विपरीतमसत्यमनः। द्वयात्मकमुभयमनः। संशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनमसत्यमोषमन इति। अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव। उक्तं च—

ण य सच्च-मोस-जुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो[1] ॥ १५७ ॥

मनसो भेदमभिधाय साम्प्रतं गुणस्थानेषु तत्सत्त्व[2]निरूपणार्थमुत्तरसूत्र-द्वयमाह[3]—

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५० ॥

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व लब्धश्चेन्नैष दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः। किं तत्सामान्यमिति चेन्मनसः सादृश्यम्।

समाधान— जहां जिस प्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहां उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं। सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं। तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण है उसे अनुभय मन कहते हैं। अथवा मनमें सत्य, असत्य आदि वचनोंको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे चिरन्तन अर्थभी समीचीन है। कहा भी है—

जो मन सत्य और मृषासे युक्त नहीं होता है उसको असत्यमृषामन कहते हैं, और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता है उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥ १५७ ॥

मनोयोगके भेदोंका कथन करके अब गुणस्थानोंमें उसके सत्त्वका निरूपण करनेके लिये आगेके दो सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ॥ ५० ॥

शंका— चार मनोयोगोंके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पांचवां मनोयोग कहांसे आया ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पांचवी संख्या बन जाती है।

शंका— वह सामान्य क्या है जो चार प्रकारके मनोयोगोंमें पाया जाता है ?

समाधान— यहां पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये।

---

१ प्रा. पं. १, ९०। गो. जी. २१९.　　२ मु. तत्स्वरूप।　　३ मु. सूत्रमाह।

मनसः समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्ति-र्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्त-प्रयत्नसम्बन्धस्य विवक्षितत्वात्[1] ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वम् तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वम्, तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति ? न, संशयान-ध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात्। किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुराव-रणक्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपम्, तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्व-

मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका— पूर्व-प्रयोगसे प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान— यदि प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहां पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो प्रयत्नविशेष होता है, वह यहां पर योगरूपसे विवक्षित है ।

शंका— केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहां पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परंतु उनके असत्यमृषामनोयोगका सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, वहां पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरणकर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका— तीर्थंकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है ।

१ मु. सम्बन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् ।　　२ मु. चेत्स्वार्था

तस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपङ्क्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः[1] । अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने

शंका— केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियोंके समुच्चयरूप और अलग अलग प्रत्येक श्रोतामें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परंतु वहां पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान— द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परंतु उसके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, उसका प्रयत्न कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उससे आत्माका जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

---

१ वयणेण विणा अत्थपदुप्पायणं ण संभवइ, सुहुमत्थाणं सण्णाए परूवणाणुववत्तीदो । ण चाणएए (चाणक्खराए ?) झुणीए अत्थपदुप्पायणं जुज्जदे, अणक्खरभासतिरिक्खे मोत्तूण अण्णेसिं तत्तो अत्थावगमाभावादो । ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव, अट्ठारससत्तसयभासकुभासप्पियत्तादो । धवला अ. पृ. ६९३ सूत्रपौरुषीषु भगवतस्तीर्थंकरस्य ताल्वोष्ठपुटविचलनमंतरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनिधर्मकथनविधानं × × कथ्यते । धवला. अ. पृ. ७०६. सा वि य णं भगवओ अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आयरियमणायरियाणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसिवाणं अप्पणो भासत्ताए परिणमइ । सम. सू. ३४. अष्टादशमहाभाषासप्तशतक्षुल्लकभाषासंज्ञ्यक्षरानक्षरभाषात्मकात्यक्तताल्वोष्ठकंठव्यापारभव्यजनानन्दकयुगपत्सर्वोत्तरप्रतिपादकदिव्यध्वन्युपेतः । गो. जी., जी. प्र., टी. १. × × सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठेऽवट्ठियाए सिरे समाइण्णाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणी-

प्रयत्नोऽस्त्येव, तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात् । तेनात्मनो योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात् ।

शेषमनसोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्वं नेतरयोः,

शंका— केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शंका— जब कि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उनके सत्य और अनुभय इन दो प्रकारके वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है ।

अब शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५१ ॥

शंका— क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोगका सद्भाव

हारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासति अरिहा धम्मं परिकहेइ । × × सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो भासाए परिणामेणं परिणमइ । औप सू. ३४. व्याप्नोत्ययोजनं वाणी सर्वभाषानुगा प्रभोः ॥ यथाहुः श्री हेमसूरयः काव्यानुशासने, अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम् । सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे ॥ देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम् । तिर्यञ्चोऽपि च तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ यथा जलधरस्याम्भ आश्रयाणां विशेषतः । नानारसं भवत्येवं वाणी भगवतामपि ॥ स्यात्सर्वभाषामूलभाषा च स्वभावादर्धमागधी । स्यातां द्वे लक्षणे यस्याः मागध्याः प्राकृतस्य च ॥ येनैकेनैव वचसा भूयसामपि संशयाः । छिद्यन्ते वक्ति तत्सार्वो नानाजीवविधिः ॥ क्रमच्छेदे संशयानामसंख्यत्वाद्देहिनाम् । असंख्येनापि कालेन भवेत् कथमनुग्रहः ॥ शब्दशक्तेर्विचित्रत्वात् सन्तीदृंशि वचांसि च । प्रयुक्तैर्यैरुत्तरं यस्या-युगपद्भूयसामपि ॥ सरःशरस्वरार्थेन भिल्लेन युगपद्यथा । ‘सरो नत्थि’ त्ति वाक्येन प्रियास्तिस्रोऽपि बोधिताः ॥ लो. प्र. ३०, ६३४–६४२. सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थः ? अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेश-भाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं । कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत् ? मगधदेवसंनिधाने तथा-परिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते । षट्प्रा. ४. ३२. (सं. टी.)

अप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति ? न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसायज्ञानकारण-मनसः[1] सत्त्वाविरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते, प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्च-मोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तत्तद्व्यपदेशं[2] प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयते च । उक्तं च—

> दसविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
> तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति[3] ॥ १५८ ॥
> जो णेव सच्च-मोसो तं जाण असच्चमोसवचिजोगं[4] ।
> अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी[5] ॥ १५९ ॥

रहा आवे, परंतु बाकीके दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशामक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय ज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परंतु इसके संबन्धसे क्षपक या उपशामक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है ।

अब वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उस उस संज्ञाको प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है—

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-योग कहते हैं । उससे विपरीत योगको मृषावचनयोग कहते हैं । सत्यमृषारूप वचन योगको उभयवचनयोग कहते हैं । १५८ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न मृषारूप ही है वह असत्यमृषावचनयोग है । असंज्ञी

---

१ मु. वसायाज्ञान २ मु. तद्व्यपदेशं । ३ प्रा. पं. १, ९१ । गो. जी. २२०.
४ मु. वचिजोगो । ५ प्रा. पं. १, ९२ गो. जी. २२१.

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रत्रितयमाह—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि-

असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति ? नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति, मनोरहितकेवलिनां वचनाभावासंजमात्[1]। विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा न शेषेन्द्रियेभ्यो[2] ज्ञानसमुत्पत्तिः, मनसः समुत्पन्नत्वात्। नैतदपि, दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यपि,[3] सप्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्।

जीवोंकी भाषा और संज्ञी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाएं इसके उदाहरण हैं ॥ १५९ ॥

इस प्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेके तीन सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका— अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयवचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं। यदि संपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका— विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो बाकीके इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो। अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानकी अन्यत्र वृत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे तो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न सहित आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है।

शंका— समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ?

१ मु. अ. संजननात्। २ मु. नाशेषेन्द्रियेभ्यो। ३ मु. प्रयत्नात्म।

समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न, केवलज्ञानेन व्यभिचारात्। समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकज्ञानं[1] तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्। मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात्। कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्यमोषत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात्। ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्त्रभिप्राय[2]विषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात्।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५४ ॥

दशविधानामपि[3] सत्यानामेतेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भवन्ति

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है।

शंका— तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षायोपशमिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान— यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है।

शंका— मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होगा ?

समाधान— यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहां पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह संज्ञा उपचारसे रखकर कथन किया है।

शंका— विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभयपना कैसे आ सकता है ?

समाधान— विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है।

शंका— उनके वचनोंमें ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यवचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टीसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशों ही प्रकारके सत्यवचनोंके सूत्रोक्त तेरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

१ मु. शमिकं ज्ञानं। २ मु. वक्तुरभिप्राय।

३ जणपदसम्मदिठवणाणामे रूवे पडुच्च ववहारे। संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥ भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदी जिणदत्तो। सेदो दिग्घो रज्झदि करो त्ति य जं हवे वयणं ॥ गो. जी. २२२, २२३.

तथापि सत्यानीति ।

शेषवचसोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ ५५ ॥

क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति । वाचंयमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्राप्यन्तर्जल्पस्य[1] सत्त्वाविरोधात् ।

काययोगसंख्याप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्तविहो-ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्स-कायजोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकाय-जोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रयत्नः औदारिक-

---

नहीं आता है, इसलिये उनमें दशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष वचनयोगोंका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका— जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं?

समाधान— ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहां पर असत्यवचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— वचनगुप्तिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायरहित जीवोंमें भी अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब काययोगकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है— औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक-काययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाय-योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा (औदारिक वर्गणाओंसे) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

---

१ मु. तत्रान्तर्जल्पस्य ।

कायथोगः । कार्मणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्नः औदारिकमिश्रकाययोगः । उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकशरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्गणासूत्रात् । किं तद्वर्गणासूत्रमिति चेदुच्यते 'सव्वत्थोवा ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, भासा-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-दव्व-वग्गणा--पदेसा अनंतगुणा, कम्मइय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा त्ति'। न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः । यथा 'सव्वत्थोवा कम्मइय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, भासा-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणाए

परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कार्मण और औदारिक वर्गणाओंके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शंका— औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशंका— यह कैसे जाना ?

शंकाका समर्थन— वर्गणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशंका— वह वर्गणासूत्र कौनसा है ?

शंकाका समर्थन— जिससे औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नहीं होती है वह वर्गणासूत्र इसप्रकार है– 'औदारिकशरीर द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश सबसे थोड़े हैं । उससे असंख्यातगुणे वैक्रियिकशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे असंख्यातगुणे आहारकशरीर-द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तैजसशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे भाषाद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे मनोद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं, और उससे अनन्तगुणे कार्मणशरीरद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं'।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी स्थूलता बन जाती है । जैसे कि कहा भी है—

'कार्मणशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्यवर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । भाषाद्रव्यवर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । तैजसशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । आहारशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । वैक्रियकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । औदारिकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे

ओगाहणा असंखेज्जगुणा त्ति । ' उत्तं च—

> पुरुमहमुदारुरालं एयट्ठो तं विजाण तम्हि भवं ।
> ओरालियं ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो[1] ॥ १६० ॥
> ओरालियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
> जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो[2] ॥ १६१ ॥

अणिमाद्विविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं शरीरं वैक्रियिकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियिककाययोगः । कार्मण-वैक्रियिकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियिकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

> विविह-गुण-इड्ढि-जुत्तं वेउव्वियमहव विकिरिया चेव ।
> तिस्से भवं च णेयं वेउव्वियकायजोगो सो[3] ॥ १६२ ॥

असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमें जो होता है उसे औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥ १६० ॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले संप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६१ ॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके संपर्कसे पुद्गल भी ' विक्रिया ' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियककाययोग कहते हैं । कार्मण और वैक्रियक वर्गणाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैगूर्विक अथवा वैक्रियक शरीर

---

१ प्रा. पं. १, ९३ । गो. जी. २३०. सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणशरीराणां स्थूलत्वाभावात् कथमौदारिकत्वं ? इति चेन्न, ततः सूक्ष्मतरवैक्रियकादिशरीरापेक्षया तेषां महत्त्वेन परमागमरूढ्या वा औदारिकत्वसंभवात् । मं. प्र. टी.

२ प्रा. पं. १, ९४ । गो. जी. २३१. प्रागुक्तलक्षणमौदारिकशरीरं तदेवान्तर्मुहूर्तपर्यन्तमपूर्णं अपर्याप्तं तावन्मिश्रमित्युच्यते अपर्याप्तकालसंबन्धिसमयत्रयसंभविकार्मणकाययोगाकृष्टकार्मणवर्गणासंयुक्तत्वेन परमागम-रूढ्या वा अपर्याप्तं अपर्याप्तशरीरमिश्रमित्यर्थः । जी. प्र. टी. । तत्रौदारिकादयः शुद्धाः सुबोधाः । औदारिक-मिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमौदारिकं मिश्रं कार्मणेन । नौदारिकतया नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यम अपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियकाहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः । प्रज्ञापना-व्याख्यानांशस्त्वेवम्, औदारिकाद्या शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । स्था. सू. पृ. १०१.

३ प्रा. पं. १, ९५ । गो. जी. २३२.

वेउव्वियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं च अपरिपुण्णं च ।
जो तेण संपजोगो वेउव्वियमिस्सको जोगो[1] ॥ १६३ ॥[2]

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकस्कन्धसम्बद्धानां जीवावयवानां अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शङ्खधवलेन शुभसंस्थानेन योग इति चेन्नैष दोषः, अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव न पुनः सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदायुस्तयोर्वियोगो मरणम् । न च गलितायुषस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिः, विरोधात् । ततो न तस्यौदारिकशरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणम्, तयोः संयोग-

कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विककाययोग कहते हैं । ॥ १६२ ॥

वैगूर्विकका अर्थ पहले कह ही चुके हैं । वही शरीर अबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैगूर्विकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मसात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं और उसे आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारककाययोग कहते हैं ।

शंका— औदारिकस्कन्धोंसे संबन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शंखके समान धवल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त अन्य शरीरके साथ कैसे संबन्ध हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश अनादिकालीन बन्धनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ संबन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ संघटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका— जीवका शरीरके साथ संबन्ध करनेवाला आयुकर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुनः संघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकबार जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोंका पूर्व औदारिक शरीरके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं

१ मु. मिस्सजोगो ।　　२ प्रा. पं. १, ९६ पाठभेदः । गो. जी. २३४.

स्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, [1]छिन्नपूर्वायुषामुदयप्राप्तोत्तरभवसम्बन्ध्यायुःकर्मणां [2]परित्यक्तानुपात्तपूर्वोत्तरशरीराणामपि जीवानामुत्पत्त्युपलम्भात्। भवतु तयोरुत्पत्तिः मरणं पुनर्जीवशरीरवियोग एवेति चेदस्तु सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन, आगलादप्युपसंहृतजीवावयवानां मरणानुपलम्भात् जीविताच्छिन्नहस्तेन व्यभिचाराच्च। न च पुनरस्यार्षेः[3] सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति येनास्य मरणं जायेत। न चैतच्छरीरं गच्छत्पर्वतादिना प्रतिहन्यते[4] शस्त्रैश्छिद्यतेऽग्निना दह्यते वा, सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियकशरीरवत्। [5]आहारकार्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः। उक्तं च–

कहा है, अन्यथा उनके संयोगको उत्पत्ति मानना पड़ेगा।

शंका–– जीव और शरीरका संयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमें क्या हानि है?

समाधान–– नहीं, क्योंकि जिनकी पूर्व आयु छिन्न हो गई है और जिन्होंने उत्तर भवसम्बन्धी आयुको प्राप्त कर लिया है, फिर भी जिन्होंने पूर्व शरीर तो छोड़ दिया है, किन्तु उत्तर शरीर अभी प्राप्त नहीं किया है ऐसे भी जीवोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए जीव शरीरके संयोगको उत्पत्ति नहीं कह सकते।

शंका–– उत्पत्ति इसप्रकारकी भली ही रही आवे, फिर भी मरण तो जीव और शरीरके वियोगको ही मानना पड़ेगा?

समाधान–– यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीरका संपूर्णरूपसे वियोग ही मरण हो सकता है। उनका एकदेशरूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता, क्योंकि, जिनके कण्ठपर्यन्त जीवप्रदेश संकुचित हो गये हैं ऐसे जीवोंका भी मरण नहीं पाया जाता है। यदि एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर जिसका हाथ अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जायगा। और आहारक शरीरको धारण करनेवाले इस ऋषिके संपूर्णरूपसे पूर्व (औदारिक) शरीरका त्याग नहीं होता, जिससे इसका मरण होवे?

विशेषार्थ–– छटवें गुणस्थानमें जब साधु आहारक शरीरको उत्पन्न करता है, उस समय उसका औदारिक शरीरसे सर्वथा संबन्ध भी नहीं छूट जाता है और भुज्यमान आयुका अन्त भी नहीं होता है, इसलिये ऐसी अवस्थाको मरण नहीं कहते हैं। केवल वहां कुछ जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध होता है।

यह आहारक शरीर सूक्ष्म होनेके कारण गमन करते समय वैक्रियक शरीरके समान न तो पर्वतोंसे टकराता है, न शस्त्रोंसे छिदता है और न अग्निसे जलता है। आहारक और कार्मणकी वर्गणाओंसे उत्पन्न हुए वीर्यके द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रकाययोग है।

---

१. मु. पूर्वायुषा। २. मु. तत्परित्यक्त। ३. मु. न पुनरस्यार्षः।

४. अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे। पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ॥ गो. जी. २३८.

५. तत्प्राक्कालभाव्यौदारिकशरीरवर्गणामिश्रत्वेन ताभिः सह वर्तमानो यः संप्रयोगः अपरिपूर्णशक्ति-

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे[1] ।
गत्ता केवलि-पासं तम्हा आहारको जोगो[2] ॥ १६४ ॥
आहारयमुत्तत्थं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सको जोगो[3] ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ— मिश्रयोग तीन हैं, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग । इनमेंसे औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यंचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुद्घातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामें होता है । वैक्रियिकमिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक होता है । आहारकमिश्र छठे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुद्घात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है । इन तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विवक्षित शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता है, किंतु कार्मणशरीरके संबन्धसे युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे योग होता है, इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है । परंतु इतनी विशेषता है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकामें आहारकसमुद्घातके पहले होनेवाले औदारिकशरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है और यहां पर कार्मणस्कन्धके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है । इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतक औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाएं आती रहती हैं और धवलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारंभ होते ही औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाओंका आना बन्द हो जाता है । कहा भी है—

छटवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कह आये है । वह आहारकशरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

यस्तात्म प्रदेशपरिस्पन्दः स आहारककायमिश्रयोगः । गो. जी., जी. प्र., टी. २४०.

१ ऋद्धिप्राप्तस्यापि प्रमत्तसंयतस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममांद्ये सति यदा धर्म्यध्यान-विरोधी श्रुतार्थसंदेहः स्यात्तदा तत्संदेहविनाशार्थं च आहारकशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थः । गो. जी., जी. प्र., टी. २३५.

२ प्रा. पं. १, ९७ । गो. जी. २३९. णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे । परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं । सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥ गो. जी. २३६, २३७.

३ प्रा. पं. १, ९८ पाठभेदः । गो. जी. २४०.

कर्मैव कार्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कार्मणं शरीरम्, नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कार्मणकाययोगः । केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योगः इति यावत् । उक्तं च—

> कम्मेव च कम्म-भवं कम्मइयं तेण जो दु संजोगो ।
> कम्मइयकायजोगो एग-विग-तिगेसु समएसु[1] ॥ १६६ ॥

केष्वौदारिककाययोगो[2] भवतीत्येतस्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥ ५७ ॥

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्यात्,

कर्म ही कार्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कार्मणशरीर कहते हैं । अथवा कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं । इससे नामकर्मके अवयवरूप कार्मणशरीरका ग्रहण होता हैं । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गणाओंके बिना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कार्मणशरीर कहते हैं । अथवा, नामकर्मसे जो उत्पन्न होता है उसे कार्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किन जीवोंके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका—देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय

---

१ प्रा. पं. १, ९९ । गो. जी. २४१. स कार्मणकाययोगः एकद्वित्रिसमयविशिष्टविग्रहगतिकालेषु केवलिसमुद्घातसंबंधिप्रतरद्वयलोकपूरणे समयत्रये च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभागः तु शब्देन सूच्यते । अनेन शेषयोगानामव्याघातविषये अन्तर्मुहूर्तकालो व्याघातविषये एकसमयादियथासम्भवांतर्मुहूर्तपर्यंतकालश्च एकजीवं प्रति भणितो भवति । नानाजीवापेक्षया उपशमसूक्ष्मेत्याद्यष्टसांतरमार्गणावर्जितशेषनिरंतरमार्गणानां सर्वकाल इति विशेषो ज्ञातव्यः । जी. प्र. टी.

२ मु. को औदारिक ।

देवनरकगतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चां मनुष्याणां चौदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति, तत्र कार्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किंतु औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ॥ ५८ ॥

तिरश्चां मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मनुष्यगतिकर्मोदयेन सह वैक्रियिकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियिकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वै-

---

नहीं होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारके नियम करने पर तिर्यंच और मनुष्योंमें कार्मणकाययोग आदिके अभावकी आपत्ति आ जायगी । किन्तु औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यंच और मनुष्योंके ही होता है, ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वैक्रियक काययोग किन जीवोंमें होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका— तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचगति और मनुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियिक नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यंच और मनुष्यगतिमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रश्नोंके योग्य नहीं होते हैं, अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका— तिर्यंच और मनुष्य भी वैक्रियिकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात कैसे घटित होगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक । उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यंचोंके

क्रियिकमिति तत्रोक्तम्, न तदत्र परिगृह्यते, विविधगुणर्द्ध्यभावात् । अत्र विविध-गुणर्द्ध्यात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिड्ढिपत्ताणं ॥ ५९ ॥

आहारर्द्धिप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियिकर्द्धिप्राप्तेस्ते[1] ऋद्धि-प्राप्ता इति । किं चातः, नाद्यः पक्ष आश्रयणयोग्यः, इतरेतराश्रयदोषासंजनात् । कथम् ? यावन्नाहारर्द्धिरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तत्वम्, यावन्नर्द्धिप्राप्तत्वं न तावत्तेषामाहारर्द्धिरिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि, ऋद्धेरुपर्युद्ध्यभावात्[2] । भावे वा आहारशरीरवतां मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत, विशेषाभावात् । न चैवम्, आर्षेण[3] सह

वैक्रियिकरूपसे कहा गया है । उसका यहां पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है । यहां पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियिकशरीरका ही ग्रहण किया है, और वह देव और नारकियोंके ही होता है ।

अब आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती संयतोंके ही होते हैं ॥ ५९ ॥

शंका— यहां पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे संयतोंको ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये, या वैक्रियिक ऋद्धिकी प्राप्तिसे उन्हें ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि, प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं, जबतक आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है तबतक उन्हें ऋद्धिप्राप्त नहीं माना जा सकता, और जबतक वे ऋद्धिप्राप्त न हों तबतक उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके उपयोग करते समय दूसरी ऋद्धियोंकी उत्पत्तिका अभाव है । इतने पर भी यदि एक ऋद्धिके रहते हुए दूसरी ऋद्धिका सद्भाव माना जाता है, तो आहारक ऋद्धिवालोंके मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि, दूसरी ऋद्धियोंके समान इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है । परंतु आहारक ऋद्धिवालेके मनःपर्यय ज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान— प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है,

१ मु. वैक्रियकर्द्धिप्राप्तास्ते.　२ मु. ऋद्धेरुपर्यभावात् ।

३ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा । एदेसु एक्कपगदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे ॥ गो. जी. ७३०.

विरोधादिति ? नाविपक्षोक्तदोषः समाढौकते, यतो नाहारर्द्धिरात्मानमपेक्ष्योत्पद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति । ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते । तदनुत्पत्तावपि ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः, कारणे कार्योपचारात् । ततश्चर्द्धिहेतुसंयमप्राप्ताः यतयः ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारर्द्धिरिति सिद्धम् । संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहारर्द्धिरिति वा नेतरेतराश्रयदोषः । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, अनभ्युपगमात् । नैव नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति, गणभृत्सु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वोपलम्भात् । आहारर्द्ध्या सह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति चेद्भवतु नाम दृष्टत्वात् । न चानेन विरोध इति सर्वाभिर्विरोधो वक्तुं पार्यते, अव्यवस्थापत्तेरिति ।

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं ॥ ६० ॥

....

क्योंकि, आहारक ऋद्धि स्वतःकी अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, अपनेमें क्रियाके होनेमें विरोध आता है । किंतु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये 'ऋद्धिप्राप्तसंयतानाम्' यह विशेषण भी बन जाता है । यहां पर दूसरी ऋद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणमें कार्यके उपचारसे ऋद्धिके कारणभूत संयमको ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिये ऋद्धिके कारणरूप संयमको प्राप्त संयतोंको ऋद्धिप्राप्त संयत कहते हैं, और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा, संयमविशेषसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं, इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसी प्रकार दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके साथ दूसरी ऋद्धियां नहीं होती हैं, यह हम मानते ही नहीं हैं । एक आत्मामें युगपत् अनेक ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि, गणधरोंके एकसाथ सातों ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देखा जाता है ?

समाधान— यदि आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है तो रहा आवे । किंतु मनःपर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक ऋद्धिका दूसरी संपूर्ण ऋद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जायगी ।

अब कार्मणशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीजिन के कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रहो देहः, तदर्थां गतिः विग्रहगतिः। औदारिकादिशरीरनामोदयात्स्व-निर्वर्तनसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो देहः। विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः पुद्गलादान-निरोध इत्यर्थः। विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः। अथवा विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम्। विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः[1]। तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः विग्रहगतिसमापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम्। शरीराणि यतः प्ररोहन्ति तद्बीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते। वाङ्मनःकायवर्गणा-निमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति। कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः। स विग्रहगतौ वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति। एतदुक्तम्--गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतस्रो गतयो भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति। तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषाः विग्रहवत्यः। ऋज्वी गतिरिषुगतिरेकसमयिकी। यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका

विग्रह देहको कहते हैं। उसके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना करनेमें समर्थ नाना प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण करता है, अथवा संसारी जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है, इसलिये देहको विग्रह कहते हैं। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं अथवा, 'वि' शब्दका अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह' शब्दका अर्थ घात होनेसे विग्रह शब्दका अर्थ व्याघात है जिसका अर्थ पुद्गलोंके ग्रहण करनेका निरोध होता है। इसलिये विग्रह अर्थात् पुद्गलोंके ग्रहण करनेके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा, विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये पर्यायवाची नाम हैं। इसलिये विग्रहसे अर्थात् कुटिलता (मोड़ों) के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। उसको भली प्रकारसे प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न कहलाते हैं। उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके कार्मण-काययोग होता है। जिससे संपूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस बीजभूत कार्मणशरीरको कार्मणकाय कहते हैं। वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं। कार्मणकायसे जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। वह विग्रहगति अर्थात् वक्रगतिमें विद्यमान जीवोंके होता है। आगममें ऐसा कहा है कि एक गतिसे दूसरी गतिको गमन करनेवाले जीवोंके चार गतियां होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिकागति। उनमें पहली गति विग्रहरहित होती है और शेष गतियां विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुषसे छूटे हुए बाणके समान मोड़ारहित गतिको इषुगति

---

१ त. रा. वा. २. २५. १–३.

त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी[1]। तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति । स्वस्थितप्रदेशादार[2]भ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते । तयैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत् । कथमनुक्तमनधिकृतं चावगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः[3]। कथमस्य घातस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयः कालनिष्पाद्यमान-

---

कहते हैं । इस गतिमें एक समय लगता है । जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं । यह गति दो समयवाली होती है । जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लांगलिका गति कहते हैं । यह गति तीन समयवाली होती है । जैसे गायका चलते समय मूत्रका करना अनेक मोड़ोंवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं । यह गति चार समयवाली होती है । इन तीनों विग्रहगतियोंमें प्रत्येक गतिके अन्तिम समयको छोड़कर कार्मणकाययोग होता है ।

जो प्रदेश जहां स्थित हैं वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं । इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है । इसलिये विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है । अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुंचनेके लिये चार मोड़े लग सकें ।

घातनेरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमें अर्थ कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है ।

शंका—— कर्मोंकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा, उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्घातमें कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है ।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्घात कहते हैं, और समीचीन उद्घातको समुद्घात कहते हैं ।

---

१ त. रा. वा. २. २८. वा. ४.

२ लोकमध्यादारभ्य स. सि. २. २६ । त. रा. वा. २. २६ । अट्ठपएसो रुयगो तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं । आचा. नि. ४२.

३ मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ गो. जी. ६६८.

घातेभ्योऽप्येकसमयिकस्य समीचीनत्वाविरोधात्। समुद्घातं गताः समुद्घातगताः। कथमेकस्मिन् गम्यगमकभावश्चेन्न, पर्यायपर्यायिणां कथंचिद् भेदविवक्षायां तदविरोधात्। तेषां समुद्घातगतानां केवलिनां कार्मणकाययोगो भवेत्। वा शब्दः समुच्चय-प्रतिपादकः।

अथ स्यात्केवलिनां समुद्घातः[1] सहेतुको निर्हेतुको वा? न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलिनां विंशतिसंख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरनियमानुपपत्तेः। सर्वेषामपि, तद्धेत्वनुपलम्भात्। न

शंका— इस घातमें समीचीनता है, यह कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहुत कालमें संपन्न होनेवाले घातोंसे एक समयमें होनेवाले इस घातमें समीचीनताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

समुद्घातको प्राप्त जीवोंको समुद्घातगत जीव कहते हैं।

शंका— एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है, अर्थात् जब पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है, तब केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार समुद्घात और केवलीमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पर्याय और पर्यायीकी कथंचित् भेदविवक्षा होने पर एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

उन समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है। यहां सूत्रमें आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादक है।

शंका— केवलियोंके समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है, यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, ऐसा माननेपर सभी केवलियोंको समुद्घात करनेके अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्षको जाते हैं, ऐसा मान लिया जावे इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी वर्ष-पृथक्त्वके अनन्तर बीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियोंके

हन्तेर्गमिक्रियात्वात्संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमनं समुद्घातः। त. रा. वा. पृ. ५३. उद्गमनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः। समीचीन उद्घातः समुद्घातः, केवलिनां समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। अघातिकर्मस्थितिसमीकरणार्थं केवलिजीवप्रदेशानां समयाविरोधेन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च विसर्पणं केवलिसमुद्घात इत्युक्तं भवति। जयध. अ. पृ. १२३८.

१ वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषो नाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहिः समुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। त. रा. वा. पृ. ५३.

तावदघातिकर्मणां स्थित्यायुष्कस्थितेरसमानता हेतुः, क्षीणकषायचरमावस्थायां सर्वकर्मणां समानत्वाभावात् सर्वेषामपि तत्प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यतिवृषभोपदेशात्सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्धाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते । येषामाचार्याणां

लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्धातयन्ति, केचिन्न समुद्धातयन्ति । के न समुद्धातयन्ति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना ते न समुद्धातयन्ति, शेषाः समुद्धातयन्ति । अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वैषम्यम् ? न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्ति[1]परिणामेषु समानेषु सत्सु संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात् । संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ? द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्धातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च । न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति,

समुद्धात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि, केवलिसमुद्धातका कोई हेतु नहीं पाया जाता है । यदि यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितीसे आयुकर्मकी स्थितीकी असमानता ही समुद्धातका कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षीणकषाय गुणस्थानकी चरम अवस्थामें संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं, इसलिये सभी केवलियोंके समुद्धातका प्रसंग आजायगा ।

समाधान— यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें संपूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्धात करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं परंतु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्धात करनेवाले केवलियोंकी बीस संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्धात करते हैं और कितने नहीं करते हैं ।

शंका— कौनसे केवली समुद्धात नहीं करते हैं ?

समाधान— जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसारमें रहनेका काल वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थितीके समान है वे समुद्धात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्धात करते हैं ।

शंका— अनिवृत्ति आदि परिणामोंके समान रहने पर संसारव्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मोंकी स्थितिमें विषमता क्यों रहती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, व्यक्तिस्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंके समान रहने पर संसारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितीके समान मान लेनेमें विरोध आता है ।

शंका— संसारके विच्छेदका क्या कारण है ?

समाधान— द्वादशांगका ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्धात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसारके विच्छेदके कारण हैं । परंतु ये सब कारण समस्त जीवोंमें संभव नहीं हैं, क्योंकि, दश पूर्व और नौ पूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता

१ मु. ष्वनिवृत्त ।

श्रेण्यारोहणदर्शनात् । न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्घातेन समानयन्ति[1] । न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् सम्भवति, स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात् । परिणामातिशयाभावे पश्चादपि मा भूत्तद्घात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्येभ्योऽन्तर्मुहूर्तायुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्नेभ्यस्तद्घातोपपत्तेः । अन्यैराचार्यैरव्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात् ।

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं ।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए[2] ॥ १६७ ॥

है । अतः वहां पर संसार— व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे निपतन स्वभाववाले ऐसे पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवलीप्रमाण स्थिति काण्डकोंका निपतन करते हुए कितने ही जीव समुद्घातके विना ही आयुके समान शेष कर्मोंको कर लेते हैं । तथा कितने ही जीव समुद्घातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुकर्मके समान करते हैं । परंतु यह संसारका घात केवलीमें पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डकके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं ।

शंका— जब कि परिणामोंमें कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोंके समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्मकी अपेक्षासे आत्माके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोंसे संसारका घात बन जाता है ।

शंका— अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इस प्रकार व्याख्यान करनेवाले आचार्य सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त कथनसे विरोध आता है ।

शंका— छह माह प्रमाण आयुकर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है । शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १६७ ॥

---

१ ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं । अंतोमुहुत्तसेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥ उल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहुं विणिव्वाइ । संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥ मूलारा. २१०८, २१०९. जह उल्ला साडीया आसुं सुक्कइ विरेल्लिया संती । तह कम्मलहुयसमए वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥ वि. भा. ३६५०.

२ प्रा. पं. १, २०० । उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा । वच्चंति समुग्घादं सेसा

एदिस्से गाहाए उवएसो किण्ण गहिओ ? ण, भज्जत्ते कारणाणुवलंभादो ।

जेसिं आउ-समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकय-समुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए[1] ॥ १६८ ॥

णेदं भज्जत्ते कारणम्, सव्व-जीवेसु समेहि अणियट्टि-परिणामेहि पत्त-घादाणं ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त-विरोहादो, अघाइ-तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समए जहण्ण-ट्ठिदिसंतस्स वि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पमाणत्तुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर इति चेन्न, एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावात् । भावे वास्तु गाथयोरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्वानज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस गाथाका उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस प्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं । दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्हीं जीवोंके समुद्घात होनेमें और किन्हीं जीवोंके समुद्घातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवोंमें समान अनिवृत्तिरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता है, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता है । दूसरे, क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघातिया कर्मोंका जघन्य स्थितिसत्त्व पल्योपमके असंख्यातवें भाग सभी जीवोंके पाया जाता है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका— आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इस प्रकार तर्कके बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जानेपर इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

भज्जा समुग्घादे ॥ मूलारा. २१०५. षण्मासायुषि शेषे स्यादुत्पन्नं यस्य केवलम् । समुद्घातमसौ याति केवली नापरः पुनः ॥ पंचसं. ३२७. षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम् । करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुण. क्र. प्र. ९४.

[1] मूलारा. २१०६. परं च तत्र चतुर्थचरणे पाठभेदोऽयम्—'जिणा उवणमंति सेलेसिं'। जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाइं वेदणीयाणि । ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ मूलारा. २१०७.

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६१ ॥

काययोग एवेत्यवधारणाभावान्न वाङ्मानसयो[२]रभावः। एवं शेषाणामपि वाच्यमिति। एकेन्द्रियप्रभृत्यासयोगकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगिनः इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि तदस्तित्वं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां प्रकारे च वर्तते। अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति। ततो न तेषां ग्रहणम्। व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः, 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं[३]' ति बाधकसूत्रसम्भवात्।

वैक्रियिककाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति[४] ॥ ६२ ॥

सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इस प्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें वचनयोग और मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार शेष योगोंका भी कथन करना चाहिये।

शंका—एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानोंमें भी औदारिकमिश्रयोगका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमें रहता है। उनमेंसे यहां पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमें ग्रहण किया गया है। जैसे, सिंह प्रभृति मृग हैं। इसलिये औदारिकमिश्रयोगमें देशविरत आदि क्षीणकषायतकके गुणस्थानोंका ग्रहण नहीं होता है। अथवा, व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है। अथवा, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है, इस बाधक सूत्रके संभव होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अब वैक्रियककाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टितक होते हैं ॥ ६२ ॥

---

१ ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगो त्ति। तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ गो. जी. ६८०.

२ मु. मनसो। ३ जी. सं. सू. ७६.

४ वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु। सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से ण हि मिस्सजोगो हु ॥ गो. जी. ६८२.

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयावगमानुपपत्तेरिति ? न, च-शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थावगतेः, यथा पृथिव्यप्तेजोवायुरित्यत्र । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियिकमिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् ; 'सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता', वेउव्विय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं ' इत्याभ्यां वा सूत्राभ्यामवसीयते यथा न सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियिकमिश्रकाययोगः समस्तीति ।

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्त-संजद-ट्ठाणे[1] ॥ ६३ ॥

अप्रमादिनां संयतानां किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात् । तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाकनिष्ठतायाः समुत्पन्नप्रमादः

शंका— इस सूत्रमें च शब्द और अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, च शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है । जैसे, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' इस सूत्रमें च शब्दके नहीं रहने पर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है ।

शंका— सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालेके भी वैक्रियिकमिश्रकाययोगका सद्भाव प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर औदारिकमिश्रकाययोग प्रकरणमें दे आये हैं । अर्थात् यहां पर प्रभृति शब्द व्यवस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है । अथवा, 'सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' 'वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके ही होता है, इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टिके वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं पाया जाता है ।

आहारककाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ६३ ॥

शंका— प्रमादरहित संयतोंके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— प्रमादरहित जीवोंके आहारककाययोग उत्पन्न करानेमें निमित्त-कारणका अभाव है ।

शंका— आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारण क्या है ?

---

१ जी. सं. सू. ८३.

२ आहारो पज्जत्तो इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु । अंतोमुहुत्तकाले छट्ठगुणे होदि आहारो ॥ गो. जी. ६८३.

असंयमबहुलतोत्पन्नप्रमादश्च । न च प्रमादनिबन्धनोऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात् । अथवा स्वभावोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति ।

कार्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति[1] ॥ ६४ ॥

देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि कार्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मात्सूत्रादिति चेन्न, 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता[2]' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र तदभावावगतेः । न च समुद्घातादृते पर्याप्तानां कार्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स तत्र नास्तीति चेत् ? विग्रहगतेरभावात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि वक्रा गतिरुपलभ्यते चेन्न, पूर्वशरीरं परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं व्रजतो वक्रगतेर्विवक्षितत्वात्।

....

समाधान— आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनमें सन्देहजनित शिथिलताके होनेसे उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयमकी बहुलतासे उत्पन्न प्रमाद आहारककायकी उत्पत्तिका निमित्त-कारण है। जो कार्य प्रमादके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह प्रमादरहित जीवमें नहीं हो सकता है अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आता है। अथवा, यह स्वभाव ही है कि आहारककाययोग प्रमत्त गुणस्थानवालोंके ही होता है, प्रमादरहित जीवोंके नहीं।

अब कार्मणकाययोगके आधारभूत जीवोंके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है ॥ ६४ ॥

शंका— इस सूत्रके कथनसे देशविरत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक भी कार्मणकाययोगका अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात् संयतासंयत और संयत गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्त होते हैं, इस सूत्रके अनुसार वहां पर कार्मणकाययोगका अभाव ज्ञात हो जाता है। दूसरे समुद्घातको छोड़कर पर्याप्तक जीवोंके कार्मणकाययोग नहीं पाया जाता है।

शंका— पर्याप्तक जीवोंमें कार्मणकाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— विग्रहगतिका अभाव होनेसे उनके कार्मणकाययोग नहीं होता है।

शंका— देव और विद्याधर आदि पर्याप्तक जीवोंके भी वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको छोड़कर आगेके शरीरको ग्रहण करनेके लिये जाते हुए जीवके जो एक, दो या तीन मोड़ेवाली गति होती है, वही गति यहां पर वक्रगतिरूपसे विवक्षित है।

---

१ ओरालियमिस्सं वा चउगुणट्ठाणेसु होदि कम्मइयं । चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स पदरलोगपूरणगे ॥ गो. जी. ६८४.

२ जी. सं. सू. ९०. मु. संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६५ ॥

चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः। चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेश-परिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः। एते त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया ऽयात्मकैक-रूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आ सयोगकेवलिन इति क्रमेण सम्भवापेक्षया वा स्वामित्वमुक्तम्। काययोग एकेन्द्रियेष्वप्यस्तीति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामविनाभाविनः काययोगस्य विवक्षितत्वात्। तथा वचसोऽप्यभिधातव्यम्।

अब तीन योगोंके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं ॥ ६५ ॥

सत्यादि चार प्रकारके मनमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं। उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं। चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं। सात प्रकारके कायोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं। उस कायसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं। ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशमकी अपेक्षा ऽयात्मक एकरूपताको प्राप्त होकर संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं। अथवा क्रमसे संभव होनेकी अपेक्षा स्वामित्वका प्रतिपादन किया।

शंका— काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके भी होता है, फिर यहां उसका संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन क्यों किया?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर वचनयोग और मनोयोगसे अविनाभाव रखने-वाले काययोगकी विवक्षा है। इसी प्रकार वचनयोगका भी कथन करना चाहिये। अर्थात्, यद्यपि वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे होता है, फिर भी यहां पर मनोयोगका अविनाभावी वचनयोग विवक्षित है, इसलिये उसका भी संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन किया।

१ योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति। स. सि. १. ८. मज्झिमचउमणवयणे सण्णि-प्पहुदि दु जाव खीणो त्ति। सेसाणं जोगि त्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ॥ गो. ६७९.

द्विसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ॥ ६६ ॥

अत्र सामान्यवाक्काययोर्विवक्षितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञिनश्च पर्यवसानम्। विशेषे तु पुनरवलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव वचसः सत्त्वमिति। तद्यन्तव्यवहारो न घटामटेत्, उपरिष्टादपि वाक्काययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिनः पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात्। अस्तु चेन्न, निरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिसंयोगेन सह विरोधात्।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो एइंदियाणं ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाक्काययोगौ द्वावेव, शेषास्त्रियोगाः।

अब द्विसंयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥ ६६ ॥

यहां पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं। किंतु विशेषके अवलम्बन करने पर तो द्वीन्द्रियसे असंज्ञीतक वचनयोगके चौथे भेद (अनुभयवचन) का ही सत्त्व समझना चाहिये।

शंका— इन दोनों योगोंका द्वीन्द्रियसे आदि लेकर असंज्ञीपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह आदि और अन्तका व्यवहार यहां पर घटित नहीं होता है, क्योंकि, इन जीवोंसे आगेके जीवोंके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं। इसलिये असंज्ञीतक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका सत्त्व पाया जाता है।

शंका— यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रहा आवे, फिर भी इन दो योगोंके कथन करनेमें क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विवक्षित द्विसंयोगका त्रिसंयोगके साथ कथन करनेमें विरोध आता है। इसलिये द्विसंयोगी योगका असंज्ञीतक ही कथन किया है।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके होता है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीतक जीवोंके वचन और काय ये दो योग होते हैं। तथा, शेष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेदोऽमुष्मिन् कालेऽस्य सत्त्वममुष्मिंश्च न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥६८॥

क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः। पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा। सर्वत्र समुच्चयार्थावद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः पदैरेवाद्योत्यत इत्यवसेयः।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वप्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ॥६९॥

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब व्यवच्छेद योग्य इस कालमें इस योगका सत्त्व है, और इस कालमें इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका— क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है।

शंका— पर्याप्तक जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

विशेषार्थ— शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें मनोयोग और वचनयोगका अभाव बतलाया गया है, उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें भी किसी एक योगके रहने पर शेष दो योगोंका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोंके अभावका कथन करना चाहिये।

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहने पर शेष योग संभव हैं, इसलिये इस अपेक्षासे वहां पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है। अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है।

इन सभी सूत्रोंमें समुच्चयरूप अर्थको प्रगट करनेवाला च शब्द नहीं होने पर भी सूत्रोक्त पदोंसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है, और अपर्याप्तकोंके भी होता है ॥ ६९ ॥

'अपि' शब्दः समुच्चयार्थे द्रष्टव्यः। कः समुच्चयः? एकस्य निर्दिष्ट-प्रदेशद्विप्रभृतेरुपनिपातः समुच्चयः। द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तर-रुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। संक्षेपरुचयो नानुगृहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्।

पर्याप्तस्यैव एते योगाः भवन्ति, एते चोभयोरिति वचनमाकर्ण्य पर्याप्ति-विषयजातसंशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्राण्यभाणीत्

छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ॥ ७० ॥

पर्याप्तिनिःशेषलक्षणोपलक्षणार्थं तत्संख्यामेव प्रागाह। आहारशरीरेन्द्रियो-च्छ्वासनिःश्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः[1]। ताश्च षट् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः

सूत्रमें जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये।

शंका— समुच्चय किसे कहते हैं?

समाधान— किसी एक शब्दके निर्दिष्ट स्थानमें दो आदि बार प्राप्त होनेको समुच्चय कहते हैं।

शंका— सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया।

शंका— तो इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं किये गये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका अविनाभावी है। अर्थात्, विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है, इसलिये यहां पर विस्तारसे कथन किया है।

ये योग पर्याप्तकके ही होते हैं और ये योग दोनोंके होते हैं, इस वचनको सुनकर जिन शिष्योंके पर्याप्तिके विषयमें संशय उत्पन्न हो गया है, उनके संदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणको बतलानेके लिये उनकी संख्या ही पहले कही गई है। आहार, शरीर, इन्द्रिय उच्छ्वासनिःश्वास, भाषा और मन, इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं। ये पर्याप्तियां छह होती हैं— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-

१ उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथान्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेष आहारादिपुद्गलखलरसरूपतापादनहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः सा पर्याप्तिः। जी. १ प्रति. (अभि. रा. को., पज्जत्ति)

शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति। एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः। ताश्च षड् भवन्ति–आहारापर्याप्तिः शरीरापर्याप्तिः इन्द्रियापर्याप्तिः आनापानापर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति। एतासां द्वादशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं प्रागुक्तमिति पौनरुक्तिभयादिह नोच्यते।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्

सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥७१॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामपि षडपर्याप्तयो[1] भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्त-कालाभावात्। देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति षट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न, पर्याप्तिर्नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सोपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तिचरमा-वस्थायामेकसमयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात्

षट्पर्याप्तिश्रवणात् षडेव पर्याप्तयः सन्तीति समुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्याव-धारणात्मकप्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्–

....

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति कहते हैं। अपर्याप्तियां भी छह ही होती हैं– आहार-अपर्याप्ति, शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-अपर्याप्ति, आनापान-अपर्याप्ति, भाषा-अपर्याप्ति और मन-अपर्याप्ति। इन बारह पर्याप्तियोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दूषणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहां नहीं कहते हैं।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ये सभी पर्याप्तियां संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होती हैं ॥ ७१ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालोंके भी छह अपर्याप्तियां होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है।

शंका— देशविरतादिक ऊपरके गुणस्थानवालोंके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और यह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होनेसे पांचवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं पायी जाती, क्योंकि, अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिकी आगेके गुणस्थानोंमें सत्त्व होनेमें विरोध आता है।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्यको यह निश्चय हो गया कि पर्याप्तियां छह ही होती हैं, हीनाधिक नहीं, उस शिष्यके ऐसे धारणारूप निश्चयको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा है—

....

१ मु. षट् पर्याप्तयो।

पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाणीति नेदानीं भण्यते । षण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि सन्तीति पृथक्-पर्याप्तिपञ्चकाभिधानमनर्थकमिति चेन्न, क्वचिज्जीवविशेषे षडेव पर्याप्तयो भवन्ति, क्वचित्पञ्चैव भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात् । काः पञ्च पर्याप्तय इति चेन्मनोवर्जाः शेषाः पञ्च ।

ताः केषां भवन्तीति संशयानस्य शिष्यस्यारेकानिराकरणार्थमुत्तरसूत्रं वक्ष्यति--

बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेष्वस्ति मनः, तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्येष्वेवेति न प्रत्यवस्थातुं युक्तम्, तत्रतनस्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वासिद्धेः । मनुष्येषु विज्ञानस्य

पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं।

शंका-- पांच पर्याप्तियां छह पर्याप्तियोंके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलगरूपसे पांच पर्याप्तियोंका कथन करना निष्फल है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, किन्हीं जीव-विशेषोंमें छहों पर्याप्तियां पाई जाती हैं, और किन्हीं जीवोंमें पांच ही पर्याप्तियां पाई जाती हैं इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है।

शंका-- वे पांच पर्याप्तियां कौनसी हैं ?

समाधान-- मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहां पर ली गई हैं।

वे पांच पर्याप्तियां किनके होती हैं, इस प्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

वे पांच पर्याप्तियां द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी मन है, क्योंकि, मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योंमें है वही विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी पाया जाता यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि, विकलेन्द्रियोंमें रहनेवाला विज्ञान मनका कार्य है, यह बात असिद्ध है।

शंका-- मनुष्योंमें जो विशेष ज्ञान होता है वह मनका कार्य है, यह बात तो देखी जाती है ?

समाधान-- मनुष्योंका विशेष विज्ञान यदि मनका कार्य है तो रहा आवे, क्योंकि,

तत्कार्यत्वं दृश्यत इति चेदस्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः । न प्रत्यक्षेणाप्ययं आगमो बाध्यते, तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्त्यभावात् । विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्षात् । कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव ।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदप्रदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ॥ ७४ ॥

केषुचित्प्राणिषु चतस्र एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति । कास्ताश्चतस्र इति चेदाहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति । शेषं सुगमम् ।

चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

एइंदियाणं ॥ ७५ ॥

वह क्वचित् देखा जाता है।

शंका--- मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे होता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है । 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षसे भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

शंका--- विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है ?

समाधान--- आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है ।

शंका--- आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय ?

समाधान--- जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है ।

फिर भी पर्याप्तियोंकी संख्याके अस्तित्वमें भेद बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

किन्हीं जीवोंमें चार पर्याप्तियां अथवा किन्हींमें चार अपर्याप्तियां होती हैं ।

शंका--- वे चार पर्याप्तियां कौनसी हैं ?

समाधान--- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनापानपर्याप्ति । शेष कथन सुगम है ।

चारों पर्याप्तियोंके अधिकारी जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

उक्त चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं ॥ ७५ ॥

ताश्चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव, नान्येषाम् । एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वास-मुपलभ्यते चेन्न, आर्षात्तदुपलम्भात् । प्रत्यक्षेणागमो बाध्यत इति चेन्नैतस्य बाधा प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षीकृताशेषप्रमेयात् । न चेन्द्रियजं प्रत्यक्षं समस्तवस्तुविषयं येन तदविषयी-कृतस्य वस्तुनोऽभावो विधीयते[1] ।

एवं पर्याप्त्यपर्याप्त्योरभिधाय साम्प्रतममुष्मिन्नयं योगो भवत्यमुष्मिश्च न भवतीति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[2] ॥ ७६ ॥

षड्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च पर्याप्ताः । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न

वे चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती हैं, दूसरोंके नहीं ।

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके श्वासोच्छ्वास होता है यह बात आगम प्रमाणसे जानी जाती है ।

शंका— प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है ?

समाधान— जिसने संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे यदि बाधा संभव हो तो वह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है । परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण पदार्थोंको विषय ही नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी विषयताको नहीं प्राप्त होनेवाले पदार्थोंका अभाव किया जाय ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करके अब इस जीवमें यह योग होता है और इस जीवमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

औदारिककाययोग पर्याप्तकोंके और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७६ ॥

शंका— छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुए तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं । तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

---

१ मु. मेधीयते ।

२ ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगो त्ति । तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ गो. जी. ६८०

इति ? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिककाययोगः निष्पन्न-शरीरावष्टम्भबलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिककाययोगः । अपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगः । कार्मणौदारिकस्कन्धनिबन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिकमिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तावस्थायां कार्मणशरीरस्य सत्त्वात्तदाप्युभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति औदारिकमिश्रकाययोगः किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृतं तद्धेतुत्वम्, तस्यौपचारिकत्वात् । न तदपि, अविवक्षितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदभ्राणामपि कर्मबन्धः प्रसजतीति, न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत् ।

वैक्रियिककाययोगस्य सत्त्वोद्देशप्रतिपादनार्थमाह—

समाधान— सभी जीव शरीरपर्याप्तिके निष्पन्न होने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं ।

उनमेंसे पहले औदारिककाययोगका लक्षण कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके आलम्बनद्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश-परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । और अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकाययोग होता है । जिसका तात्पर्य इसप्रकार है कि कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

शंका— पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण वहां पर भी कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इसलिये वहां पर भी औदारिकमिश्रकाययोग क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें यद्यपि कार्मणशरीर विद्यमान है फिर भी वह जीव-प्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण नहीं है । यदि पर्याप्त-अवस्थामें कार्मणशरीर परंपरासे जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कार्मण-शरीरको परंपरासे निमित्त मानना उपचार है । यदि कहें कि उपचारका भी यहां पर ग्रहण कर लिया जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरारूप निमित्तके ग्रहण करनेकी यहां विवक्षा नहीं है ।

शंका— परिस्पन्दको बन्धका कारण मानने पर संचार करते हुए मेघोंके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहां पर विवक्षित है । मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्मबन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब वैक्रियिककाययोगके सत्त्वोद्देशके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[1] ॥ ७७ ॥

पर्याप्तावस्थायां वैक्रियिककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न, तत्र वैक्रियिककाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात्। अवधारणाभावेऽपर्याप्तावस्थायां शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम् कार्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात्। न सद्वत्तत्र वाङ्मनसयोरपि सत्त्वमपर्याप्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात्।

आहारकाययोगसत्त्वप्रदेशप्रतिपादनायाह—

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[2] ॥ ७८ ॥

आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः, संयतत्वान्यथानुपपत्तेः। तथा चाहारमिश्रकाय-

---

वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७७ ॥

शंका— पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोगके होने पर वहां शेष योगोंका अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोग ही होता है ऐसा निश्चयरूप (अवधारणरूप) कथन नहीं किया है।

शंका— जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी उसी प्रकार शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— यह कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रके अतिरिक्त कार्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है। किंतु कार्मणकाययोगके समान अपर्याप्त अवस्थामें वचनयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

अब आहारककाययोगके अस्तित्वका आधार बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७८ ॥

शंका— आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा उसके संयतपना नहीं बन सकता है। ऐसी हालतमें आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकके होता

---

१ वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु। गो. जी. ६८१.

२ आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु। गो. जी. ६८३.

योगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात् । तद्यथा-भवत्वसौ पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्ति-निष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ । पर्याप्तापर्याप्तत्वयोर्नैकत्राक्रमेण संभवः विरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तयोगयोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीष्टत्वात् । कथं न पूर्वोऽभ्युपगमः इति विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगति[1]न्यायापेक्षया, विरोधासिद्धेः । विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तकस्य कथं संयम इति चेत् ? न, संयमस्यास्रवनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः । विरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्घातगतस्य संयमः, तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं

है यह कथन नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा है । आगमका अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक शरीरगत छह पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसंबन्धी पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है ।

शंका— पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमें संभव नहीं है, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्याप्त और अपर्याप्तसंबन्धी योग संभव नहीं हैं, यह बात हमें इष्ट ही है ।

शंका— तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अतः आपके कथनमें विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व का ज्ञान करानेवाले न्यायकी अपेक्षा विरोध असिद्ध है । अर्थात् औदारिक शरीरसंबन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है ।

शंका— जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और आहारक शरीरसंबन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आस्रवका निरोध करना है ऐसे संयमका मन्दयोग (आहारकमिश्रयोग) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्द-योगके साथ संयमके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्घातको प्राप्त हुए केवलीके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वहां पर भी अपर्याप्तकसंबन्धी योगका सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विशेषता नहीं है ।

---

१ मु. गत ।

प्रत्यविरोधात् । 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे[1] णियमा पज्जत्ता' इत्यनेनार्षेण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्यास्या[2]भिप्रायेणाहारशरीरा-निष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तीनां सत्त्वाविरोधात् । कार्मणकाययोगः पर्याप्तेष्वपर्या-प्तेषूभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ? 'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं[3]' इत्येतस्मात्सूत्रादपर्याप्तेष्वेव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तिष्वपर्याप्तिषु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुण-स्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठीट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

---

शंका— 'संयतासंयत और संयतके सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं' इस आर्षवचनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— कार्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है, अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान— 'विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कार्मणकाययोग होता है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब चार गतिसंबन्धी पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका— सूत्रमें आये हुए 'नारकाः' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका समानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

---

१ मु. संजदासंजदट्ठाणे । २ मु. प्रवृत्तसूत्रस्या । ३ जी. सं. सू. ६०

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात् । विरुद्धयोः कथमेकमधिकरण-मिति चेन्न, दृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नता[1] । नारकाः मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति । समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्यः ? न, सामर्थ्यलभ्यत्वात् ।

तत्रतनशेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥८०॥

नारकाः निष्पन्नषट्पर्याप्तयः सन्तः एताभ्यां[2] गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्तावस्थायाम् । किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपरिणामा-

समाधान— नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है । और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है । अतः सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ।

शंका— समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें च शब्दका कथन करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है ।

अब नारकसंबन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तियां पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं ।

शंका— नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकियोंकि अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके निमित्तभूत परिणामोंका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान नहीं होते हैं ।

१ स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥ स. त. पृ. २६.
२ मु. ताभ्यां ॥

भावात् । सोऽपि किमिति तयोर्न स्यादिति चेत्स्वाभाव्यात् । नारकाणामग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भावमुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धायां गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भावे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते, 'णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा[1] णो णिरयगदिं जंति णो देवगदिं जंति, तिरिक्खगदिं मणुसगदिं च जंति[2] इत्यनेनार्षेण निषिद्धत्वात् । आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामेष नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात् । भस्मसाद्भावमुपगतदेहानां तेषां कथं पुनरमरणमिति[3] चेन्न देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्यनिमित्तत्वात् । अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रसङ्गात् ।

शंका— इस प्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— क्योंकि, ऐसा स्वभाव ही है ।

शंका— अग्निके संबन्धसे भस्मीभावको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममें उत्पन्न होनेवाले नारकियोंके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, अर्थात् छेदन भेदन आदिसे नष्ट हुए शरीरके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सासादन और मिश्र गुणस्थान माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये इन गुणस्थानोंमें नारकी नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह नियम नहीं बनता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोंसे नारकियोंका मरण नहीं होता है । यदि नारकियोंका मरण हो जावे, तो पुनः वे वहीं पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, 'जिनकी आयु पूर्ण हो गई है ऐसे नारकी जीव नरकगतिसे निकलकर पुनः नरकगतिको नहीं जाते हैं, देवगतिको नहीं जाते हैं । किंतु तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको जाते हैं ' इस आर्ष वचनके अनुसार नारकियोंका पुनः नरकगतिमें उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका— आयुके अन्तमें मरनेवाले नारकियोंके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है । अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नहीं ।

शंका— यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है ऐसे नारकियोंका मरण नहीं होता यह कैसे बनेगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुकर्मके विनाशका निमित्त नहीं है । अन्यथा जिसने बाल-अवस्थाके पश्चात् यौवन-अवस्थाको प्राप्त कर लिया है ऐसे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

---

१ मु. उवट्टिदसमाणा । २ मु. 'अग्नि' स्थाने सर्वत्र 'आदि' इति ।
३ मु. पुनर्मरणमिति ।

नारकाणामोघमभिधायादेशप्रतिपादनार्थमाह—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥ ८१ ॥

प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषां नारकाणां सामान्योक्तरूपेण भवन्ति, ततो[२] विशेषाभावात्। यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमपृथिवीगतनारका एव निरूपिता भवेयुरलं तया, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थं[३] तत्प्रवृत्तेः। विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थावगतिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थकमिति चेत् ? न, बुद्धीनां वैचित्र्यात्। तथाविधबुद्धयो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न, अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात्।

शेषपृथिवीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह—

इस प्रकार सामान्यरूपसे नारकियोंका कथन करके अब विशेषरूपसे कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रथम पृथिवीमें जो नारकी रहते हैं उनकी पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसंबन्धी सामान्य कथनमें और प्रथम पृथिवीसंबन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

शंका— यदि सामान्यप्ररूपणाके द्वारा प्रथम पृथिवीसंबन्धी नारकी ही निरूपित किये गये हैं, तो सामान्यप्ररूपणाके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणासे ही उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सामान्य प्ररूपणाकी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहके लिये सामान्यप्ररूपणाकी प्रवृत्ति होती है।

शंका— विशेषप्ररूपणाके विना केवल सामान्यप्ररूपणासे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसी हालतमें सामान्यप्ररूपणाका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रोताओंकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, इसलिये विशेष प्ररूपणाके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है।

शंका— जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं ऐसे बुद्धिमान् पुरुष इस कालमें तो नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आगम त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा प्रवृत्त हुआ है।

शेष पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

२ मु. कुतो ?।

३ मु. द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वा।

बिदियादि[1] जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८२ ॥

अधस्तनीषु षट्सु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्त्वात् । पृथिवीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः । सुगममन्यत् ।

शेषगुणस्थानानां तत्र क्व सत्त्वं क्व च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारेका निरसनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि—सम्मामिच्छाइट्ठि—असंजदसम्माइट्ठि णियमा पज्जत्ता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य जीवस्य मरणाभावात्[2] । भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय । न च तत्र स गुणोऽस्तीति । किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति ?

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२ ॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी ही उत्पत्ति पाई जाती है, इसलिये यहां पर प्रथम गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें बतलाई गई हैं । सूत्रमें आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ लेना चाहिये । शेष व्याख्यान सुगम है ।

उन पृथिवीयोंकी किस अवस्थामें शेष गुणस्थानोंका सद्भाव है और किस अवस्थामें नहीं, इस प्रकार जिसको शंका उत्पन्न हुई है उस भव्यकी शंकाके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण नहीं होता । परन्तु उसका दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर मरण होता है । परंतु मरणकालमें वह गुणस्थान नहीं होता, यह सब ठीक है । किंतु शेष (दूसरे, चौथे) गुणस्थानवाले जीव मरकर वहां पर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, कारण कि सासादन गुणस्थानवाला तो नरकमें उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानवालेके नरकायुका बन्ध नहीं होता ।

---

१ अ. ब. क. बिदियाए २ मु. धिष्ठितस्य मरणा ।

नैवं वक्तव्यम्, कुतः ? न तावत्[1] सासादनस्तत्रोत्पद्यते, तस्य नरकायुषो बन्धाभावात् । नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते, तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात् । नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात् । न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, क्षपितकर्मांशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, गुणितकर्मांशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टेः षट्पृथिवीषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्[2] । न नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात् । न च तच्छेदोऽसिद्धः, आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात् । ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यते इति ।

जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसा जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण नहीं होता । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी मरकर द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते । यदि कर्मस्कन्धोंकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जावे, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षपित कर्मांशिक जीवोंकी भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है । कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि गुणित कर्मांशिक जीवोंकी भी वहां पर उत्पत्ति देखी जाती है । नरकगतिका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रिय जीवोंको नरकगतिकी प्राप्तिका प्रसंग आजायगा । तथा नित्यनिगोदिया जीवोंके भी त्रसकर्मकी सत्ता विद्यमान रहती है, इसलिये उनकी भी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी । अशुभ लेश्याके सत्त्वको नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मरणके समय असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिकी कारणरूप अशुभ लेश्याएं नहीं पाई जाती हैं । नरकायुका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनरूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयु काट दी जाती है । और नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टी जीव मर कर उत्पन्न नहीं होता है ।

---

१ मु. इति ? न तावत् ।　　　२ मु. षट्सु पृथिवीषु ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानानां सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ॥ ८४ ॥

भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं, तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते, तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति ? न विरोधः, अस्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थंकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात् । नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्[1] । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राक् मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यङ्नरकायुष्कत्वात् ।

अब तिर्यंचगतिमें गुणस्थानोंके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८४ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यंचोंसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यंचसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है ?

समाधान— विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो यह सूत्रवचन अप्रमाण हो जायगा ।

शंका— जिसने तीर्थंकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यंचोंमें कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंके नारकियोंसे अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर नारकियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला आगम-प्रमाण पाया जाता है ।

शंका— सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायु और नरकायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहां पर उत्पत्ति होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

१ (णेरइया) सम्मत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण चेव णींति । जी. चू. सू. २६७.

सम्यग्दर्शनेन तत् किमिति न छिद्यते इति चेत्? किमिति तत्र छिद्यते? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः। तदपि कुतः? स्वाभाव्यात्।

तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥८५॥

मनुष्याः मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यगायुषः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ताप्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्? किञ्चातोऽप्रत्याख्यानगुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपलक्षितानामणुव्रतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः। उक्तं च[1]—

चत्तारि वि छेत्ताइं आउग बंधेण[2] होइ सम्मत्तं।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवायुगं मोत्तुं[3] ॥ १६९ ॥

शंका— सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान— उसका छेद क्यों नहीं होता है? अवश्य होता है, किंतु उसका समूल नाश नहीं होता है।

शंका— समूल नाश क्यों नहीं होता?

समाधान— बांधे हुए आयुकर्मका समूल नाश नहीं होता है इस प्रकारका स्वभाव ही है।

अब तिर्यंचोंमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका— जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायुका बन्ध करनेके पश्चात् सम्यग्दर्शनके साथ देशसंयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यंचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते? यदि होते हैं तो इससे तिर्यंच-अपर्याप्तोंमें देशसंयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतिसंबन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोंके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है। कहा भी है—

चारों गतिसंबन्धी आयुकर्मके बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

---

१ अ. प्रतौ 'उक्तं च' प्रभृति 'चत्तारि वि छेत्ताइं' इत्यादिगाथा नास्ति।
२ मु. बंधे वि। ३ प्रा. पं. १, २०१। गो. जी. ६५३. गो. क. ३३४।

न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते[1], भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः। ये निर्दानास्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात्। न च पात्रदानेऽननुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, तत्र तदनुपपत्तेः।

तिरश्चामोघमभिधायादेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति--

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥

एतेषामोघप्ररूपणमेव भवेद्विवक्षितं प्रति विशेषाभावात्।

स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह--

है, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुकर्मके बन्ध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रतको ग्रहण नहीं करता है ॥ १६९ ॥

तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता है।

शंका-- जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहां उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है।

विशेषार्थ-- क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है। अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यंचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके उत्तम भोगभूमिमें उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं। फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है।

इस प्रकार तिर्यंचोंकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करके अब उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

तिर्यंचसंबन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंकी प्ररूपणा तिर्यंचसंबन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विवक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

अब स्त्रीवेदयुक्त तिर्यंचोंमें विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

---

१ मु. स्याददते।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥

सासादनो नारकेष्विव तिर्यक्ष्वपि मोत्पादीति[1] चेन्न, द्वयोः साधर्म्याभावतो दृष्टान्तानुपपत्तेः ।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभिधातुमाह---

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

कुतः ? तत्रैतासामुत्पत्तेरभावात् । बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र

पंचेन्द्रिय-तिर्यंच योनिनी जीव मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका--- सासादन गुणस्थानवाला जीव मरकर जिस प्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी मत उत्पन्न होओ ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यंचोंमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है, इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यंचोंको लागू नहीं हो सकता है ।

इनमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका--- ऐसा क्यों होता है ?

समाधान--- क्योंकि, पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें मरकर ये उत्पन्न नहीं होते हैं ।

शंका--- जिस प्रकार बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसंबन्धी नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसी प्रकार यहां पर स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, नरकमें एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसंबन्धी विशिष्ट वेदादिकमें ही उत्पन्न होता है यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीवोंमें नहीं उत्पन्न होता है ।

---

१ मु. मोत्पादीति ।

क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम् । तिर्यगपर्याप्तेषु किन्न निरूपितमिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात् ।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत्।

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९० ॥

भवतु सर्वेषामेतेषां पर्याप्तत्वम्, नाहारशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्नाहारगतषट्पर्याप्तीनाम् । न पर्याप्तकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः, तदुदयस्या-

शंका— तिर्यंच-अपर्याप्तोंमें गुणस्थानोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त तिर्यंचोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः विना कथन किये ही इसका ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— यहां अपर्याप्त तिर्यंचोंसे लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचोंका ग्रहण करना चाहिये । और लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । अतः उनके विषयमें यहां पर अधिक नहीं कहा गया है ।

अब मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है ।

मनुष्योंमें शेष गुणस्थानोंके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९० ॥

शंका— सूत्रमें बताये गये इन सभी गुणस्थानवालोंको पर्याप्तपना प्राप्त होओ, परंतु जिनकी आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके पर्याप्तपना नहीं बन सकता है । यदि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्तसंयतोंको पर्याप्तक कहा जावे, सो

विशेषतोऽसंयतसम्यग्दृष्टीनामपि अपर्याप्तत्वस्याभावापत्तेः । न च संयमोत्पत्त्यवस्था-पेक्षया तदवस्थायां प्रमत्तस्य पर्याप्तत्वं घटते, असंयतसम्यग्दृष्टावपि तत्प्रसङ्गादिति ? नैष दोषः, अवलम्बितद्रव्यार्थिकनयत्वात् । सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यत इति चेन्न, तत्र निमित्ताभावात् । किमर्थमत्रावलम्ब्यत इति चेत्पर्याप्तैरस्य साम्यदर्शनं तदवलम्बनकारणम् । केन साम्यमिति चेद् ? दुःखाभावेन । उपपातगर्भसम्मूर्च्छज-शरीराण्याददानानामिव[1] आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं प्रमत्तस्योपचर्यत इति यावत् । पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युपचर्यते ।

भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्तकर्मका उदय प्रमत्तसंयतोंके समान असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्थामें पाया जाता है, इसलिये वहां पर भी अपर्याप्तपनेका अभाव मानना पड़ेगा । संयमकी उत्पत्तिरूप अवस्थाकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतके आहारककी अपर्याप्त अवस्थामें पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी अपर्याप्त अवस्थामें (सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा) पर्याप्तपनेका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतोंको आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है ।

शंका— उस द्रव्यार्थिक नयका दूसरी जगह (विग्रहगतिसंबन्धी गुणस्थानोंमें) आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनके निमित्त नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर यहां पर द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किस लिये लिया जा रहा है ।

समाधान— आहारकसंबन्धी अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त हुए प्रमत्तसंयतकी पर्याप्तकोंके साथ समानताका दिखाना ही यहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनका कारण है ।

शंका— इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ किस बातसे समानता है ?

समाधान— दुःखाभावकी अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ समानता है ? जिस प्रकार उपपातजन्म, गर्भजन्म या संमूर्छनजन्मसे उत्पन्न हुए शरीरोंको धारण करनेवालोंके दुःख होता है, उस प्रकार आहारशरीरको धारण करनेवालोंके दुःख नहीं होता है, इसलिये उस अवस्थामें प्रमत्तसंयत पर्याप्त है इस प्रकारका उपचार किया जाता है । अथवा, पहले अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके बिना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है, या दुःखके बिना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त

१ मु. ण्यावधानानामिव

निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः[1]। एवं समुद्घातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह--

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति, विरोधात्। ततः 'एवं पज्जत्ता' इति कथमेतद्घटत इति ? नैष दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः। कथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धयत इति। पर्याप्तनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तता। एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामें भी पर्याप्त है, इस प्रकारका उपचार किया जाता है। निश्चयनयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है। इसी प्रकार समुद्घातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

मनुष्य-सामान्यके कथनके समान मनुष्य पर्याप्त होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका-- पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओंका परस्पर विरोध है। इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे घटित होगा ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकोंमें भी अपर्याप्तपना बन जाता है।

शंका-- जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके पर्याप्तपना कैसे बनेगा ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है। भात पक रहा है, यहां पर जिस प्रकार चावलोंको भात कहा जाता है, उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियां पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उसके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी कथन करना चाहिये। शेष कथन सुगम है।

विशेषार्थ-- मनुष्य पर्याप्तकोंमें पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके

---

१ औदारिकाद्या: शुद्धास्त-पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तथोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन, औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियकाहारककरणकाले वैक्रियकाहारकाभ्यां मिश्रो भवतीति । एवमौदारिकमिश्रः। तथा वैक्रियकमिश्रो देवाद्युत्पत्तौ कार्मणेन, कृतवैक्रियस्य औदारिकप्रवेशाद्धायामौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति । स्था. ३ का. १३. (अभि. रा. को. जोग.)

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः। अथवा स्यादित्ययं निपातः कथञ्चिदित्येतस्मिन्नर्थे[1] वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीर-निष्पत्त्यपेक्षया वा। स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्। सुगममन्यत्।

तत्रैव शेषगुणविषयारेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे[2] णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेत्? नोत्पद्यन्ते।

पुरुषवेदी मनुष्योंका अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, आगममें जो मनुष्योंके चार भेद किये हैं उनमेंसे जिनके पर्याप्त नामकर्मका उदय विद्यमान है ऐसे पुरुषवेदी मनुष्योंको मनुष्य पर्याप्त कहा है। इस पर शंकाकारका कहना है कि जिनके पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्त-कोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है। इसी शंकाको ध्यानमें रखकर यहां समाधान किया गया है।

अब मनुष्यिनियोंमें गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्यिनियां मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं ॥ ९२ ॥

यहां पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्वृत्त्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर लेना चाहिये। अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथंचित् अर्थमें रहता है। इसके अनुसार कथंचित् पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-पर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं। और कथंचित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं। शेष कथन सुगम है।

अब मनुष्यिनियोंमें ही शेष गुणस्थानविषयक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्यिनियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका— हुण्डावसर्पिणी कालके दोषसे स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान— उनमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

---

१ मु. दित्यस्मिन्नर्थे। २ मु. संजदासंजद-ट्ठाणे

कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः[1] सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति।

समाधान— इसी आर्षवचनसे जाना जाता है।

शंका— तो इसी आर्षवचनसे द्रव्य-स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका— वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्य-स्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं है?

समाधान— उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव संयमके मानने पर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

शंका— तो फिर स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— बादरकषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अर्थात् गतिमार्गणामें वेदकी प्रधानता नहीं है, किंतु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका— यद्यपि मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव हैं। फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

मनुष्य अपर्याप्तकोंमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेसे और उनका कथन सुगम होनेसे इस विषयमें कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है। इसलिये इस संबन्धमें स्वतंत्ररूपसे नहीं कहा गया है।

---

१ मु. निर्वृत्तिः।

देवगतौ निरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९४॥

अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति ? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि, कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्स्त्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्।

अब देवगतिमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शंका— विग्रहगतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किंतु वहां पर कार्मणशरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है ? उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गई है। परंतु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसंबन्धी एक, दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिये यहां पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न तीसरी भी अवस्था कहना चाहिये ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कार्मणशरीरमें स्थित जीवोंकी अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयुसंबन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जाती है। इसलिये कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंका अपर्याप्तकोंमें ही अन्तर्भाव किया जाता है। अतः संपूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएं ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९५ ॥

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-

गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-गर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा[1] देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९६ ॥

इसी गतिमें शेष गुणस्थानोंकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका— यह कैसे ?

समाधान— क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ उनका मरण नहीं होता है । तथा अपर्याप्त कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— 'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियां तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

---

१ भवनेषु वसन्तीत्येवं शीला भवनवासिनः । विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तराः । द्योतन-स्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः । स. सि. त. रा. वा ४. १०–१२. भवनेषु अधोलोकदेवावासविशेषेषु वस्तुं शीलमस्येति । अभि. रा. को. (भवणवासि) विविधं भवननगरावासरूपमन्तरं येषां ते व्यन्तराः । × × अथवा विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः । तथाहि, मनुष्यानपि चक्रवर्तिवासुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुष्येभ्यो विगतान्तराः । यदि वा विविधमन्तरं शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'वाणमन्तरा' इति पाठः । यदि वानमन्तरा इति पदसंस्कारः, तत्रेयं व्युत्पत्तिः, वनानामन्तराणि वनान्तराणि, तेषु भवा वानमन्तराः । पृषोदरादित्वादुभयपदान्तरालवर्तिमकारागमः ।

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम्। अन्यत्सुगमम्।

तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, किन्त्वेतन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति? न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात्। नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूत्पद्यमानस्तत्र[1] तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यत[2] इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्। तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात्। तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी पूर्वोक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति होती है, अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। शेष कथन सुगम है।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण नहीं होता है। परंतु यह बात नहीं बनती है कि मरनेवाला असंयतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका— जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्पवासिनी देवियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो आयुकर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है।

प्रज्ञा. १ (पत्र. अभि. रा. को. वाणमंतर) द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः। उत्त. २ अ.। ज्योतींषि विमानविशेषाः, तेषु भवा ज्योतिष्काः। स्था. ५ ठा. १ उ. (अभि. रा. को.– ज्योतिष्क, ज्योसिष्क.)

1 मु. पूत्पद्यमानास्तत्र। 2 मु. नोत्पद्यन्त।

भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात् तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसकविकलैकेन्द्रिय[1]लब्ध्यपर्याप्तककर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

शेषदेवेषु गुणावस्थाप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति---

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्जं[2] ति विमाणवासिय[3]-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका--- सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिस प्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोंमें क्यों नहीं होती है ?

समाधान--- यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

शंका--- यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुकर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस उस गतिसंबन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसंबन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सब प्रकारकी स्त्रियोंमें, प्रथम नरकके बिना सब प्रकारके नपुंसकोंमें, विकलत्रयोंमें, एकेन्द्रियोंमें लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यंचोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है । इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

शेष देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

सौधर्म और ऐशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवोंसंबन्धी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

१ मु. विकलेन्द्रिय-

२ लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः । ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि । तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः । त. रा. वा. ४. १९. ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्तिप्रदेशः तन्निविष्ट-तयातिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतत्वाद् ग्रैवेयका देवावासाः, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः । उत्त. ३६. अ. (अभि. रा. को. गेविज्जक.)

३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिकाः । स. सि., त. रा. वा. ४. १६. विविधं मन्यन्ते उपभुज्यन्ते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानानि । तेषु भवाः वैमानिकाः । से किं तं वेमाणिया ? वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा कप्पोपगा य कप्पाईया य । × × कल्प आचारः, स चेह

भवत्यत्रोभयावस्थासु गुणत्रयस्यास्तित्वम्[1], तस्य तेषूत्पत्तिं प्रति विरोधासिद्धेः। सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते, सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्। तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्तान्तस्तापानां[2] सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः। तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्तित्वमिष्यतव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्नानामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्। तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मैशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मैथुनसेवनम्, काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवाः दिव्याङ्गनाशृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेष-

शंका— सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तकके देवोंकी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानोंका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोंकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति विरोध नहीं है। किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि, सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवांगनाओंके उत्पन्न होनेका जिस प्रकार कथन किया गया है, उस प्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है। इसलिये वहां स्त्रियोंके अभाव रहने पर, जिनका स्त्रीसंबन्धी अन्तस्ताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके विना सुख कैसे हो सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प-संबन्धी स्त्रियोंकी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है।

शंका— तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं, तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोंका सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व होनेमें विरोध आता है।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं। मैथुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका कायमें प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहांकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं। जिस कारण ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवांगनाओंके शृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिव्यवहारकल्पस्तमुपन्नाः प्राप्ताः कल्पोपगाः सौधर्मैशानादिदेवलोकनिवासिनः। यथोक्त-रूपं कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः। प्रज्ञा. १ पद. (अभि. रा. को. वेमाणिय.)

१ मु. गुणत्रयास्तित्वं। २ मु. शान्तस्तस्तापानां।

रूपालोकमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः। यतः शुक्रमहाशुक्रशतार-सहस्रारेषु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति[1] ततस्ते मनःप्रवीचाराः। प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत्।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

अणुद्दिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्ठ-सिद्धिविमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं। जिस कारण शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं। जिस कारण आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें संकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे मनसे प्रवीचार करनेवाले हैं। वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं। उस वेदनाका अभाव होनेसे नव ग्रैवेयकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचाररहित हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब शेष देवोंमें गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ १०० ॥

१ स. सि. ४. ८., त. रा. वा. ४. ८., वा. ५.

२ नैषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि। अनु. अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधायन्तदीपकार्थम् । ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथावसरं वक्ष्यामः । एवं योगनिरूपणावसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तित्वम् । शेषमार्गणासु अयमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत् ? नोच्यते, अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात् ।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः, स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः । अथवा[1] पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः । स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः । अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । उक्तं च—

ये पांच विमान सबसे अन्तमें हैं इस बातके प्रगट करनेके लिये पांचों ही विमानोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये । परंतु उनका वर्णन यथावसर करेंगे ।

इस प्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारों गतियोंमें संपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई ।

शंका— शेष मार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं कहते हैं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें इस विषयका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि, चारों गतियोंको छोड़कर अन्य मार्गणाएँ नहीं पाई जातीं ।

अब वेदसहित गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो दोषोंसे स्वयं अपनेको और दूसरेको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । वह स्त्रीवेद जिनके पाया जाता है वे स्त्रीवेदी कहलाते हैं । अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है । जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीके वेदको स्त्रीवेद कहते हैं । कहा भी है—

उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः । भ. ६. श. ६. उ. अत्थि णं भंते अणुत्तरोववाइया देवा । हंता । अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? गोयमा । अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सद्दा, अणुत्तरा रूवा, जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठेणं गोयमा । एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा । भ. १४ श. ७. उ. (अभि. रा. को. अणुत्तरोववाइय.)

१ मु. वेदश्च स्त्रीवेदः । अथवा ।

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी[1] ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनवगत[2]-गुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्त्र्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वा[3]-भिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः । उक्तं च—

पुरु-गुण-भोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो[4] ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्नपुंसकः,[5] उभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च—

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करती है और मधुर संभाषण, कटाक्ष–विक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोंको भी अब्रह्म आदि दोषोंसे आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान गुणोंको नहीं जानता है और भोगोंको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसंबन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ गुणयुक्त कर्म करता है वह पुरुष है ।

शंका— जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम गुणयुक्त कर्म कैसे कर सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उत्तम गुणयुक्त कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके सहचरितपनेकी अपेक्षा वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है । कहा भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें सोता है अथवा जो लोकमें उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है—

---

१ प्रा. पं. १, १०५ । गो. जी. २७४. नयतः मृदुभाषितस्निग्धविलोकनानुकूलवर्तनादिकुशलव्यापारैः । जी. प्र. टी. २ मु. सदसुगत । ३ मु. जीवस्य तत्कर्तृत्वा

४ प्रा. पं. १, १०६ । गो. जी. २७३. पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे । पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगचये । पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं । पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे । जी. प्र. टी. ५ मु. पुंसकमुभ ।

णेवित्थी णेव पुमं णवुंसओ उभय-लिंग-वदिरित्तो ।
इट्टावाग[1]-समाणग-वेयण-गरुओ कलुस चित्तो[2] ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् । सर्वत्र सन्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । उक्तं च—

कारिस-तणिट्टवागग्गि[3]-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मुक्का ।
अवगय-वेदा जीवा सग-संभवणंत-वर-सोक्खा[4] ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०२ ॥

उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणै-

---

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किंतु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे रहित है, अवाकी अग्निके समान तीव्र वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥१७२॥

जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप (अन्तरंग दाह) दूर हो गया है वे अपगतवेद जीव हैं ।

सूत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ 'सन्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये । कहा भी है—

जो कारीष (कण्डेकी) अग्नि, तृणाग्नि और इष्टापाकाग्नि (अवेकी अग्नि) के समान परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित हैं और अपनी आत्मासे उत्पन्न हुए अनन्त और उत्कृष्ट सुखके भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकमें अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका— इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

---

१ मु. इट्टावाग ।

२ प्रा. पं. १, १०७ । गो. जी. २७५. तथापि स्त्रीपुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणो भावनपुंसकवेदोऽस्तीति आचार्यस्य तात्पर्यं ज्ञातव्यं । जी. प्र. टी.

३ मु. तणिट्टवागग्गि ।

४ प्रा. पं. १, १०८ । गो. जी. २७६. यद्यपि अपगतवेदानिवृत्तिकरणादीनां वेदोदयजनितकामवेदनारूपसंक्लेशाभावः तथापि गुणस्थानातीतमुक्तात्मनां स्वात्मोत्थसुखसद्भावः ज्ञानादिगुणसद्भाववद्दर्शितः । परमार्थवृत्त्या तु अपगतवेदानामेषामपि शुद्धोपयोगस्वास्थ्यलक्षणपरमानंदो जीवस्वभावोऽस्तीति निश्चेतव्यः । जी. प्र. टी.

कस्मिन् सत्त्वविरोधात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेद्भिन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायेणैकद्रव्याधारतया च । तत्र न[1] नपुंसकवेदस्याभावः, तत्र द्वावेव वेदौ भवत इत्यवधारणाभावात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेत् ? ' तिरिक्खा ति-वेदा असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ' एतस्मादार्षात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसत्त्वप्रतिपादनार्थमाह--

णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति[2] ॥ १०३ ॥

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति

....

समाधान--- नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका--- तो फिर नवमें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ?

समाधान--- भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपनेकी अपेक्षा और पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपनेकी अपेक्षा नवमें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायकी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नवमें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नवमें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका (सूत्रमें) अभाव है ।

शंका--- यह बात किस प्रमाणसे जानी जाय कि नवमें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान--- ' असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं ' और ' मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नवमें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका--- एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

---

१ ब. न तत्र

२ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८. थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य । अणियट्टिस्स य पढमो भागो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥ गो. जी. ३८५.

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धयेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भबलेन तत्सिद्धेः । न स छद्मस्थेष्वस्ति । एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषा[1] घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि[2] ॥ १०४ ॥

समाधान— एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहां पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु संपूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ— इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोंमें वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें यद्यपि इन्द्रियोंसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उसका ग्रहण होता है । अतः एकेन्द्रियोंमें इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका— जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं ऐसे एकेन्द्रियोंके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ— यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमें वृद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोंके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नवमें गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव अपगतवेद होते हैं ॥ १०४ ॥

---

१ मु. विषयाभिलाषे. अ विषयोऽभिलाषो.

२ अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि । स. सि. १. ८.

शेषगुणमधिष्ठिताः सर्वेऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्याभावः, तेनाधिकाराभावात्[1] । अधिकृतोऽत्र भाववेदः, ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥ १०५॥

नारकेषु शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत[2] इति चेत् 'सुद्धा णवुंसयवेदा' इत्यार्षात् । शेषवेदौ तत्र किमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्सत्त्वविरोधात् । स्त्रीपुरुषवेदावपि[3] दुःखमेवेति चेन्न, इष्टकापाकाग्निसमानसन्तापात् न्यूनतया[4] तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात् ।

तिर्यग्गतौ वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ॥ १०६॥

नवमें गुणस्थानके सवेद भागसे आगे शेष गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीव अपगतवेद होते हैं । परंतु आगेके गुणस्थानोंमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, द्रव्यवेदका यहां अधिकार नहीं है । यहां पर तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अब वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव चारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका— नारकियोंमें नपुंसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— 'नारकी शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं, इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि वहां अन्य दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— वहां पर शेष दो वेद क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुःखी उनमें शेष दो वेदोंके सद्भाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका— स्त्री और पुरुषवेद भी दुख ही हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवाकी अग्निके समान संतापसे न्यून होनेके कारण तृण और कण्डेकी अग्निके समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुखरूप हैं ।

अब तिर्यंचगतिमें वेदोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

---

१ मु. तेन विकारा । २ मु. कथमवसीयत ।
३ मु. वेदावपि । ४ मु. सन्तापान्न्यूनतया ।

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुद्धा णवुंसगवेदा' इत्यार्षात्। पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्।

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात्। [1]पर्यायत्वात् कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। सुगममन्यत्।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०८ ॥

शंका— चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष दो वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— 'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नहीं होते हैं।

शंका— चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये वे नपुंसकवेदी नहीं हो सकते है ?

समाधान— अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ— माता-पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है। इस प्रकार गर्भधारणा चींटियोंके नहीं पाई जाती है। अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये।

विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहां पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है।

शेष तिर्यंचोंके कितने वेद होते हैं, इस प्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है। पर्यायस्वरूप होनेसे जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते है, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक किसी एक वेदका उदय पाया जाता है। शेष कथन सुगम है।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले होते हैं ॥ १०८ ॥

---

१ मु. नाक्रमेण पर्यायत्वात्। कषाय।

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः[1]। सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा-इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्राद्ुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत् ? 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतनः 'च' शब्दो[2] यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्ततस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न

शंका— संयतोंके तीनों वेदोंका सत्व कैसे संभव है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव अपगतवेद हैं ॥ १०९ ॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका— यत्नके विना अर्थात् विना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान— 'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसी प्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्य तथा संमूर्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

---

१ मु. तथोक्तम् । २ मु. अत्रतन च शब्दः ।

नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह–

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्येनैकत्वाद्बहूनामप्येकवचनं घटते । क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यम्, कषायेभ्यस्तद्वतां भेदात् इति ? न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं भिन्नस्तन्निर्देशो[1] घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं। इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाके द्वारा गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं–

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी– सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन बन जाता है। जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी। अथवा, 'कोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि'– अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं। इत्यादि प्रयोगोंमें बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'कोधकसाई' की तरह 'सिही' इस प्रकार रूपोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये इस प्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये।

शंका– सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है ?

समाधान– नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं।

शंका– यदि कषाय और कषायवान्‌में भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान– नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके बन जानेमें कोई विरोध नहीं आता है।

विशेषार्थ– यद्यपि कषायादि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-

---

१ मु. भिन्न तन्निर्देशो ।

इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात् । कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यत इति वा । यथोपदेशमनुवदनमनुवादः, कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः, तेन कषायानुवादेन । प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादिति ? न, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । कः क्रोधकषायः ? रोष आमर्षः संरम्भः । को मानकषायः ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः । निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च–

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं। फिर भी धर्म-धर्मीभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भिन्न निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है। और अर्थनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषायी' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है। अथवा, चार प्रकारके कषायवान् जीव होते हैं, इससे कषाय भी चार प्रकारकी हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसलिये सूत्रमें 'क्रोधकषायी' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है।

जिस प्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद कहते हैं। कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं। उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं। अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं।

शंका— 'कथामार्ग अर्थात् कथनपरंपराएं प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं' इस न्यायके अनुसार यहां पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थंकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है।

शंका— क्रोधकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं।

शंका— मानकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे अन्यके प्रति नम्र न होनेको मान कहते हैं।

निकृति या वंचनाको मायाकषाय कहते हैं। गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं, कहा भी है—

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो[1] ॥ १७४ ॥

सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो[2] ॥ १७५ ॥

वेलुवमूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तएण खोरप्पे ।
सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरेसु जणइ जीवं[3] ॥ १७६ ॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्द-राएण सरिसओ लोहो ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो[4] ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है— पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान। ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका है— पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा बेतके समान। ये चार प्रकारके मान क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया चार प्रकारकी है— बांसकी जड़के समान, मेढ़ेके सींगके समान, गोमूत्रके समान तथा खुरपाके समान। यह चार प्रकारकी माया क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकषाय चार प्रकारका है— क्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके मलके समान और हल्दीके रंगके समान। यह क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ प्रा. पं. १, १११ । गो. जी. २८४. तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्तिकारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्बध्नातीत्यर्थः । अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची न तु पंक्तिवाची । यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना अनुसन्धानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्यात् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः । जी. प्र. टी. णगपुढविवालुगोदयराईसरिसो चउव्विहो कोहो । कसायपाहुड, जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो । क. ग्रं. १. १९.

२ प्रा. पं. १, ११२ । गो. जी. २८५. सेलघणअट्ठिदारुअलदासमाणो हवदि माणो ॥ कसायपाहुड. तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो । क. ग्रं. १. १९.

३ प्रा. पं. १, ११३ । गो. जी. २८६. वंसीजण्हुगसरिसी मेढविसाणसरिसी य गोमुत्ती । अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ कसायपाहुड. मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघनवंसिमूलसमा । क. ग्रं. १. २०.

४ प्रा. पं. १, ११४ । गो. जी. २८७. किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो । हालिद्दवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ कसायपाहुड. लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसमाणो ।

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च—

> अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त-कोधादी ।
> जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा¹ ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

संपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं। कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया-कषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका— अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

क. ग्रं. १. २०.

१ प्रा. पं. १, ११६ । गो. जी. २८९. यद्यपि उपशांतकषायादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽपि अकषायाः अमलाश्च यथासंभवं द्रव्यभावमलरहिताः संति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररूपणयैव अकषायत्वसिद्धिरस्तीति ज्ञातव्यं । तद्यथा, कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः स्वस्यैव बन्धनहेतुः स्वशिरोऽभिघातादिबाधाहेतुः हिंसाद्य-संयमहेतुश्च भवति । कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः परस्य स्वशत्र्वादेर्बाधनबंधनासंयमहेतुर्भवति । कस्यचि-त्कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषायः स्वपरयोरपि यथासंभवं बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति इति विभागः लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यः । जी. प्र. टी.

२ कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्टयादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति । स. सि. १.८.

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा त्ति ॥ ११३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-साम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति[२] ॥ ११४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत् ? कथं च न भवति ? द्रव्य-कषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ ११३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषायका विनाश बन नहीं सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषायरहित जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका— उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशंका— यह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है ?

शंका— वहां अनन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका— कषायोंका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन करनेमें कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है, इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की।

१ लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसाम्परायस्थानाधिकानि । स. सि. १. ८.

२ अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति । स. सि. १. ८.

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः। ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्। किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च। अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा। जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीयकर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा। तदपि ज्ञानं द्विविधम्—

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति-अज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् अभेद होनेसे पर्यायीके ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है। अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है। इसलिये पर्यायीके कथनद्वारा यहां पर उपदेश दिया है।

शंका— ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है। जैसे, पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है।

शंका— वह ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान— तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रका धारण करना ज्ञानका कार्य है। अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे, जिस वनमें आमके वृक्षोंकी बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते। अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं। अथवा, जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षं परोक्षमिति । परोक्षं द्विविधम्— मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् । तदपि चतुर्विधम्— अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः[1] । अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणमीहा । ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः । कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा[2] । अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाक्षुषं[3] चतुर्विधम्— मतिज्ञानमवग्रहः ईहावायो धारणा चेति । एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम् । अथवा अष्टाविंशतिविधम् । तद्यथा, अवग्रहो द्विविधः— अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेत् ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः ।

वह ज्ञान दो प्रकारका है— प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके दो भेद हैं— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । वह मतिज्ञान चार प्रकारका है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं । ईहाके द्वारा जाने गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका है इस प्रकार कथन करना चाहिये । इस प्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकारका है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। अवग्रह दो प्रकारका है— अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ।

शंका—— अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—— अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

---

१ विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । स. सि. १. १५. विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः । त. रा. वा. १. १५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः । विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्थः विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियं अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणं तदनन्तरभूतं सन्मात्रं दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरं परिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । लघीयस्त्र. स्वो. वृ. लि. पृ. २ प्र. पं. १–३ । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । तत्त्वार्थ. भा. १. १५. विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । प्रमाणनयत. २. ७. अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः । प्रमाणमी. १. १. २७.

२ एषां विशेषार्थपरिज्ञानाय विशेषावश्यकभाष्यं १७९, तः २५०. गाथान्तं यावद् द्रष्टव्यम् । उग्गहो एक्कं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु । कालमसंखं संखं च धारणा होई णायव्वा ॥ आ. नि. ४.

३ मु. चाक्षुषं च ।

को व्यञ्जनावग्रहः ? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः[1]। तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। शेषेन्द्रियेष्व-प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश

शंका— व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं।

उनमें, चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं।

शंका— शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधियोंके होने पर जिस प्रदेशमें निधिस्थित है उस प्रदेशमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है,

---

१ व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति। × × ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः ? अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः। कथम् ? अभिनवशरावार्द्रीकरण-वत्। यथा जलकणद्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः। व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। स. सि. १. १८। त. रा. वा. १. ५८. वा. २. अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनमिष्यते। तस्यावग्रह एवेति नियमोऽध्यक्षबद्गतः॥ त. श्लो. वा. १. १८. २. × × इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यंजनावग्रहः। तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थावग्रह इत्यर्थः। व्यंजनं अव्यक्तं शब्दादिजातं इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यानेन सह संगतमिति चेदुच्यते, विगतं-अंजनं-अभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यंजनं। व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनं। अंजु गतिव्यक्ति-म्रक्षणेष्विति व्यक्तिम्रक्षणार्थयोर्ग्रहणात्। शब्दाद्यर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यंजन-मित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशरावत्। पुनरभिव्यक्तौ सत्यां स एवार्थो भवति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३०७. × × अर्थ्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः, सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थ-ग्रहणमेकसामयिकमित्यर्थः। तथा व्यज्यते अनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यंजयितुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यंजनं। × × व्यंजनेन-सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थ-स्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः। अथवा व्यज्यन्ते इति व्यंजनानि, कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट्, व्यंजनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रहः अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। × × इयमत्र भावना उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथमसमयादारभ्यार्थावग्रहात् प्राक् या सुप्तमत्तमूर्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्रविषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनाव-ग्रहः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः। नं. सू. पृ. १६८. २ कोऽर्थावग्रहः व्यंजनावग्रहो वा ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः। न स्पष्टास्पष्टग्रहणे ऽर्थव्यंजनावग्रहौ। तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यंजनाव-ग्रहस्य सत्त्वप्रसंगादस्तु चेन्न, न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामिति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात्। न शनैर्ग्रहणं व्यंजनाव-

एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः। शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव। यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरमशेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत्। न चैवमनुपलम्भात्। न कार्त्स्न्येनाप्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्य-

इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है।

शंका— इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान— यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे। तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता। किंतु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिःसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं। जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे।

ग्रहः चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वतः तयोरप्यर्थावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्। न च तत्र शनैर्ग्रहणमसिद्धमक्षिप्रभंगाभावे अष्टचत्वारिंशच्चक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसंगात्। न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहः तत्र प्राप्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोपलंभात् इति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तग्रहणस्योपलंभात्। तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः। चत्तारि धणुसयाइं चउसट्ठिसयं च तह य धणुहाणं। पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णि त्ति॥ × × इति आगमाद्वा तेषामप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते। नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंधैकदेशमागम्येन्द्रियसंबद्धं जानंतीति केचिदाचक्षते तन्न घटते, अध्वानप्ररूपणायाः वैफल्यप्रसंगात्। न चाध्वानं द्रव्याल्पीयस्त्वस्य कारणं स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि संचरज्जीमूतव्रातोपलम्भतोऽनेकान्तात्। किंच यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाण्यध्वाननिरूपणमन्तरेण द्रव्यप्रमाणप्ररूपणमेवाकरिष्यन्न चैव तथानुपलंभात्॥ किं च नवयोजनान्तरस्थिताग्निविषाभ्यां तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमानां दाहमरणे स्यातां प्राप्तार्थग्रहणात् तावन्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणतद्गंधजनितदुःखे च तत एव स्याताम्। पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं चेय पस्सदे रूवं। गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि॥ इत्यस्मात् सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न, अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवाभावप्रसंगात्। कथं पुनरस्याः गाथाया अर्थो व्याख्यायते ? उच्यते, रूपमस्पृष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति च-शब्दान्मनश्च। गंधं रसं स्पर्शं च बद्धं स्वकं स्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पृष्टं च-शब्दादस्पृष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णंति। पुट्ठं सुणेइ सद्दं इत्यत्रापि बद्धं च शब्दौ योज्यौ अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः। धवला ६९८-६९९.

कारित्वमिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः, तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगन्ध-स्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादि-सिद्धेः । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः, यथा दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्त्वेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः । एवमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम्[1] । तत्र शब्दलिङ्गजं

शंका— तो फिर क्या है ? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं । ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है । इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

ऊपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह है । जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । निश्चित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है । 'वह यही है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं । 'वह यह नहीं है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं । इसी प्रकार ईहादिसंबन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये । इन सभी भेदोंको मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धूमादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अंग

---

१ अवग्गहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं । तं च दुविहं, सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि । धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो । अवरो सद्दलिंगजो । किं लक्खणं लिंगं ? अण्णहाणुववत्ति लक्खणं । धवला. अ. पृ. ११७१.

द्विविधमङ्गमङ्गबाह्यमिति । अङ्गश्रुतं द्वादशविधम् । अङ्गबाह्यं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम्[1], अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थ-परिच्छेदकमवधिज्ञानम् । साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्[2] । साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्[3] । मिथ्यात्वसमवेत-मिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम् । तेनैव समवेतः शाब्दः प्रत्ययः श्रुताज्ञानम् । तत्समवेत-मवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । उक्तं च—

> विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण ।
> जा खलु पवत्तइ मदी मदि-अण्णाणे त्ति तं बेंति[4] ॥ १७९ ॥
> आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा ।
> तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति तं बेंति[5] ॥ १८० ॥

और अंगबाह्य । अंगश्रुत बारह प्रकारका है और अंगबाह्य चौदह प्रकारका है ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते हैं । कहा भी है—

दूसरेके उपदेश बिना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

---

१ अपरायत्तं णाणं पच्चक्खं तिविहमोहिमाईयं । जं परतो आयत्तं तं पारोक्खं हवइ सव्वं ॥ बृ. क. सू. २९.

२ तं मणपज्जवणाणं जेण वियाणाइ सन्निजीवाणं । दट्ठुं मणिज्जमाणे मणदव्वे माणसं भावं । बृ. क. सू. ३५.

३ दव्वादिकसिणविसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं । अणिवारियवावारं अणंतमविकप्पियं नियतं । बृ. क. सू. ३८.

४ प्रा. पं. १, ११८ । गो. जी. ३०३. उपदेशपूर्वकत्वे श्रुतज्ञानत्वप्रसंगात् । उपदेशक्रियां विना यदीदृशमूहापोहविकल्पात्मकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहकारणं आर्तरौद्रध्यानकारणं शल्यदंडगारवसंज्ञाद्यप्रशस्त-परिणामकारणं च इन्द्रियमनोजनिताविशेषग्रहणरूपं मिथ्याज्ञानं तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यम् । जी. प्र. टी.

५ प्रा. पं. १, ११९ । गो. जी. ३०४. आ समंताद्भीताः आभीताः चोराः तच्छास्त्रमप्याभीतं । असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षाः तलवराः तेषां शास्त्रमासुरक्षं । आदिशब्दाद्यन्मिथ्यादर्शनदूषित-सर्वथैकान्तवादिस्वेच्छाकल्पितकथाप्रबंधभुवनकोशहिंसायागादिगृहस्थकर्म त्रिदंड जटाधारणादितपःकर्मषोड-शपदार्थषट्पदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयपंचविंशतितत्त्वब्रह्माद्वैतचतुरार्यसत्यविज्ञानाद्वैतसर्वशून्यत्वादि-प्रतिपादकागमाभासजनितं श्रुतज्ञानाभासं तत्सर्वं श्रुताज्ञानमिति निश्चेतव्यं, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थविषयत्वात् । जी. प्र. टी.

विवरीयमोहिणाणं खइयुवसमियं च कम्म-बीजं च ।
वेभंगो त्ति पउच्चइ समत्त-णाणीहि समयम्हि[1] ॥ १८१ ॥
अभिमुह-णियमिय-बोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
बहु-ओग्गहाइणा खलु कय-छत्तीस-ति-सय-भेयं[2] ॥ १८२ ॥
अत्थादो अत्थंतर-उवलंभो तं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहिय-पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं[3] ॥ १८३ ॥
अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णिदं समए ।
भव-गुण-पच्चय-विहियं तमोहिणाणे त्ति णं वेंति[4] ॥ १८४ ॥

सर्वज्ञोंके द्वारा आगममें क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अवधिज्ञानको विभंग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक बारह प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संबन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस प्रकार दो भेद हैं। उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इसलिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

---

१ प्रा. पं. १, १२० । गो. जी. ३०५. विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंगः विपर्ययः विभंग इति निरुक्ति-सिद्धार्थस्यैव अनेन प्ररूपितत्वात् । जी. प्र. टी. विरुद्धो वितथो वा अन्यथा वस्तुभंगो वस्तुविकल्पो यस्मिंस्तद्विभङ्गं, तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञानं मिथ्यात्वसहितोऽवधिरित्यर्थः । सू. ५४२ (अभि. रा. को. विभंगणाण.)

२ प्रा. पं. १, १२१ । गो. जी. ३०६. स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्येन्द्रियस्य अयमेवार्थः इत्यवधारितो नियमितः । अभिमुखश्चासौ नियमितश्चासौ अभिमुखनियमितः । तस्यार्थस्य बोधनं अभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः । जि. प्र. टी.

३ प्रा. पं. १, १२२ । गो. जी. ३१५. जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं भवति । ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसंबंधसंकेतसंकलनपूर्वकं यद् ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । वातशीत-स्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शे अभद्रोज्ञानमनक्षरात्मकं लिंगजं श्रुतज्ञानं भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात् जी. प्र. टी.

४ प्रा. पं. १, १२३ । गो. जी. ३७०. अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः । स. सि. १, ९ अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽवागधारयवाग्धानमात्रं वावधिः । अवधिशब्दोऽध

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं[1] ।
मणपज्जवं त्ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णर-लोए[2] ॥ १८५ ॥
संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त-सव्व-भाव-गयं ।
लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[3] ॥ १८६ ॥

इदानीं गतीन्द्रियकायगुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका भूतकालमें चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोंके व्यक्त हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत-शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मोंके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असपत्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अब गति, इन्द्रिय और कायमार्गणान्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पर्यायवचनः, यथाऽधः क्षेपणमवक्षेपणं, इत्यधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः । अथवावधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम् । त. रा. वा. १. ९, वा. ३. अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । अथवा अवधिर्मर्यादा रूपित्वेन द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । यद्वा अवधानम्-आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः । नं. सू. प. ६५.

१ मु. भेयं च ।

२ प्रा. पं. १, १२५ । गो. जी. ४३८. परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः । स. सि. १. ९. मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः । त. रा. वा. १. ९. वा. ४. स मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोमात्रार्थो (मनस्यन्तेऽर्थाः?) मनोगताः । परेषां स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम् ॥ त. श्लो. वा. १. ९. ७. परि सर्वतो भावे अवनं अवः । × × अयनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः । अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः, भावेऽल् प्रत्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः । × × अथवा मनः-पर्याय-ज्ञानमिति पाठः ततः मनांसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम् । नं. सू. पृ. ६६.

३ प्रा. पं. १, १२६ । गो. जी. ४६०. जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात्संपूर्णम् । मोहनीयवीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादप्रतिहतशक्तियुक्तत्वात् निश्चलत्वाच्च समग्रं । इंद्रियसहाय-निरपेक्षत्वात् केवलं । घातिचतुष्टयप्रक्षयात् असपत्नम् । जी. प्र. टी.

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासण-सम्माइट्ठि त्ति ॥ ११६ ॥

मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्यात्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते । समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति । कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति ? श्रोत्राभावान्न शब्दावगतिस्तदभावान्न शब्दार्थावगम इति नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति । अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११६ ॥

शंका— मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों अज्ञान होवें, क्योंकि, वहां पर मिथ्यात्व कर्मका उदय पाया जाता है। परंतु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये वहां पर वे दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं। और वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है। सासादन गुणस्थानवालेके अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहां पर भी दोनों अज्ञान संभव हैं।

शंका— एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका— कैसे नहीं हो सकता है ?

शंका— एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है, और शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्दके निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते हैं। किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

शंका— मनरहित जीवोंके ऐसा श्रुतज्ञान भी कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनके विना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त दोष आता है।

विभङ्गज्ञानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा[1] ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तन्न भवतीति चेन्न, तत्र तन्निबन्धनक्षयोपशमाभावात् । सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्धेतुभवगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञाने भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तावस्थयोरपि तस्य सत्त्वं स्यादित्याशङ्कितशिष्याशङ्कापोहनार्थमाह—

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ स्यादि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन भवितव्यं तद्धेतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनानि विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति

विभंगज्ञानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है ॥ ११७ ॥

शंका— विकलेन्द्रिय जीवोंके वह क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहां पर विभंगज्ञानका कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया जाता है ।

शंका— वह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्यों संभव नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय होता है । परंतु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके विभंगज्ञान संभव नहीं है ।

विभंगज्ञानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इस प्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके संदेहके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

विभंगज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका— यदि देव और नारकियोंके विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा

१ ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति । स. सि. १. ८.

न्यायात् नापर्याप्तिविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिबन्धनमपि तु पर्याप्तिविशिष्टमिति। ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम् ।

इदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११९ ॥

अत्रैकवचननिर्देशः किमिति क्रियत इति चेत् कथं च न क्रियते, यतस्त्रीण्यज्ञानानि ततो नैकवचनं घटत इति न, अज्ञाननिबन्धनमिथ्यात्वस्यैकत्वतोऽज्ञानस्याप्येकत्वाविरोधात् । यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत् ? सत्यमेतत्, इष्टत्वात् । किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेवं मा ग्रहीः यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न

करते हैं' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण नहीं है। किंतु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आदिके तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञानसे मिश्रित होता है। श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है। अवधिज्ञान विभंगज्ञानसे मिश्रित होता है। अथवा तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११९ ॥

शंका— सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है ?

प्रतिशंका— एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये ?

शंका— क्योंकि, अज्ञान तीन हैं, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अज्ञानका कारण मिथ्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं। ऐसी हालतमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है। किंतु यहां सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व

तन्मिथ्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात्। नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात्। ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम्। ततस्तदुदयजनितपरिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात्। नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयाऽसङ्गतत्वात्। ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते। यथार्थ प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम्। यथार्थमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते।

साम्प्रतं ज्ञानानां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति[1] ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीताभिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है। और न वह सम्यक्त्वरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले यथार्थ श्रद्धाके साथ उसका (सम्यग्मिथ्यात्वका) साहचर्यसंबन्धका विरोध है। इसलिये जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है। अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस संज्ञाको तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है। और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ संपर्क नहीं रखता है। इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप अवस्थाको प्राप्त है। अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं। न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं। और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी ज्ञानको जात्यन्तर-ज्ञान कहते हैं। इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं।

अब ज्ञानोंका गुणस्थानोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥

---

१ आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति। स. सि. १. ८.

भवतु नाम देवनारकासंयतसम्यग्दृष्टिष्ववधिज्ञानस्य सत्त्वं तस्य तद्भव-निबन्धनत्वात्। देशविरताद्युपरितनानामपि भवतु तत्सत्त्वं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्, न तिर्यङ्मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिषु तस्य सत्त्वं तन्निबन्धनभवगुणानां तत्रासत्त्वादिति चेन्न, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्। सर्वसम्यग्दृष्टिषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेर्नावधिज्ञानं सम्यग्दर्शननिबन्धनमिति चेत्सर्वसंयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरवधिज्ञानं संयमहेतुकमपि न भवतीति किन्न भवेत्। विशिष्टः संयमस्तद्धेतुरिति न सर्वसंयतानामवधिर्भवतीति चेदत्रापि विशिष्टसम्यक्त्वं तद्धेतुरिति न सर्वेषां तद्भवति को विरोधः स्यात्? औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदभिन्नेषु त्रिष्वपि सम्यक्त्व-विशेषेष्ववधिज्ञानोत्पत्तेर्व्यभिचारदर्शनान्न तत्तद्विशेषनिबन्धनमपीति चेत्तर्ह्यत्रापि

....

शंका— देव और नारकीसंबन्धी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंमें अवधिज्ञानका सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि, उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसी प्रकार देशविरति आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण-भूत गुणोंका वहां पर सद्भाव पाया जाता है। परंतु असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भव और गुण असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें नहीं पाये जाते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असंयत-सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें सद्भाव पाया जाता है।

शंका— चूंकि संपूर्ण सम्यग्दृष्टियोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इससे मालूम पड़ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण नहीं है?

समाधान— यदि ऐसा है तो संपूर्ण संयतोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इसलिये संयम भी अवधिज्ञानका कारण नहीं है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

शंका— विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये समस्त संयतोंके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है?

समाधान— यदि ऐसा है तो यहां पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असंयत-सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है, ऐसा मान लेनेमें क्या विरोध आता है?

शंका— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकारके विशेष सम्यग्दर्शनोंमें अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है यह नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— यदि ऐसा है तो संयममें भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहार-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यात-भेदभिन्नैः पञ्चभिरपि संयमैः देशविरत्या च तस्य व्यभिचारदर्शनान्नावधिज्ञानं संयमविशेषनिबन्धनमपीति समानमेतत्। असंख्यातलोकमात्रसंयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः परिणामास्तद्धेतव इति नायं दोषस्तथेतर्हि सम्यग्दर्शनपरिणामेष्वप्यसंख्येयलोकपरिमाणेषु केचिद्विशिष्टाः सम्यक्त्वपरिणामाः सहकारिकारणापेक्षास्तद्धेतव इति स्थितम्।

मनःपर्ययज्ञानस्वामिप्रतिपादनार्थमाह—

मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति[1] ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानिव्यपदेशः। देशविरताद्यधस्तनगुणभूमिस्थितानां किमिति मनःपर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमासंयमासंयमत उत्पत्तिविरोधात्। संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न तद्भवेदिति

सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पांच प्रकारके विशेष संयमोंके साथ और देशविरतिके साथ भी अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति संयम-विशेषके निमित्तसे होती है यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और संयम इन दोनोंको अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान हैं।

शंका— असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामोंमें कितने ही विशेष जातिके परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है?

समाधान— यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंमें दूसरे सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे युक्त होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्त्वरूप परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है।

अब मनःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२१ ॥

पर्याय और पर्यायीमें अभेदकी अपेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका ही मनःपर्ययज्ञानीरूपसे उल्लेख किया है।

शंका— देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असंयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

---

१ मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति। स. सि. १. ८.

चेदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अपि त्वन्येऽपि[1] तद्धेतवः सन्ति तद्वैकल्याच्च सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्धेतव इति चेद्विशिष्ट-द्रव्यक्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिध्दा चेदि[2] ॥ १२२ ॥

अथ स्यादर्हतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

---

शंका— यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान— यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त संयतोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका— वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान— विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका— अरिहंत परमेष्ठीके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, वहां पर नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनके संपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठीमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहां पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

---

१ म. अप्यन्येऽपि तु । २ केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च । स. सि. १. ८.

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । कथं पुनः स सयोग[1] इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

संयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह—

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥१२३॥

शंका— फिर अरिहंत परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— अरिहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं।

शंका— अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुंभकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर 'सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगिकेवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है।

अब संयममार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहार-

---

१ मु. पुनः सयोग ।

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्यो विरताः संयताः । सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो[1] द्रव्यार्थिकत्वात् । एवंविधैकव्रतो मिथ्यादृष्टिः किन्न स्यादिति चेन्न, आक्षिप्ताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात् । आक्षिप्ताशेषविशेषरूपमिदं[2] सामान्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत्सर्वसावद्ययोगोपादानात् । न ह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात् । स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयमः सामायिकशुद्धिसंयत[3] इति यावत् । तस्यैकस्य

शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत, यथाख्यात-विहार-शुद्धि-संयत ये पांच प्रकारके संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अभेदकी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं ।

'मैं सभी प्रकारके सावद्ययोगसे विरत हूं' इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल सावद्ययोगके त्यागको सामायिक-शुद्धि-संयम कहते हैं ।

शंका—— इस प्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जिसमें संपूर्ण चारित्रके भेदोंका संग्रह होता है, ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—— यह सामान्य संयम अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह करनेवाला है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—— 'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है । यदि यहां पर संयमके किसी एक भेदकी ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है ।

---

१ रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति । समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम ॥ अहवा भवं समाए निव्वत्तं तेणं तम्मयं वावि । जं तप्पओयणं वा तेण व सामाइयं नेयं ॥ अहवा समाइं सम्मत्तनाणचरणाइं तेसु तेहिं वा । अयणं अओ समाओ स एव सामाइयं नाम ॥ अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो । अहवा समाणमाओ नेओ सामाइयं नाम ॥ अहवा सामं मित्ती तत्थ अओ (गमणं) तेण होइ सामाओ । अहवा सामस्साओ लाभो सामाइयं णेयं ॥ सम्ममओ वा समओ सामाइय-मुभयविद्धिभावाओ । अहवा सम्मस्स आओ लाभो सामाइयं होइ । अहवा निरुत्तविहिणा सामं सम्मं समं च जं तस्स । इकमप्पए पवेसणमेयं सामाइयं नेयं । किं पुण तं सामइयं सव्वसावज्जजोगविरइ त्ति ॥

वि. भा. ४२२०-४२२७.

२ मु. शेषरूपमिदं । ३ मु. शुद्धिसंयम ।

व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः। सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः[1]। निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयदेशना[2], मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयदेशना[3]। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति। द्वितयदेशनानुगृहीत[4] एक एव संयम इति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात्। अनेनैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम्।

परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः। त्रिंशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यक्षेत्रकालभावगतपरिमितापरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं सम्यगधिगम्य व्यपगतसकल-

---

इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जिसने संपूर्ण संयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक-शुद्धि-संयत कहलाता है।

उस एक व्रतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् व्रतोंके आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं। संपूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामायिक-शुद्धि-संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। और उसी एक व्रतको पांच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहां पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है। और मन्दबुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है। इसलिये इन दोनों संयमोंमें अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

शंका—तब तो उपदेशकी अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कह लिया जावे, पर वास्तवमें तो वह एक ही है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है। और इसी अभिप्रायसे सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे (सामायिक पदके साथ) 'शुद्धिसंयत' पदका ग्रहण नहीं किया है।

जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं। तीस वर्षतक अपनी इच्छानुसार भोगोंको भोगकर सामान्यरूपसे अर्थात् सामायिक संयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना संयमको धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान पूर्वरूपी महार्णवमें अच्छी तरह प्रवेश करके जिसका संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने

---

१ छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम्। × × छेत्तूण य परियागं पोराणं जो ठवेति अप्पाणं। धम्मम्मि पंचजामे छेओवट्ठावणो स खलु। पं. भा. (छेओवट्ठावण. अभि. रा. को.) २ मु. नयादेशना। ३ मु. नयादेशना। ४ मु. देशेना।

संशयस्तपोविशेषात्समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थंकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते[1]। एवमादाय स्थानगमनचङ्क्रमणाशनपानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षः[2] परिहारशुद्धिसंयतो नाम ।

साम्परायः कषायः, सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसांपरायाः । शुद्धाश्च ते संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः । त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता इत्युच्यन्त इति यावत् ।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः[3] । सुगममन्यत् ।

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न,

तपोविशेषसे परिहार ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थंकरके पादमूलमें परिहार-शुद्धि-संयमको ग्रहण करता है। इस प्रकार संयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना, यहां वहां विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि संपूर्ण व्यापारोंमें प्राणियोंकी हिंसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं।

सांपराय कषायको कहते हैं। जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। जो संयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसंयत कहते हैं। जो सूक्ष्मकषाय वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना संयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्मकषायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं।

परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं। जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार-शुद्धि-संयत कहलाते हैं। शेष कथन सुगम है।

शंका— संयम मार्गणाके अनुवादसे संयतोंमें संयतासंयत और असंयतोंका ग्रहण नहीं हो सकता है ?

---

१ तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले । पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥ गो. जी. ४७३.

२ परिहारर्द्धिसमेतः षड्जीवनिकायसंकुले विहरन् । पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥ गो. जी. ४७३. जी. प्र. टी. उद्धृतम् ।

३ अहसद्दो जाहत्थे आओऽभिविहीए कहियमकसायं । चरणमकसायमुदियं तमहक्खायं जहक्खायं ॥ तं दुवियप्पं छउमत्थकेवलिविहाणओ पुणेक्केक्कं । खयसमजसयोगाजोगिकेवलिविहाणओ दुविहं ॥ वि. भा. १२७९.

आम्रवनप्रधानवनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्तं च–

संगहिय-सयल-संजममेय-जममणुत्तरं दुरवगम्मं ।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजदो होई[1] ॥ १८७ ॥
छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो[2] ॥ १८८ ॥
पंच-समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंच-जमेय-जमो वा परिहारो संजदो सो हु[3] ॥ १८९ ॥

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस वनमें आम्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले नीमके वृक्षोंकी भी 'आम्रवन' ऐसी संज्ञा देखनेमें आती है। अतएव अनेकान्तका आश्रय करनेसे संयतासंयत और असंयतोंका भी संयम मार्गणामें ग्रहण किया है। कहा भी है—

जिसमें समस्त संयमोंका संग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधिगम्य अभेदरूप एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसंयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापक संयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पांच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना संयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको धारण करता है वह परिहार-शुद्धि-संयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

---

१ प्रा. पं. १, १२९ । गो. जी. ४७०.

२ प्रा. पं. १, १३० । गो. जी. ४७१. छेदेन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापन इति निरुक्तेः । अथवा प्रायश्चित्तेन स्वकृतदोषपरिहाराय पूर्वकृततपस्तद्दोषानुसारेण छित्वा आत्मानं निरवद्ये संयमे स्थापयति स छेदोपस्थापक–संयतः, स्वतपश्छेदे सति उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापन इत्यधिकरण-व्युत्पत्तेः । जी. प्र. टी.

३ प्रा. पं. १, १३१ । गो. जी. ४७२. परिहारकप्पं पवक्खामि परिहरंति जहा विऊ । आदिमज्झव-साणेसु आणुपुव्विं जहक्कमं ॥ ३६९ ॥ सत्तावीसं जहण्णेणं उक्कोसेण सहस्ससो ॥ णिग्गंथसूरा भगवंतो सव्वग्गेणं वियाहिया ॥ ३७२ ॥ सयग्गसो य उक्कोसा जहण्णेण तओ गणा । गणो य णवओ वुत्तो एमेता पडिवत्तिओ ॥ ३७३ ॥ एगं कप्पट्ठियं कुज्जा चत्तारि परिहारिए । अणुपरिहारिगा चेव चउरो तेसिं तु ठावए ॥ ३७४ ॥ ण य तेसिं जायती विग्घं जा मासा दस अट्ठ य । ण वेयणा ण वातंका णेव अण्णे उवद्दवा ॥ ३७५ ॥ अट्ठारससु पुण्णेसु होज्ज एते उवद्दवा । ऊणिए ऊणिए यावि गणमेरा इमा भवे ॥ ३७६ ॥ पडिवण्णजिणिंदस्स पादमूलम्मि जे विऊ । ठावयंतिआ ते अण्णे ण उ ठावितठावगा ॥ ३८३ ॥ सव्वे चरित्तमंता य दंसणे परिनिट्ठिया । णवपुव्विया जहण्णेणं उक्कोसं दसपुव्विया ॥ ३८४ ॥ पंचविहे ववहारे कप्पे ते दुविहम्मि य । दसविहे य पच्छित्ते सव्वे वि परिनिट्ठिया ॥ ३८५ ॥ पडिपुच्छं वायणं मोत्तूणं णत्थि संकहा । आलावो अत्तणिद्देसो परिहारस्स कारणे ॥ ३९६ ॥ बारस दसट्ठ दस अट्ठ छच्चट्ठ छ चउरो य उक्कोसं । मज्झिम जहण्णगा ऊ वासासिसिरगिम्हे उ ॥ ३९४ ॥ आयंबिलबारसगं पत्तेयं परिहारगा परिहरंति ।

अणुलोभं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुम-सांपराओ जहक्खादेणूणओ किं पि[1] ॥ १९० ॥
उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि ।
छदुमत्थो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु[2] ॥ १९१ ॥
पंच-ति-चउव्विहेहि अणु-गुण-सिक्खा-वएहि संजुत्ता ।
वुच्चंति देस-विरया सम्माइट्ठी ज्झारिय-कम्मा[3] ॥ १९२ ॥
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभत्ते य ।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ देसविरदेदे[4] ॥ १९३ ॥
जीवा चोद्दस-भेया इंदिय-विसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरदा असंजदा ते मुणेयव्वा[5] ॥ १९४ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो, परंतु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभव करता है उसे सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं। वह संयत यथाख्यात संयमसे कुछ कम संयमको धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥

अशुभ मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान-वर्ती छद्मस्थ और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन यथाख्यात-शुद्धि-संयत होते हैं ॥ १९१ ॥

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त होते हुए असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत कहे जाते हैं ॥ १९२ ॥

दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रम्हचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं ॥१९३॥

जीवसमास चौदह प्रकारके होते हैं और इन्द्रिय तथा मनके विषय अट्ठाईस प्रकारके होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असंयत जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

अभिगहितएसणाए पंचण्ह वि एसो संभोगो ॥ ३९५ ॥ परिहारिओ छम्मासे अणुपरिहारिओ वि छम्मासा । कप्पट्ठिदो वि छम्मासे तेए अट्ठारस उ मासे ॥ ३९६ ॥ अहहि छहि मासेहि णिव्विट्ठा य भवंति ते । ततो पच्छा य ववहारं पट्ठवंति अणुपरिहारिया ॥ ३९८ ॥ अहहि छहि मासेहि णिव्विट्ठा य भवंति ते । वहइ कप्पट्ठिओ पच्छा परिहारं तहाविधं ॥ ३९९ ॥ अट्ठारसहिं मासेहि कप्पो होति समाणितो । मूलट्ठवणाए समं छम्मासा उ अणूणगा ॥ ४०० ॥ बृ. ६ उ. (अभि. रा. को. परिहारविसुद्धिय.)

1 प्रा. पं. १,१३२ । गो. जी. ४७४

2 प्रा. पं. १,१३३ । गो. जी. ४७५

3 प्रा. पं. १,१३५ । गो. जी. ४७६

4 प्रा. पं. १,१३६ । गाथेयं पूर्वमपि ७४ गाथाङ्केन आयाता।

5 प्रा. पं. १,१३७ । गो. जी. ४७८

संयतानां गुणस्थान[1]संख्यानिरूपणार्थमाह—

संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ १२४ ॥

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयमप्रसङ्गात्। न च केवलिषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैष दोषः, घातिचतुष्टयविनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकलपापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया च तत्र[3] संयमोपचारात्। अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्य संयमोऽस्ति[4]। न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभावतस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। सुगममन्यत्।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सामाइय-च्छेदोवट्ठावण-सुध्दि-संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १२५ ॥

अब संयतोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

शंका— बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको संयम कहना तो ठीक है। यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी संयमका प्रसंग आजायगा। किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगकी निवृत्ति तो पाई नहीं जाती है इसलिये उनमें संयमका होना दुर्घट ही है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा संपूर्ण पापक्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे वहां संयमका उपचार किया जाता है। अतः वहां पर संयमका होना दुर्घट नहीं है। अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहां पर मुख्य संयम है। इसप्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य संयमकी सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है। शेष कथन सुगम हैं।

अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धिको प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

---

१ मु. स्थानानां संख्या। २ संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ताः। स. सि. १. ८.

३ मु. पेक्षया न, तत्र।

४ सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः। स. सि. १. ८.

सुगमत्वादत्र न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्पमत्त-संजद-ट्ठाणे[1] ॥ १२६ ॥

उपरिष्टात्किमित्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मनां वाचंयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टात्स संयमोऽस्ति[2] । परिहारशुद्धिसंयतः किमु एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति, न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भवस्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति ? न, परिहारर्द्ध्यतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्भेदात् । तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारर्द्धिपर्यायेण परिणत-

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अब दूसरे संयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ।

शंका—— ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएं ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जानेरूप संपूर्ण शरीरसंबन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें यह (परिहार-शुद्धि-संयम) नहीं है ।

शंका—— परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं, इसलिये परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थानासे परिहार-शुद्धि-संयमका कथंचित् भेद है ।

शंका—— सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्यायसे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

१ परिहारशुद्धिसंयताः प्रमत्ताप्रमत्ताश्च । स. सि. १. ८.

२ मु. ष्टात्संयमोऽस्ति ।

स्यात्ताभ्यामन्योऽयं संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारर्द्ध्यपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात्। ततः स्थितमेतत्ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति। परिहारर्द्धेरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात्।

तृतीयसंयमस्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुम-सांपराइय-सुध्दि-संजदा एक्कम्हि चेव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-ट्ठाणे[1] ॥ १२७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायाः किमु एकयमा उत पञ्चयमा इति? किं चातो, यद्येकयमाः पञ्चयमास्य मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा, सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात्। अथ पञ्चयमाः, एकयमानां पूर्वोक्तदोषौ समाढौकेते। अथोभययमाः,

---

यह संयम नहीं हो सकता है?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परंतु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि-संयम भिन्न ही है।

शंका—— परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता पाई जाती है, अतएव वहां पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि पाई जाती है परंतु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयमका अभाव कहा गया है।

अब तीसरे संयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं——

सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका—— सूक्ष्मसांपरायसंयत जीव क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप? इनमेंसे यदि एक यमरूप हैं तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकेगा? यदि सूक्ष्मसांपराय संयत पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं? यदि छेदोपस्थापनासंयतोंको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायसंयतोंके दो भेद हो जाते हैं?

---

१ सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने। स. सि. १. ८.

एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परायाणां द्वैविध्यमापतेदिति । नाद्यौ विकल्पौ ? अनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषः सम्भवति, पञ्चैकयमभेदेन संयमभेदाभावात् । यद्येकयमपञ्चयमौ संयमस्य न्यूनाधिकभावस्य निबन्धनाव[1]भविष्यतां संयमभेदोऽप्यभविष्यत् । न चैवम्, संयमं प्रति द्वयोरविशेषात् । ततो न सूक्ष्मसाम्परायसंयमस्य तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति । पञ्चविधसंयमोपदेशः कथं घटत इति चेन्मा घटिष्ट । तर्हि कतिविधः संयमः ? चतुर्विधः, पञ्चमस्य संयमस्यानुपलम्भात् । सुगममन्यत् ।

चतुर्थसंयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ १२८ ॥

समाधान— आदिके दो विकल्प तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वैसा हमने माना नहीं है । इसी प्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि, पंचयम और एकयमके भेदसे संयममें कोई भेद ही संभव नहीं है । यदि एकयम और पंचयम संयमके न्यूनाधिकभावके कारण होते तो संयममें भेद भी हो जाता । परंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है । अतः सूक्ष्मसांपराय संयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो सकते हैं ।

शंका— जब कि उन दोनोंकी अपेक्षा संयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पांच प्रकारके संयमका उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान— यदि पांच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ।

शंका— तो संयम कितने प्रकारका है ?

समाधान— संयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पांचवा संयम पाया ही नहीं जाता है । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ— सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें नहीं, अतः ये दोनों मिलकर एक और शेषके तीन इसप्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं ।

अब चौथे संयमके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

यथाख्यात-विहार-शुद्धि-संयत जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

१ मु. नान्वेषा ।

२ यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता उपशान्तकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः । स. सि. १. ८.

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजद-ट्ठाणे[1] ॥१२९॥

सुगममेतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह—

असंजदा एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति[2] ॥१३०॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः । सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् ।

संयमद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुखेन जीवसत्तानिरूपणार्थमाह—

दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि[3] ॥१३१॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है ।

अब देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयतासंयत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब असंयतगुणके गुणस्थानोंके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

असंयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३० ॥

शंका— कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका— सिद्ध जीवोंके कौनसा संयम होता है ?

समाधान— एक भी संयम नहीं होता है । उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे जिसलिये वे संयत नहीं हैं, इसलिये संयतासंयत नहीं है और असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएं नष्ट हो चुकी हैं ।

संयममार्गणाके द्वारा जीव-पदार्थका कथन करके अब दर्शनमार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनके धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

---

१ संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने । स. सि. १. ८.

२ असंयताः आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु । स. सि. १. ८.

३ भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च चक्षुर्दर्शनिनश्चक्षुर्दर्शनलब्धिमतो

चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्। अथ स्याद्विषयविषयिसम्पात-समनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते, तस्या-वस्तुनः कर्मत्वाभावात्। अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य विधौ प्रवृत्तिविरोधात्। विधिः[1] प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा? आद्ये न विधिसामान्यग्रहणम् प्रतिषेधेन सह विध्युपादानात्। द्वितीये न च तद्विधिग्रहणम्,[2] विधिप्रतिषेधोभयग्रहणे तस्यान्तर्भावात्। न बाह्यार्थगतप्रतिषेधसामान्यमपि परिच्छिद्यते विधिपक्षोक्तदोष-दूषितत्वात्। तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थग्रहणमवग्रहः। न स दर्शनम्, सामान्य-

चक्षुके द्वारा सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चक्षुदर्शन कहते हैं।

शंका— विषय और विषयीके योग्य संबन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणका नाम अवग्रह है। उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि-सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी विधिमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। इसलिये विधिका प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण होता है या अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधिसामान्यका ग्रहण तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिका ग्रहण होता है। तथा दूसरे विकल्पके मानने पर उसे केवल विधिग्रहण नहीं कह सकते, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध इन दोनोंके ग्रहणमेंही प्रतिषेधसे अव्यावृत्त विधिका अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार बाह्य अर्थमें रहनेवाले प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, विधि पक्षमें जो दोष दे आये हैं वे सब यहां पर भी लागू पड़ते हैं। इसलिये विधि-निषेधात्मक बाह्य पदार्थके ग्रहणको अवग्रह

जीवस्य घटादिषु द्रव्येषु चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम्। सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटादिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याग्रहणख्यापनार्थम्। उक्तं च 'निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते' इत्यादि। चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयं मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शनं न चक्षुर्दर्शनं, तदपि भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनल-ब्धिमतो जीवस्यात्मभावे भवति। × × इदमुक्तं भवति, चक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिनत्तीति। × × श्रोत्रादीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसंश्लेषद्वारेण जीवेन सह सम्बद्धमेव विषयं परिच्छिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावि भवति। × × अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम्। अवधिदर्शनिनोऽवधिदर्शनावरण-क्षयोपशमसमुद्भूतावधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वरूपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु। यतोऽवधेरु-त्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगता संख्येया असंख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ताः। × × ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, न च दर्शनं विशेषविषयं भवितुमर्हति ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात् कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्यायाः निर्दिष्टाः? साधूक्तं, केवलं पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनादिभिर्मृदादिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते न पुनस्तेन एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयीभवन्ति। केवलं सकलदृश्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शनं, केवलदर्शनिनस्तदावरणक्षयाविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्तामूर्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति। मनःपर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम् अतस्तद्दर्शनं नोक्तमिति। अनु. (अभि. रा. को. दंसणगुणप्पमाण.)

१ भ. विधेः।　　२ भ. द्वितीये न तद्वि ग्रहणं।

ग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते, तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात् । अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति । तद्विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या । तथा च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात् । तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते— चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात् । तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितः, ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्त्वनुपलम्भात् । तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समानः, आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावाद्वात्मापि समानः, तस्य भावः सामान्यम्, तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम् ।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम् । न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते,

---

मानना चाहिये। परंतु वह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है। अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है ?

समाधान— ऊपर दिये गये सब दोष दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है। और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य-विशेषात्मक होता है। इसलिये विधिसामान्य और प्रतिषेधसामान्यमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमें उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् दोनोंका युगपत् ही ग्रहण होता है।

शंका— इस कथनको मान लेने पर भी वह अन्तरंग उपयोग दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, उस अन्तरंग उपयोगका सामान्यविशेषात्मक पदार्थ विषय मान लिया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहांपर सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपसे ग्रहण किया है।

शंका— उसको सामान्यपना कैसे है ?

समाधान— चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमें ही नियमित है। इसलिये उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है। वहांपर भी चक्षुदर्शनमें रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिये उससे नीलादिकमें किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान है। और आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है इसलिये आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है। और उस समानके भावको सामान्य कहते हैं। वह दर्शनका विषय है।

शंका— चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परंतु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। चक्षु इन्द्रियसे रूपसामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित

तथानुपलम्भात् । प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टोऽर्थः[1] । न स दर्शनम्, अर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात् । न तस्योपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य ज्ञानरूपत्वात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ? न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेः, आवार्याभावे आवारकस्या[2]प्यभावात् । तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम् । किं च निद्रानिद्रादीनि कर्माणि न ज्ञानप्रतिबन्धकानि, ज्ञानावरणाभ्यन्तरे तेषामपाठात् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगद्वयप्रतिबन्धकानि, एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भावात् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगसामान्यप्रतिबन्धकानि, जाग्रदवस्थायां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगयोरक्रमेण वृत्तिप्रसङ्गात् । ततो दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शनावरणीयम्, बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य [illegible]-

होता है । परंतु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है । पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञानरूप पड़ता है । इसलिये चक्षुदर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है ।

समाधान — नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुदर्शन नहीं हो तो चक्षुदर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि, आवार्यके अभावमें आवारकका भी अभाव हो जाता है । इसलिये अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुदर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये । दूसरे निद्रानिद्रा आदि कर्म ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमें इन निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है । तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर भी निद्रानिद्रादिकका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिये था । परंतु ऐसा नहीं है, अतः निद्रानिद्रादिक दोनों उपयोगके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं । निद्रानिद्रादिक अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर जाग्रत् अवस्थामें छद्मस्थके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगपत् प्रवृत्तिका प्रसंग आ जायगा । इसलिये दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है । अतः अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है और बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा जानना चाहिये ।

शंका — आत्माको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों दर्शनोंमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला

१ मु. विशिष्टार्थः । २ मु. त्वाधार्याभावे आधारकस्या ।

नियमः । यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तावन्त एवात्मस्थक्षयोपशमास्तत्संज्ञामानस्तद्द्वारेणात्मापि तावानेव, तच्छक्तिखचितात्मपरिच्छित्तिर्दर्शनम् । न चैतत्काल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेशमन्तरेण शक्त्या सहात्मनः उपलम्भात् । न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणोत्पत्त्यभावतस्तदभावात् । एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम् । ततो न दर्शनानामेकत्वमिति उक्तं च—

चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खु-दंसणं बेंति ।
सेसिंदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्खु त्ति[1] ॥ १९५ ॥
परमाणु-आदियाइं अंतिम-खंधं त्ति मुत्ति-दव्वाइं ।
तं ओधि-दंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[2] ॥ १९६ ॥
बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।

लोगालोग अतिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो[3] ॥ १९७ ॥

स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है। इसलिये दर्शनके चार प्रकारके होनेका कोई नियम नहीं है। चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषयभावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामें स्थित क्षयोपशम उन उन संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं। और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है। अतः इस प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त आत्माके संवेदन करनेको दर्शन कहते हैं। यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्माकी परमार्थसे उपलब्धि होती है। सभी दर्शनोंकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानोंकी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है, अतः संपूर्ण दर्शनोंकी भी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार शेष दर्शनोंका भी कथन करना चाहिये। इसलिये दर्शनोंमें एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा भी है—

जो चक्षुइन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥१९५॥

परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देखता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥ १९६ ॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोंसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। परंतु जो केवल दर्शनरूपी उद्योत है वह लोक और अलोकको भी तिमिर रहित कर देता है ॥ १९७ ॥

---

१ प्रा. पं. १,१३९ । गो. जी. ४८४.   २ प्रा. पं. १,१४० । गो. जी. ४८५
३ प्रा. पं. १,१४१ । गो. जी. ४८६

चक्षुर्दर्शनाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्खु-दंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३२॥

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याधिपतिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्खु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३३॥

दृष्टार्थ[1]स्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तन्न घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुरभावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासञ्जननात्[3] [illegible] उपलम्भवाचक इति चेन्न, उपलब्धार्थविषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किन्न स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्भिन्न-

अब चक्षुदर्शनसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-छद्मस्थ-वीतराग गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अब अचक्षुदर्शनके स्वामी बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टार्थ अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इस प्रकार कितने ही पुरुष कहते हैं । परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर एकेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुइन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका— दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका— ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें एकपना नहीं बन सकता है ।

१ दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

२ मु. दृष्टान्त । ३ मु. सञ्जननात् ।

वस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरेकत्वमिति । ज्ञानदर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत् किमिति न भवति ? भवत्येव, क्षीणावरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु छद्मस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणनिरुद्धा[1]क्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात् । अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात् । श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात् । यदि बहिरङ्गार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत्तदा श्रुतदर्शनमपि[2] समभविष्यत् ।

अवधिदर्शनप्रवेशप्रतिपादनार्थमाह—

ओधि-दंसणी–असंजदसम्माइट्ठि–प्पहुडि जाव खीण–कसाय–वीयराय–छदुमत्था त्ति[3] ॥ १३४ ॥

शंका— ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान— कैसे नहीं होती, होती ही है, क्योंकि, जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंमें ज्ञान और दर्शन इन दोनोंकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है।

शंका— आवरणकर्मसे रहित जीवोंमें जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ ?

समाधान— नहीं, क्यों कि, आवरणकर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी शक्ति रुक गई है ऐसे छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है।

शंका— अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है।

शंका— श्रुतदर्शन क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें विरोध आता है। दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता तो श्रुतदर्शनभी होता। परंतु ऐसा नहीं है, इसलिये श्रुतज्ञानके पहले दर्शन नहीं होता है।

अब अवधिदर्शनसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अवधिदर्शनवाले जीव असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुण-

---

१ मु. आवरणानिरुद्धा । २. मु. श्रुतज्ञानदर्शनमपि ।

३ अवधिदर्शने असंयतसम्यदृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि । स. सि. १. ८.

सुगममेतत्। विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधि-दर्शनेऽन्तर्भावात्। मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्।

केवलदर्शनस्वामिप्रतिपादनार्थमाह--

केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि[1] ॥ १३५ ॥

अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं, स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं केवलदर्शनम्[2]। कथमनयोः समानतेति चेत्कथ्यते। ज्ञानप्रमाणमात्मा, ज्ञानं च त्रिकाल-गोचरानन्तद्रव्यपर्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति। स्वजीवस्थपर्याये-र्ज्ञानाद्दर्शनमधिकमिति चेन्न, इष्टत्वात्। कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम्? न, अन्योन्या-त्मकयोस्तदविरोधात्। उक्तं च--

स्थान तक होते हैं ॥ १३४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

शंका-- विभंगदर्शनका पृथक् रूपसे उपदेश क्यों नहीं किया?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, उसका अवधिदर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका-- तो मनःपर्ययदर्शनको भिन्न रूपसे कहना चाहिये?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मनःपर्यय-दर्शन नहीं होता है।

अब केवलदर्शनके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

केवलदर्शनके धारक जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १३५ ॥

शंका-- त्रिकालगोचर अनन्त बाह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाला केवलज्ञान है और त्रिकालगोचर स्वात्मामें प्रवृत्ति करनेवाला केवलदर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है?

समाधान-- आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अनन्त पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिये ज्ञान और दर्शनमें समानता है।

शंका-- जीवमें रहनेवाली स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा ज्ञानसे दर्शन अधिक है?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है।

शंका-- फिर ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है?

१ केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च। स. सि. १. ८.

२ मु. (स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं च दर्शनमिति)।

आदा णाण-पमाणं णाणं णेय-प्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोआलोअं तम्हा णाणं तु सव्व-गयं[1] ॥ १९८ ॥
एय-दवियम्मि जे अत्थ-पज्जया वयण-पज्जया वावि ।
तीदाणागय-भूदा तावदियं तं हवइ दव्वं[2] ॥ १९९ ॥ इदि

लेश्याद्वारेणजीवपदार्थसत्वान्वेषणायाह——

लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउ-लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि ॥ १३६ ॥

लेश्या इति किमुक्तं भवति ? कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या[3]। कषायानुरञ्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते, सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः। अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्यः सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात्। लेश्या नाम योगः

....

समाधान—— समानता नहीं [illegible] अपेक्षा करनेवाले उन दोनोंमें समानता मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। कहा भी है——

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान सर्वगत कहा है ॥ १९८ ॥

एक द्रव्यमें अतीत, अनागत और गाथामें आये हुए 'अपि' शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥ १९९ ॥

अब लेश्यामार्गणाद्वारा जीवपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये सूत्र कहते हैं——

लेश्यामार्गणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और अलेश्यावाले जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका—— 'लेश्या' इस शब्दसे क्या कहा जाता है ?

समाधान—— जो कर्मस्कंधसे आत्माको लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं।

यहांपर 'कषायसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं' यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्यारहितपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है।

शंका—— यदि सयोगिकेवलीको लेश्यारहित मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर 'सयोगिकेवलीके शुक्ललेश्या पाई

....

१ प्रवच. १, २३.

२ गो. जी. ५८२. स. त. १. ३३.

३ लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या। यदाह, श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः। स्था. १. ठा. श्रा.। लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। कर्म. ४. कर्म.। कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥ १ ॥ प्रज्ञा. १७. पद.। (अभि. रा. को. लेस्सा.)

कषायस्तावुभौ वा ? किं चातः, नाद्यौ विकल्पौ, योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात् । न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात् । न प्रथमद्वितीयविकल्पोक्त-दोषौ, अनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरेकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न द्वित्वमपि, कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात् । नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति, द्व्यात्मकैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्वसमान-त्वयोर्विरोधात् । योगकषायकार्याद्व्यतिरिक्तलेश्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्यां पृथग्ले-श्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसन्निधाने-

जाती है' इस वचनका व्याघात हो जाता है ।

शंका—— लेश्या योगको कहते हैं, अथवा, कषायको कहते हैं, या योग और कषाय दोनोंको कहते हैं ? इनमेंसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कषायरूप लेश्या तो मान नहीं सकते, क्योंकि, वैसा माननेपर योगमार्गणा और कषायमार्गणामें ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा । तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो विकल्पोंके समान है । अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेश्याका उक्त दोनों मार्गणाओंमें अथवा किसी एक मार्गणामें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये लेश्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है ?

समाधान—— शंकाकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेंसे पहले और दूसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेश्याको केवल योग और केवल कषायरूप माना ही नहीं है । उसी प्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, योग और कषाय इन दोनोंका किसी एकमें अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि लेश्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कषाय इन दोनों मार्गणाओंमें अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मलेपरूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेश्या माना है । यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होनेसे उन दोनोंमें लेश्याका अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्व्यात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ एकत्व अथवा समानता मान लेनेमें विरोध आता है ।

शंका—— योग और कषायके कार्यसे भिन्न लेश्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये उन दोनोंसे भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व अविरति आदिके आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके संपर्कसे लेश्याभावको प्राप्त हुए योग और कषायोंसे, केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

नापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्व्यतिरिक्तस्योपलम्भात् । संसारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न लेपाविनाभावित्वेन तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधात् । ततस्ताभ्यां पृथग्भूता लेश्येति स्थितम् । षड्विधः कषायोदयः । तद्यथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतम इति । एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाटचा षड् लेश्या भवन्ति । कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या[1] पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति । उक्तं च—

चंडो ण मुयदि वेरं भंडण-सीलो य धम्म-दय-रहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेदं तु किण्हस्स[2] ॥ २०० ॥
मंदो बुद्धि-विहीणो णिव्विण्णाणी य विसय-लोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य[3] ॥ २०१ ॥

है जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता है– इसलिये लेश्या उन दोनोंसे भिन्न है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— संसारकी वृद्धिका हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं' इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कर्मलेपकी अविनाभावी होनेरूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेश्या ऐसी संज्ञा देनेसे कोई विरोध नहीं आता है । अतः उन दोनोंसे पृथग्भूत लेश्या है यह बात निश्चित हो जाती है ।

कषायका उदय छह प्रकारका होता है । वह इसप्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम । इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेश्या भी छह हो जाती हैं– कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या कहा भी है—

तीव्र, क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो और जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०० ॥

मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो अथवा काम करनेमें मन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेक रहित हो, कला-चातुर्यसे रहित हो, पांच इन्द्रियोंके स्पर्शादि बाह्य विषयोंमें लम्पट हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, और भीरू हो, ये सब भी कृष्णलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०१ ॥

---

१ मु. कापोतलेश्या पीतलेश्या ।

२ प्रा. पं. १, १४४ । गो. जी. ५०९. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य । तिव्वारम्भपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो ॥ निद्धंधसपरिणामो निस्संसो अजिइंदिओ । एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. २१-२२.

३ प्रा. पं. १, १४५ । गो. जी. ५१०.

णिद्दा-वंचण-बहुलो धण-धण्णे होइ तिव्व-सण्णो य ।
लक्खणमेदं भणियं समासदो णील-लेस्सस्स[1] ॥ २०२ ॥
रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि य अप्पयं बहुसो[2] ॥ २०३ ॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पि व परं पि मण्णंतो ।
तूसदि अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि वड्ढीओ[3] ॥ २०४ ॥
मरणं पत्थेइ रणे देदि सुबहुअं हि थुव्वमाणो दु ।
ण गणइ अकज्ज-कज्जं लक्खणमेदं तु काउस्स[4] ॥ २०५ ॥
जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च सव्व-सम-पासी ।
दय-दाण-रदो य मिदू लक्खणमेदं तु तेउस्स[5] ॥ २०६ ॥

जो अतिनिद्रालु हो, दूसरोंको ठगनेमें अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके विषयमें जिसकी अति तीव्र लालसा हो, ये सब नीललेश्यावालेके संक्षेपसे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दूसरोंके ऊपर क्रोध करता है, दूसरेकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देता है, अथवा, दूसरोंको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोंको सहन नहीं करता है, दूसरोंका पराभव करता है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरेके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरेको भी मानता है, स्तुति करनेवालेके ऊपर संतुष्ट हो जाता है, अपनी और दूसरेकी हानि और वृद्धिको नहीं जानता है, युद्धमें मरनेकी प्रार्थना करता है, स्तुति करनेवालेको बहुत धन दे डालता है, और कार्य अकार्यको कुछ भी गणना नहीं करता है, ये सब कापोतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥२०३-२०५॥

जो कार्य-अकार्य और सेव्य-असेव्यको जानता है, सबके विषयमें समदर्शी रहता है, दया और दानमें तत्पर रहता है, और मन, वचन तथा कायसे कोमल परिणामी होता है ये सब पीतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ प्रा. पं. १,१४६ । गो. जी. ५११. इस्सा अमरिस अतवो अविज्जमाया अहीरिया । गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए ॥ सायगवेसए य आरंभाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो । एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. २३-२४.

२ प्रा. पं. १,१४७ । गो. जी. ५१२　　३ प्रा. पं. १,१४८ । गो. जी. ५१३

४ प्रा. पं. १,१४९ । गो. जी. ५१४ वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए । पलिउंचगओवहिए मिच्छादिट्ठी अणारिए ॥ उप्फालगदुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी । एयजोगसमाउत्तो काऊलेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. २५-२६.

५ प्रा. पं. १,१५० । गो. जी. ५१५. नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले । विणीयविणए दंते जोगवं उवहाणवं ॥ पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरू हिएसए । एयजोगसमाउत्तो तेऊलेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. २७-२८.

चागी भद्दो चोक्खो उज्जुव-कम्मो य खमइ बहुअं पि ।
साहु-गुरु-पूजण-रदो[1] लक्खणमेदं तु पम्मस्स[2] ॥ २०७ ॥
ण उ कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु ।
णत्थि य राय-द्दोसा[3] णेहो वि य सुक्क-लेस्सस्स[4] ॥ २०८ ॥

षड्लेश्यातीताः अलेश्याः । उक्तं च—

किण्हादि-लेस्स-रहिदा संसार-विणिग्गया अणंत-सुहा ।
सिद्धि-पुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा[5] ॥ २०९ ॥

लेश्यानां गुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्ठि त्ति[6] ॥ १३७ ॥

जो त्यागी है, भद्रपरिणामी है, निर्मल है, निरन्तर कार्य करनेमें उद्यत रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गोंको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोंकी पूजामें रत रहता है, ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं बांधता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके विषयमें राग और द्वेषसे रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेहरहित है ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छह लेश्याओंसे रहित हैं उन्हें लेश्यारहित जीव कहते हैं । कहा भी है—

जो कृष्णादि लेश्याओंसे रहित हैं, पंच परिवर्तनरूप संसारसे पार हो गये हैं, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुखको प्राप्त हैं और जो आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको प्राप्त हो गये हैं उन्हें लेश्यारहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अब लेश्याओंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३७ ॥

---

१ मु. पूजणिरदो ।

२ प्रा. पं. १, १५१ । गो. जी. ५१६. पयणुकोहमाणे य मायालोभे य पयणुए । पसंतचित्ते दंतप्पा जोगवं उवहाणवं ॥ तहा पयणुवाई य उवसंते जिइंदिए । एयजोगसमाउत्तो पम्हलेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. २९-३०. ३ मु. राय-द्दोसो ।

४ प्रा. पं. १, १५२ । गो. जी. ५१७. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए । पसंतचित्ते दंतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ सरागे वीयरागे वा उवसंते जिइंदिए । एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ उत्त. ३४. ३१-३२. ५ प्रा. पं. १, १५३ गो. जी. ५५६.

६ लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

कथम् ? त्रिविधतीव्रादिकषायोदयवृत्तेः सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

तेजःपद्मलेश्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति[1] ॥ १३८ ॥

कथम् ? एतेषां तीव्रादिकषायोदयाभावात् । सुगममन्यत् ।

[2]शुक्ललेश्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सुक्कलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति[3] ॥ १३९ ॥

कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात् ।

शंका— चौथे गुणस्थानतक ही आदिकी तीन लेश्याएं क्यों होती हैं ?

समाधान— तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषायके उदयका सद्भाव चौथे गुणस्थान-तक ही पाया जाता है, इसलिये वहींतक तीन लेश्याएं कहीं । शेष कथन सुगम है ।

अब पीत और पद्मलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

पीतलेश्या और पद्मलेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान-तक होते हैं ॥ १३८ ॥

शंका— ये दोनों लेश्याएं सातवें गुणस्थानतक कैसे पाई जाती हैं ?

समाधान— क्योंकि, इन लेश्यावाले जीवोंके तीव्रतम आदि कषायोंका उदय नहीं पाया जाता है । शेष कथन सुगम है ।

अब शुक्ललेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

शुक्ललेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३९ ॥

शंका— जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनके शुक्ललेश्याका होना कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे उनके शुक्ललेश्याके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब लेश्यारहित जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

---

१ तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तानि । स. सि. १. ८.

२ मु. पाठोऽयं नास्ति ।

३ शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि । स. सि. १. ८.

तेण परमलेस्सिया[1] ॥ १४० ॥

कथम् ? बन्धहेतुयोगकषायाभावात् । सुगममन्यत् ।

लेश्यामुखेन जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह—

भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्या भविष्यन्ती[2] सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः । तथा च भव्यसन्ततिच्छेदः स्यादिति चेन्न, तेषामानन्त्यात् । न हि सान्तस्यानन्त्यम्, विरोधात् । सव्ययस्य निरायस्य राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गात्[3] । न सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति, स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापि क्षयः[4], द्वित्र्यादिसंख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽस्तीत्यभ्युपगमात्[5] । अर्द्धपुद्गल-

तेरहवें गुणस्थानके आगे सभी जीव लेश्यारहित हैं ॥ १४० ॥

शंका— यह कैसे ?

समाधान— क्योंकि, वहांपर बन्धके कारणभूत योग और कषायका अभाव है । शेष कथन सुगम है ।

लेश्यामार्गणाके द्वारा जीवपदार्थका कथन करके अब भव्याभव्य मार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

भव्यमार्गणाके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जिन्हें आगे सिद्धि प्राप्त होगी उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं ।

शंका— इस प्रकार तो भव्यजीवोंकी संततिका उच्छेद हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं । हां, जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है ।

शंका— जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परंतु उसमें आय नहीं होती है तो उसके अनन्तपना कैसे बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जावे तो एकको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है, यह एकान्त नियम नहीं है, इसलिये जिसके संख्यातवें और असंख्यातवें भागका व्यय हुआ है ऐसी अनन्त राशिका क्षय भी है, किन्तु दो-तीन आदि संख्येय राशिके व्ययमात्रसे क्षय नहीं भी है ऐसा स्वीकार किया है ।

शंका— अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है,

१ अलेश्याः अयोगकेवलिनः । स. सि. १. ८.

२ मु. भविष्यन्तीति ।   ३ मु. प्रसङ्गः ।   ४ मु. स्वनन्तस्यापेक्षया तद्द्वित्र्यादि ।

५ एवं भव्वुच्छेओ कोट्ठागारस्स वा अवचयत्ति त्ति । [illegible]

परिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि क्षयदर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयोर्भिन्ननिबन्धनतः प्राप्तानन्त्ययोः साम्याभावतोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात्। तद्यथा–अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः, छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात्। केवलमनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा। जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिक्षये[1]ऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति। अथवा छद्मस्थानुपलब्ध्यपेक्षामन्तरेणानन्त्यादिति विशेषणाद्वा नानैकान्तिक इति। किं च सव्ययस्य निरवशेषक्षयेऽभ्युपगम्यमाने कालस्यापि निरवशेषक्षयो जायेत, सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात्। अस्तु चेन्न, सकलपर्यायप्रक्षयतोऽशेषस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः। मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न च योग्याः

इसलिये भव्य राशिके क्षय न होनेमें जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तपनेको प्राप्त भव्यराशि और अर्धपुद्गल-परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियोंमें समानताका अभाव है, और इसलिये अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल वास्तवमें अनन्तरूप नहीं है। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्धपुद्गल-परिवर्तनकाल क्षयसहित होते हुए भी अनन्त है, क्योंकि, छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है। अथवा केवलज्ञान अनन्त है और उसका विषय होनेसे वह अनन्त है। जीवराशि तो संख्यातवें भागरूप राशिके क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश नहीं होनेसे, अनन्त है। अथवा, पहले जो भव्य राशिके क्षय नहीं होनेमें अनन्तरूप हेतु दे आये हैं उसमें 'छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी उपलब्धि नहीं होती है, इस अपेक्षाके विना ही' यह विशेषण लगा देनेसे अनैकान्तिक दोष नहीं आता है। दूसरे व्ययसहित अनन्तके सर्वथा क्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायगा, क्योंकि, व्ययसहित होनेके प्रति दोनों समान हैं।

शंका—– यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे संपूर्ण द्रव्योंकी स्वलक्षणरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा और इसलिये समस्त वस्तुओंके अभावकी आपत्ति आ जायगी।

शंका—– मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलंकरहित होते हैं

....

चालीलाणागयकाला तुल्ला जओ य संसिद्धा। एक्को अणंतभागो भव्वाणमईयकालेणं ॥ एस्सेण तत्तिओ च्चिय जुत्तो जं तो वि सव्वभव्वाणं। जुत्तो न समुच्छेओ होज्ज मई कहमिणं सिद्धं। भव्वाणमणंतत्तणमणंतभागो व किह व मुक्को सिं। कालादओ व मंडिय मह वयणाओ व पडिवज्ज ॥ वि. भा. २३०६–२३०९.

१ मु. क्षयोऽपि।

सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति, सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात् । उक्तं च—

एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंत-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण[1] ॥ २१० ॥

तद्विपरीताः अभव्याः । उक्तं च—

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भव-सिद्धा ।
तव्विवरीदाभव्वा संसारादो ण सिज्झंति[2] ॥ २११ ॥

भव्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[3] ॥१४२॥

सुगममेतत् ।

अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणायाह—

अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति[4] ॥ १४३ ॥

ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाणसे व्यभिचार आ जायगा । कहा भी है—

द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोदशरीरमें देखे गये हैं ॥ २१० ॥

भव्योंसे विपरीत अर्थात् मुक्तिगमनकी योग्यता न रखनेवाले अभव्य जीव होते हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हो उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं । और इनसे विपरीत अभव्य होते हैं । ये संसारसे निकल-कर कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अब भव्यजीवोंके गुणस्थानोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

अब अभव्यजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

१ प्रा. पं. १,८४ । गो. जी. १९६.

२ प्रा. पं. १,१५६ । गो. जी. ५५७ (भवसिद्धा) अनेन सिद्धेर्लब्धियोग्यताभ्यां भव्यानां द्वैविध्यमुक्तं । जी. प्र. टी.

३ भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति । स. सि. १, ८.

४ अभव्या आद्य एव स्थाने । स. सि. १, ८.

एतदपि सुगमम् ।

सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

आम्रवनान्तःस्थनिम्बानामाम्रवनव्यपदेशवन्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो न्याय्यः । सुगममन्यत् । उक्तं च––

छप्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं[1] ॥ २१२ ॥
खीणे दंसण-मोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई ।
तं खाइय-सम्मत्तं णिच्चं कम्म-क्खवण-हेऊ[2] ॥ २१३ ॥
वयणेहि वि हेऊहि वि इंदिय-भय-आणएहि रूवेहि ।
बीहच्छ-दुगुंछाहि ण सो तै-लोक्केण चालेज्ज[3] ॥ २१४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अब सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं––

सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं ॥१४४॥

जिस प्रकार आम्रवनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षोंको आम्रवन यह संज्ञा प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है । शेष कथन सुगम है । कहा भी है––

जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अथवा अधिगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ २१२ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है । जो नित्य है और कर्मोंके क्षपणका कारण है ॥ २१३ ॥

श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले

१ प्रा. पं. १,१५९ । गाथेयं पूर्वमपि ९६ गाथाङ्केन आगता । तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं । भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ उत्त. २८, १५.

२ प्रा. पं. १,१६० । गो. जी. ६४६.

३ प्रा. पं. १,१६१ । गो. जी. ६४७.

दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
चल-मलिनमगाढं तं वेदग-सम्मत्तमिह मुणसु[1] ॥ २१५ ॥
दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं ।
उवसम-सम्मत्तमिणं पसण्ण-मल-पंक तोय-समं[2] ॥ २१६ ॥

सम्यग्दर्शनस्य सामान्यस्य क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह—

सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[3] ॥ १४५ ॥

किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत्, त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोंऽशस्तत्सामान्यम् । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति

आकारोंसे या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिसे, किंबहुना तीन लोकसे भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है ॥ २१४ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल, मलिन और अगाढरूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा हे शिष्य तू समझ ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोंका, जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है ॥ २१६ ॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका— सम्यक्त्वमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान— तीनों ही सम्यग्दर्शनोंमें जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहां पर विवक्षित है ।

शंका— क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंके परस्पर भिन्न भिन्न

१ प्रा. पं. १,१६६ पाठभेदः । गो. जी. ६४९. नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं । लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितं ॥ स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते । अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥ तदप्यलब्धमाहात्म्यं पकात् सम्यक्त्वकर्मणः । मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ स्थान एव स्थितं कंप्रमगाढमिति कीर्त्यते । वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ॥ समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं । देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ गो. जी. २५. जी. प्र. टी. उद्धृता.

२ गो. जी. ६५०.

३ सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

चेन्न, तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलम्भात्। क्षयक्षयोपशमोपशमविशिष्टानां यथार्थ-श्रद्धानानां कथं समानतेति चेद्भवतु विशेषणानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य । सुगममन्यत् ।

वेदकसम्यग्दर्शनगुणसंख्याप्रतिपादनार्थमाह—

वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्त-संजदा त्ति[1] ॥ १४६ ॥

उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन सह क्षपकोपशमकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। वेदकसम्यक्त्वादौपशमिकसम्यक्त्वस्य कथ-माधिक्यमिति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वतस्तदाधिक्योपलम्भात् ।

होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता पाई जाती है ।

शंका— क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान— विशेषणोंमें भेद भले ही रहा आवे, परंतु इससे यथार्थ श्रद्धारूप विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है ।

शेष सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब वेदकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४६ ॥

शंका— ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं होता, क्योंकि, अगाढ़ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ क्षपक और उपशम श्रेणीका चढ़ना नहीं बनता है ।

शंका— वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि औपशमिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिकसम्यग्दर्शनमें विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

१ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि । स. सि. १. ८.

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम् । कथं दर्शनमोहोदयवतां सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशोत्पत्त्य-[1]

विरोधात् । देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशाविरोधात् ।

औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति[2] ॥ १४७ ॥

सुगममेतत् ।

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे ॥ १४८ ॥

शंका— क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

समाधान— दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं ।

शंका— जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश की उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे दी गई ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर संबन्ध होनेके कारण उसको सम्यग्दर्शन इस संज्ञाके देनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब सासादनसम्यक्त्व आदि संबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन सूत्र कहते हैं—

सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४८ ॥

---

१ मु. देशे सत्य ।

२ औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशान्तकषायान्तानि । स. सि. १, ८.

सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ १४९ ॥

मिच्छाइट्ठी एइंदिय–प्पहुडि जाव सण्णि–मिच्छाइट्ठि[1] त्ति ॥ १५० ॥

सुगमत्वात्त्रिष्वप्येतेषु सूत्रेषु न वक्तव्यमस्ति । उत्तं[2] च—

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो दु परिवदिदो ।
सो सासणो त्ति णेयो सादिय मध पारिणामिओ भावो ॥ २१७ ॥
सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरदाविरदेण समो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो ॥ २१८ ॥
ण वि जायइ ण वि मरइ ण वि सुद्धो ण वि य कम्म-उम्मुक्को ।
चउगइमज्झत्थो वुण रागाइ-समण्णियो जीवो ॥ २१९ ॥
तिण्णि जणा एक्केक्कं दोह्णं णेच्छंति ते तिवग्गा य ।
एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्त वि पावंति मिच्छत्तं ॥ २२० ॥

सम्यग्दर्शनादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासण-सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १५१ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टितक होते हैं ॥ १५० ॥

इन तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम है, अतएव इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है । कहा भी है—

जो सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त हुआ है, उसे सासादन सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । यह गुणस्थान सादि और पारिणामिक भाववाला है ॥ २१७ ॥

जिस जीवके जीवादिक तत्त्वोंमें श्रद्धान और अश्रद्धान रूप भाव है, उसे विरता-विरतके समान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए ॥ २१८ ॥

वह न जन्म लेता है, न मरता है, न शुद्ध होता है और न कर्मसे उन्मुक्त होता है । किन्तु वह रागादिसे युक्त होकर चारों गतियोंमें पाया जाता है ॥ २१९ ॥

ऐसे तीन जन जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंमेंसे किसी एक एक को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते, दूसरे ऐसे तीन जन जो इन तीनोंमेंसे दो दो को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते तथा कोई ऐसा भी जीव हो जो तीनोंको (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करता ये सातों जीव मिथ्यात्वी हैं ॥ २२० ॥

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत

---

१ सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने । स. सि. १. ८.

२ अ. प्रतौ 'वृत्तं च' इत्यत आरभ्य गाथाचतुष्कमिदं नास्ति । मु. प्रतावपि नास्ति ।

अथ स्याद्गतिनिरूपणायामस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न सन्तीति निरूपितत्वान्न वक्तव्यमिदं सूत्रम्, सम्यक्त्वनिरूपणायां गुणस्थाननिरूपणावसराभावाच्चेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य तमर्थं संस्मार्य तत्र तत्र गतौ सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनप्रवणत्वात् । सुगममन्यत् ।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

कथं सामान्यवद्विशेषः स्यादिति चेन्न, विशेषव्यतिरिक्तसामान्यस्यासत्त्वात् । नाव्यतिरेकोऽपि द्वयोरभावासञ्जनात्[1] । नोभयपक्षोऽपि पक्षद्वयोक्तदोषासञ्जनात्[2] । नानुभयपक्षोऽपि निःस्वभावत्वप्रसङ्गात् । न च सामान्यविशेषयोरभाव एव प्राप्त-जात्यन्तरत्वेनोपलम्भात् । ततः सूक्तमेतदिति स्थितम् ।

सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५१ ॥

शंका— गतिमार्गणाका निरूपण करते समय ' इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं और इतने नहीं होते हैं ' इस बातका निरूपण कर ही आये हैं, इसलिये इस सूत्रके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तथा सम्यग्दर्शनमार्गणाका निरूपण करते समय गुणस्थानोंके निरूपणका अवसर नहीं है, इसलिये भी इस सूत्रके कथनकी आवश्यकता नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थको भूल गया है उसके लिये, उस अर्थका पुनः स्मरण कराके उन उन गतियोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेमें यह सूत्र समर्थ है, इसलिये इस सूत्रका अवतार हुआ है। शेष कथन सुगम है ॥

अब सातों पृथिवियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार सातों पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

शंका— सामान्यके समान विशेष कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं पाया जाता है, इसलिये सामान्य कथनसे विशेषका भी बोध हो जाता है। इससे सामान्य और विशेषमें सर्वथा अभेद भी नहीं है, क्योंकि, दोनोंमें सर्वथा अभेद मान लेने पर दोनोंका अभाव हो जायगा। इसी प्रकार इन दोनोंमें सर्वथा उभयपक्ष अर्थात् सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर दोनों पक्षमें दिये गये दोष प्राप्त हो जायेंगे। सामान्य और विशेष सर्वथा अनुभयरूप भी नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर वस्तुको निःस्वभावताका प्रसंग आ जायगा। तथा सामान्य और विशेषका अभाव भी नहीं है, क्योंकि, जात्यन्तर अवस्थाको प्राप्त होने रूपसे उन दोनोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये पूर्वमें जो कथन किया है वह ठीक है, यह बात निश्चित हो जाती है।

---

१ मु. भावासञ्जननात् ।　　　　२ मु. दोषासंजननात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि ॥ १५३ ॥

सुगममेतत् ।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ॥ १५४ ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १५५ ॥

सप्तप्रकृतीषु क्षीणासु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्स्वाभाव्यात् । तत्रस्थाः सन्तः किमिति सप्तप्रकृतीर्न क्षपयन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात् ।

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५३ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दर्शन बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी जीव होते हैं ॥ १५४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है ।

अब शेष पृथिवियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवीतक नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥१५५ ॥

शंका— सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय हो जानेपर क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान— ऐसा स्वभाव ही है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंका— द्वितीयादि पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकी सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहांपर जिनेन्द्रदेवका अभाव है ।

तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ॥ १५६ ॥

संन्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न, अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात् । किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात् ।

एवं जाव सव्व-दीव-समुद्देसु ॥ १५७ ॥

स्वयम्प्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वान्न तत्र देशव्रतिनः सन्ति तत एतत्सूत्रं न घटत इति न, वैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्वोत्क्षिप्य क्षिप्तानां देशव्रतीनां सर्वत्र[1] सत्त्वाविरोधात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह--

तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १५८ ॥

अब तिर्यंच गतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत होते हैं ॥ १५६ ॥

शंका-- शरीरसे संन्यास ग्रहण कर लेनेके कारण जिन्होंने आहारका त्याग कर दिया है ऐसे तिर्यंचोंके संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, उनके अन्तरंग सकल-निवृत्तिका अभाव है ।

शंका-- उनके अन्तरंग सकल-निवृत्तिका अभाव क्यों है ?

समाधान-- जिस जातिमें वे उत्पन्न हुए हैं उसमें संयम नहीं होता यह नियम है, इसलिये उनके संयम नहीं पाया जाता है ।

इसी प्रकार संपूर्ण द्वीप-समुद्रवर्ती तिर्यंचोंमें समझना चाहिये ॥ १५७ ॥

शंका-- स्वयंभूरमण द्वीपवर्ती स्वयंप्रभ पर्वतके इस ओर और मानुषोत्तर पर्वतके उस ओर (असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें) भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहांपर देशव्रती नहीं पाये जाते हैं, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, वैरके संबन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा उठाकर डाले गये देशव्रती तिर्यंचोंका सब जगह सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये वहांपर तिर्यंचोंके पांचों गुणस्थान बन जाते हैं ।

अब तिर्यंचोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

तिर्यंच असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५८ ॥

---

१ क्षिप्तानां सर्वत्र ।

सुगमम् ।

तिरिक्खा संजदासंजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ॥ १५९ ॥

तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात् । न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं सम्भवति तत्र तद्विरोधात् । सुगममन्यत् ।

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ १६० ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

यह सूत्र सुगम है ।

तिर्यंच संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५९ ॥

शंका— तिर्यंचोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंमें यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं । परंतु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहांपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध आता है । शेष कथन सुगम है ।

इसी प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-पर्याप्त होते हैं ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है ।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १६१ ॥

क्योंकि, उनमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं और जो वहां उत्पन्न होते हैं उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः उनमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है ।

मणुसा[1] अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ॥ १६२ ॥

सुगममेतत् ।

एवमड्डाइज्ज–दीव–समुद्देसु ॥ १६३ ॥

वैरसम्बन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु संभवो भवत्विति चेन्न मानुषोत्तरात्परतो देव[2]प्रयोगतोऽपि मानुषाणां[3] गमनाभावात् । न हि स्वतोऽसमर्थमन्यतः समर्थं[4] भवति, अतिप्रसङ्गात् । अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु द्वीपो विशेष्यते[5] उत समुद्र उत द्वावपीति ? नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणां सत्त्वप्रसङ्गात् । नैतदपि[6], सूत्रविरोधात् । नादिविकल्पोऽपि, समुद्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति ।

अब मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत होते हैं ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

इसीप्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शंका— वैरके संबन्धसे डाले गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका संपूर्ण द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो स्वतः असमर्थ होता है वह दूसरोंके संबन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा न होवे तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा । अतः मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका ? इनमेंसे अन्तके दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं, क्योंकि, वैसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा । यदि यह कहा जावे कि अच्छी बात है, मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जावें, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस प्रकार तो तीन द्वीपोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग आता है । और वैसा है नहीं, क्योंकि, सूत्रसे विरोध

---

१ मु. मणुस्सा । २ मु. देवस्य । ३ मु. मनुष्याणां ।
४ मु. समर्थोऽन्यतः समर्थो । ५ मु. विशिष्यते. । ६ न तदपि ।

अत्र प्रतिविधीयते। नान्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाढौकन्ते, तयोरनभ्युपगमात्। न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि, द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिवन्मानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धेः। नाशेषसमुद्राणां मानुषोत्तरत्वमसिद्धमाराात्तनद्वीपभागस्याप्यन्यथा मानुषोत्तरत्वानुपपत्तेः। ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी[1] वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १६४ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति।

एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि सुगमम्।

आता है। इसी प्रकार पहला विकल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, इस प्रकार द्वीपोंकी संख्याका नियम होने पर भी समुद्रोंकी संख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिये समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है।

समाधान— दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, परमागममें वैसा माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, ढाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके द्वीपोंमें जिस प्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार शेष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, ढाई द्वीपोंको छोड़कर शेष द्वीपोंकी तरह दो समुद्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं, अतः शेष द्वीपोंकी तरह शेष समुद्रोंके भी मानुषोत्तरसे परे होनेमें कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार शेष द्वीपोंके लिये जो नियम लागू है वही शेष समुद्रोंके लिये भी हो जाता है। इसलिये शेष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात निश्चित हो जाती है। शेषके संपूर्ण समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना असिद्ध भी नहीं है, अन्यथा समीपवर्ती द्वीपभागके भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा। इसलिये सामर्थ्यसे दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात विना कहे ही जानी जाती है।

अब मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर विशेष कहने योग्य नहीं है।

इसी प्रकार मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनियोंमें भी जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है।

---

१ मु. अत्थि सम्माइट्ठी।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम-गेवेज्ज-विमाण-वासिय-देवा त्ति ॥१६७॥

देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदय-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६८ ॥

सुगमत्वात्सूत्रत्रितये न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावात्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेरभावाच्च । शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथं सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां पश्चात्तत्पर्यायपरिणतेः सत्त्वात् ।

अब देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६६ ॥

इसी प्रकार उपरिम उपरिम ग्रैवेयक तकके देव जानना चाहिये ॥ १६७ ॥

देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम-सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६८ ॥

पूर्वोक्त तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है।

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देवियां और सौधर्म तथा ईशानकल्पवासी देवियां असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं और होती हैं ॥ १६९ ॥

शंका— क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देवों और देवियोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एक तो वहांपर दर्शनमोहनीयका क्षपण नहीं होता है । दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शनमोहनीयका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि अधम देवोंमें और सभी देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उनमें सद्भाव कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहांपर उत्पन्न हुए जीवोंके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय हो जाती है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका वहांपर सद्भाव पाया जाता है ।

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्ज-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७० ॥

त्रिविधेन सम्यक्त्वेन सह तत्रोत्पत्तेर्दर्शनात् । तत्रोत्पन्न द्विविधसम्यग्दर्शनोपादानात्तत्र तेषां सत्त्वं सुघटमिति ।

शेषदेवानां सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनार्थमाह--

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिद-सव्वट्ठ-सिद्धिविमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइय-सम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७१ ॥

कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च तत्र तस्यासत्त्वम् ? तत्रोत्पन्नेभ्यः क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनेभ्यस्तदनुत्पत्तेः । नापि मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते, तेषां तेन सह मरणाभावात् । न,

---

सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम उपरिम ग्रैवेयक तकके देव असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥१७०

उक्त देवोंमें तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंके साथ जीवोंकी उत्पत्ति देखी जाती है अथवा, वहांपर उत्पन्न होनेके पश्चात् वेदक और औपशमिक इन दो सम्यग्दर्शनोंका ग्रहण होता है, इसलिये उक्त देवोंमें तीनों सम्यग्दर्शनोंका सद्भाव बन जाता है ।

अब शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं--

नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तरोंमें रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७१ ॥

शंका-- यहांपर उपशम सम्यग्दर्शनका सद्भाव कैसे पाया जाता है ?

प्रतिशंका-- यहांपर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है ?

शंका-- वहांपर जो उत्पन्न होते हैं उनके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इसलिये उनके उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके यहांपर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, ऐसे उपशमसम्यग्दृष्टियोंका उपशमसम्यक्त्वके साथ मरण नहीं होता है ।

समाधान-- नहीं, क्योंकि, उपशम श्रेणीपर चढ़नेवाले और चढ़कर उतरनेवाले जीवोंकी अनुदिश और अनुत्तरोंमें उत्पत्ति होती है, इसलिये वहांपर उपशम सम्यक्त्वके सद्भाव रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

[1]उपशमश्रेण्यामारूढानामारुह्यावतीर्णानां च तत्रोत्पत्तिसत्त्वात् तत्सत्त्वाविरोधात् । उपशमश्रेण्यारूढा उपशमसम्यग्दृष्टयो न म्रियन्ते औपशमिकसम्यग्दर्शनोपलक्षितत्वाच्छेषौपशमिकसम्यग्दृष्टय इवेति चेन्न, पश्चात्कृतमिथ्यात्वसम्यक्त्वाभ्यामनुपशमितोपशमितचारित्रमोहाभ्यां च तयोर्वैधर्म्यात् ।

सम्यग्दर्शनमुखेन जीवपदार्थमभिधाय समनस्कामनस्कभेदेन जीवपदार्थप्रतिप्रतिपादनार्थमाह—

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ॥ १७२ ॥

सुगममेतत्सूत्रम्[2] । उक्तं च—

> मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
> सिक्खदि णामेणेदि य सो समणो असमणो य विवरीदो ॥ २२१ ॥

संज्ञिनां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति[3] ॥ १७३ ॥

शंका— उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव नहीं मरते हैं, क्योंकि, वे उपशम सम्यग्दर्शनसे युक्त होते हैं। जिस प्रकार अन्य औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका मरण नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पश्चात्कृत मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी अपेक्षा तथा अनुपशमित और उपशमित चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा साधारण उपशम सम्यग्दृष्टियों और उपशम श्रेणीपर चढ़े हुए सम्यग्दृष्टियोंमें वैधर्म्य है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव पदार्थका कथन करके अब समनस्क और अमनस्क इन दो भेदरूप संज्ञीमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संज्ञीमार्गणाके अनुवादसे संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं ॥ १७२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

जो कार्य करनेसे पूर्व कार्य और अकार्यका, तथा तत्त्व और अतत्त्वका विचार करता है, दूसरोंके द्वारा दी गई शिक्षाओंको सीखता है और नाम लेनेपर आ जाता है वह समनस्क है और जो इससे विपरीत है वह अमनस्क है ॥ २२१ ॥

अब संज्ञी जीवोंके गुणस्थानोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७३ ॥

---

१ मु. श्रेण्यारूढा । २ अ. प्रतौ 'उक्तंच' इत्यत आरभ्य गाथेयं नास्ति । मु. प्रतावपि ।
३ संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादश गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि । स. सि. १, ८.

समनस्कत्वात्सयोगकेवलिनोऽपि[1] संज्ञिन इति चेन्न, तेषां क्षीणावरणानां मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तदसत्त्वात्। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानामसंज्ञित्वविरोधात्। असंज्ञिनः केवलिनो मनोऽनपेक्ष्य बाह्यार्थग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्भवत्येवं यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वमुच्येत। किं पुनरसंज्ञित्वस्य निबन्धनमिति[2] चेत्? मनसोऽभावाद् बुद्ध्यतिशयाभावः ततो नानन्तरोक्तदोष इति। सुगममन्यत्[3]।

असण्णी एइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति ॥ १७४ ॥[4]

एतदपि सूत्रं सुगमम्[5]।

आहारमुखेन जीवप्रतिपादनार्थमाह—

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

शंका— मनसहित होनेके कारण सयोगकेवली भी संज्ञी होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आवरण कर्मसे रहित उनके मनके अवलम्बनसे बाह्य अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते।

शंका— तो केवली असंज्ञी रहे आवें ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने समस्त पदार्थोंको साक्षात् कर लिया है उनके असंज्ञी होनेमें विरोध आता है।

शंका— केवली असंज्ञी होते हैं, क्योंकि, वे मनकी अपेक्षाके बिना ही विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करते हैं ?

समाधान— यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रका आश्रय करके असंज्ञीपना कहा जाता तो ऐसा होता। परंतु ऐसा नहीं है।

शंका— तो असंज्ञित्वका क्या कारण है ?

समाधान— मनका अभाव होनेसे बुद्धिके अतिशयका अभाव असंज्ञित्वका कारण है। इसलिये केवली को पूर्वमें दिया गया दोष सम्भव नहीं है। अन्य कथन सुगम है।

असंज्ञी जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होते हैं ॥ १७४ ॥

यह सूत्र भी सुगम है।

अब आहारमार्गणाके द्वारा जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारमार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७५ ॥

---

१ मु. सयोगिकेवलिनोऽपि।   २ मु. माश्रित्यासंज्ञित्वस्य निबन्धनमिति।

३ मु. सुगममेतत्।   ४ असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। स. सि. १. ८.

५ मु. सुगमं सूत्रम्।

एतदपि सुगमम् ।

[1]आहारिगुणप्रतिपादनार्थमाह—

आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ १७६ ॥

अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात् ।

अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥

एते शरीरप्रायोग्यपुद्गलोपादानरहितत्वादनाहारिण उच्यन्ते ।

इति संत - सुत्त - विवरणं समत्तं ।

यह सूत्र भी सुगम है ।

अब आहारमार्गणामें गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारक जीव एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७६ ॥

यहांपर आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार, ऊष्माहार, मानसिकाहार और कर्माहारको छोड़कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है ।

विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि तथा समुद्घातगत केवलियोंके सयोगिकेवली, इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा - सूत्र - विवरण समाप्त हुआ ।

---

१ मु. आहार ।

२ आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टयादीनि सयोगकेवल्यन्तानि । स. सि. १. ८.

३ अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुणस्थानानि, मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरसंयतसम्यग्दृष्टिश्च । समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च । स. सि. १. ८.

१ संत–परूवणा–सुत्ताणि

२ अवतरण-गाथा-सूची

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहाँ
	अ		
१२७	अट्ठविहकम्मवियुदा	२०१	गो. जी. ६८
७६	अट्ठासी-अहियारेसु	११३	
२७	अणवज्जा कयकज्जा	४९	
५१	अण्णाणतिमिरहरणं	६०	
१००	अणियोगो य णियोगो	१५५	आ. नि. १२५
१९०	अणुलोभं वेदंतो	३७५	गो. जी. ४७४
१८३	अत्थादो अत्थंतर	३६१	गो. जी. ३१५
१४८	अत्थि अणंता जीवा	२७३	गो. जी. १९७ मूलाचार १२०३
१०२	अत्थिसं पुण संतं	१५९	
४६	अदिसयमादसमुत्थं	५९	प्रवच. १. १३
१७८	अप्पपरोभयबाधण	३५३	गो. जी. २८९
८६	अप्पपदुसिसंचिय	१४०	
१८२	अभिमुहणियमिय	३६१	गो. जी. ३०६
१५	अवगयणिवारणट्ठं	३२	
१८४	अवहीयदि त्ति ओही	३६१	गो. जी. ३७०
४२	अट्ठसहस्रमहीपति	५९	ति. प. १, ४७
३६	अष्टादशसंख्यानां	५८	ति. प. १, ४२
१२५	असहायणाणदंसण	१९३	गो. जी. ६४
८५	अहमिंदा जह देवा	१३८	गो. जी. १६४
	आ		
७५	आक्षेपणीं तत्त्ववि	१०७	
१९८	आदा णाणपमाणं	३८८	प्रवच. १, २३
२०	आदिम्हि भद्दवयणं	४१	ति. प. १, २९ समान
१९	आदीवसाणमज्झे	४१	
२२	आदौ मध्येऽवसाने	४२	आ. प.
१८०	आभीयमासुरक्खा	३६०	गो. जी. ३०४
१६४	आहरदि अणेण मुणी	२१६	गो. जी. २३९
९८	आहरदि सरीराणं	१५३	गो. जी. ६६५
१६५	आहारयमुत्तत्थं	२१६	गो. जी. २४०
	इ		
५५	इम्मिसे वसप्पिणीए	६३	ति. प. १, ६८ (समान)
१५१	इंगाल जाल अच्ची	२७५	मूलाचा. २११ आ. चा. नि. ११८
	उ		
३	उच्चारियमत्थपदं	११	जयध. अ. ३०
८	उप्पज्जंति वियंति य	१४	स. स. १, ११
६०	उप्पण्णम्हि अणंते	६५	ति. प. १, ७४ (शब्दभेद)
१९१	उवसंते खीणे वा	३७५	गो. जी. ४७५
	ऋ		
५३	ऋषिगिरिरैन्द्राशायां	६३	जयध. अ. ९
	ए		
१४२	एइंदियस्स फुसणं	२६१	गो. जी. १६७
११९	एक्कम्हि कालसमए	१८७	गो. जी. ५६
७२	एक्को चेव महप्पो	१०१	पञ्चा. ७७
११७	एदम्हि गुणट्ठाणे	१८४	गो. जी. ५१
१४७	एयणिगोदसरीरे	२७२	गो. जी. १९६ मूलाचार १२०४

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहां
२१०	एयणिगोदसरीरे	३९६	मूलाचार १२०४
१९१	एयदवियम्मि जे	३८८	गो. जी. ५८२ स. त. १३३
६५	एस करेमि य पणमं	७४	मूलाचा. १०५ (अर्थसमता)
	ओ		
१६१	ओरालियमुत्तत्थं	२९३	गो. जी. २३[illegible]
१५०	ओसा य हिमो धूम	२७५	मूलाचा. २१० आ. चा. नि. १०८
	क		
७०	कधं चरे कधं चिट्ठे	१००	मूलाचा. १०१२ दशवै. ४, ७
१६६	कम्मेव च कम्मभवं	२९७	गो. जी. २४१
१७३	कारिससणिट्ठिवाग	३४४	गो. जी. २७५
१०३	कालो ट्ठिदि-अवधरणं	१९०	
२०९	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९२	गो. जी. ५५६
१७७	किमिरायचक्कतणु	३५२	गो. जी. २८७
१८	किं कस्स केण कत्थ	३५	मूलाचा. ७०५
१३६	कुक्खिकिमिसिप्पि	२४२	
१३७	कुंथुपिपीलिकम	२४५	
१२४	केवलणाणदिवायर	१९२	गो. जी. ६३
	ख		
५१	खीणे दंसणमोहे	६५	जयध. अ. ८
२१३	खीणे दंसणमोहे	३९७	जयध. अ. ८
	ग		
८४	गहककम्मविणिव्वत्ता	१३६	
३८	गणरायमच्चतलवर	५८	ति. प. १, ४४
६६	गयगवलसजलजल	७४	
६१	गोत्तेण गोदमो	६६	
	च		
१९५	चक्खूण जं पयास	३८४	गो. जी. ४८४
१६९	चत्तारि वि छेत्ताइं	३२८	गो. जी. ६५३ गो. क. ३३४
[illegible]	[illegible]	३९२	गो. जी. ५१६
७९	चारणवंसो तह पंच	११३	
३२	चोद्दसपुव्वमहोयहिं	५१	
२००	चंडो ण मुयदि वेरं	३९०	गो. जी. ५०९
१८५	चिंतियमचिंतियं वा	३६२	गो. जी. ४३८
	छ		
७३	छक्कापक्कमजुत्तो	१०१	पञ्चा. ७८
३५	छद्दव्वणवपयत्थे	५६	ति. प. १, ३४ (शब्दभेद)
१६	छप्पंचणवविहाणं	१५३	गो. जी. ५६१
२१२	,,	३९७	,,
१६७	छम्मासाउवसेसे	३०५	मूलाचार २१०५ (शब्द-भेद). वसु. श्रा. ५३०
१३३	छसु हेट्ठिमासु पुढ	२१०	
१७०	छादेदि सयं दोसे	३४३	गो. जी. २७४
१८८	छेत्तूण य परियायं	३७४	गो. जी. ४७१
	ज		
१४६	जत्थेक्कु मरइ	२७२	गो. जी. १९३
१४	जत्थ बहुं जाणिज्जा	३१	अनु. द्वा. १, ६ आचारा. नि. ४
७१	जदं चरे चिट्ठे	१००	मूलाचा. १०१३ दशवै. ४, ८,

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहां
१३४	जवणालिया मसूरी	२३७	मूलारा. १०९१
३४	जस्स तिए धम्मवहं	५५	दशवै. ९ १३
१४४	जह कंचणमग्गिगयं	२६९	गो. जी. २०३
८७	जह भारवहो पुरिसो	१४०	गो. जी. २०२
१३२	जाइजरा मरणभया	२०५	गो. जी. १५२
२०६	जाणइ कज्जमकज्जं	३९१	गो. जी. ५१५
९१	जाणइ तिकालसहिए	१४५	गो. जी. २९९
१३५	जाणदि पस्सदि	२४१	
६७	जावदिया वयणवहा	८१	गो. क. ८९४ स. त. १, ४७
१०५	,,	१६३	,,
८३	जाहि व जासु व	१३३	गो. जी. १४१
५०	जियमोहिंधणजलणो	६०	
८१	जीवो कत्ता य वत्ता	११९	गो. जी. जी., प्र. टी., ३३६
१९४	जीवा चोद्दसभेया	३७५	गो. जी. ४७८
१६८	जेसिं आउसमाइं	३०६	मूलारा. २१०६.
१५५	जेसिं ण संति जोगा	२८२	गो. जी. २४३
१०४	जेहिं दु लक्खिज्जंते	१६२	गो. जी. ८
१५९	जो णेव सच्चमोसो	२८८	गो. जी. २२१
११२	जो तसवहाउविरओ	१७६	गो. जी. ३१
९३	जं सामण्णं गहणं	१५०	गो. जी. ४८२ द्रव्यसं. ४३
११	ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः	१७	लघीय. ६, २
	ण		
२०८	ण उ कुणइ पक्खं	३९२	गो. जी. ५१७
११५	णट्ठासेसपमाओ	१८०	गो. जी. ४६
६८	णत्थि णयेहि विहूणं	९२	आ. नि. ६६१
४	णयविसि णयो	१२	
२०४	ण य पत्तियइ परं सो	३९१	गो. जी. ५१३
२१७	ण य मिच्छत्तं पत्तो	४०१	गो. जी. ६५४
१५७	ण य सच्चमोसजुत्तो	२८४	गो. जी. २१९
१२८	ण रमंति जदो णिच्चं	२०३	गो. जी. १४७
८०	णवमो य इक्खयाणं	११३	
१४०	ण वि इंदियकरण	२५१	गो. जी. १७४
२१९	ण वि जायइ	४०१	
९	णामं ठवणा दविए	१६	स. त. १, ६,
२३	णिद्दड्ढमोहतवणो	४६	
२०२	णिद्दावंचणबहुलो	३९१	गो. जी. ५११
१२३	णिस्सेसखीणमोहो	१९१	गो. जी. ६२
२६	णिहयविविहट्ठकम्मा	४९	
१७२	णेवित्थी णेव पुमं	३४४	गो. जी. २७५
१११	णो इंदिएसु विरदो	१७४	गो. जी. २९
	त		
४९	तत्तो चेव सुहाइं	६०	
	तदियो य णियइ	११३	
६९	तम्हा अहिगय सुत्तेण	९२	स. त. ३, ६४–६५
२२०	तिण्णि जणा एक्केक्कं	४०१	
११८	तारिसपरिणामट्ठिय	१८४	गो. जी. ५४
४५	तित्थयरगणहरत्तं	५९	
५	तित्थयरवयणसंगह	१२	स. त. १, ३
२५	तिरयणतिसूल	४६	
१२९	तिरियंति कुडिल	२०३	गो. जी. १४८
६४	तिविहा य आणुपुव्वी	७३	
१०७	तं मिच्छत्तं जहमस	१६४	
	द		
२४	दलियमयणप्पयावा	४६	
६	दव्वट्ठियणयपयई	१२	स. त. १, ४
१५८	दसविह-सच्चे वयणे	२८८	गो. जी, २२०
१०९	दहिगुडमिव वामिस्सं	१७१	गो. जी. २२

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहां
५८	दाणे लाभे भोगे	६५	वसु. श्रा. ५२७
१३१	दिव्वंति जदो णिच्चं	२०४	गो. जी. १५१.
४१	दिसहत्थिराअणाथो	५८	ति. प. १, ४६ (प्राकृतरूप).
३०	दैसकुलजाइसुद्धो	५०	वसु. श्रा. ३८८ (प्रथमचरण.)
२१५	दंसणमोहुदयादो	३९८	गो, जी. ६४९
२१६	दंसणमोहुवसमदो	३९८	गो. जी. ६५०
७४	दंसणवदसामाइय	१०३	गो. जी. ४७७ वसु. श्रा. ४ चा. अ. ६९
१९३	,, ,,	३७५	,, ,,
	ध		
६३	धवणारथपडिबद्धो	६९	
५४	धणुराकारशिछष्णो	६३	जयध. अ. ९
	प		
७८	पढमो अरहंताणं	११३	
१९६	परमाणु-आदियाइं	३८४	गो. जी. ४८५
२९	पवयणजलहिजलो	५०	
१७	पावं मलमिति प्रोक्त	३५	ति. प. १, १७ (प्राकृतरूप)
१४९	पुढवी य सक्करा	२७४	मूलाचा. २०६ आचा. नि. ७३
१७१	पुरुगुणभोगे सेदे	३४३	गो. जी. २७३
१६०	पुरुमहमुदारुराल	२९३	गो. जी. २३०
१२१	पुव्वापुव्वफड्ढय	१८९	
३९	पूसनाकुवणकनायक	५८	
१९२	पंचत्तिवउव्विहेहिं	३७४	गो. जी. ४७६
१८९	पंचसमिदो तिगुत्तो	३७४	गो. जी. ४७२
५२	पंचसेलपुरे रम्मे	६२	जयध. अ. ९
४०	पञ्चशतनरपतीना	५८	ति. प. १, ४५ (प्राकृतरूप)

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहां
१०	प्रमाणनयनिक्षेपं	१७	ति. प. १, ८२ वि. भा. २७६४ न. च. पृ. ९६
	ब		
१९७	बहुविहबहुप्पयारा	३८४	गो. जी. ४८६
७७	बारसविहं पुराणं	११३	
१४१	बाहिरपाणेहि जहा	२५९	गो. जी. १२९
	भ		
२११	भविया सिद्धि जेसिं	३९६	गो. जी. ५५७
४७	भावियसिद्धंताणं	६०	
११६	भिण्णसमयट्ठिएहि दु	१८४	गो. जी. ५२
	म		
१३८	मक्कडयभमरमहु	२४७	
१३०	मण्णंति जदो णिच्चं	२०४	गो. जी. १४९
८८	मणसा वचसा काए	१४१	स्था. सू. पृ. १०१
२०५	मरणं पत्थेइ रणे	३९१	गो. जी. ५१४
	महावीरेणत्थो कहिं	६२	
२८	माणुससंठाणा वि हु	४९	
१०६	मिच्छत्तं वेयंतो	१६३	गो. जी. १७
१५३	मूलग्गपोरबीया	२७५	गो. जी. १८६ मूलाचा. २१३
७	मूलणिमेणं पज्जव	१३	स. त. १, ५
४८	मेरुव्व णिप्पकंपं	६०	
१	मंगलणिमित्तहेऊ	८	पञ्चा. ज. से. टी.
२०१	मंदो बुद्धिविहीणो	३९०	गो. जी. ५१०
१६	मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः	३४	ति. प. १, १६ (प्राकृतरूप)
२०३	रूसदि णिंददि अण्णे	३९१	गो. जी. ५१२

३ ऐतिहासिक नाम सूची

४ भौगोलिक नाम सूची

७ प्रतियोंके पाठ-भेद

१ अ—अमरावतीकी प्रति; आ—आराकी; क—कारंजाकी; स—सहारनपुरकी।

२ ,, चिन्होंसे तात्पर्य यहां उपरके शब्दोंसे नहीं, किन्तु उसी पंक्तिके बाईं ओरके शब्दोंसे समझना चाहिये।

३. इन प्रतियोंके पाठभेदोंकी दिशा बतलानेके लिये यहां केवल थोड़ेसे पाठभेद दिये जाते हैं। यथार्थतः ऐसे पाठभेद हैं बहुत ही अधिक।

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१	१	ॐनमः सिद्धेभ्यः	,,	,,	ॐ नमः सिद्धेभ्यः।	
		ॐ गणधरपरमेष्ठिने नमः।	अथ श्री धवल प्रारम्भः।			
		ॐ द्वादशाङ्गाय नमः। निर्विघ्नमस्तु				
१	२	केवलि-	,,	केवल-	केवल-	केवल-
१	२	णमहं	,,	,,	णमह	णमह
६	१	-अंगांगिज्जा	-अङ्गङ्गिज्जा	,,	,,	-अंगंगिज्जा
,,	,,	-मल-मूल-	-मल-मूढ़-	-मल-मूल-	-मल-मूढ-	-मल-मूढ-
८	२	ववखाणिउ	,,	,,	ववखाणउ	ववखाणउ
९	१	पच्चयणयं	,,	,,	पच्चयं ण	पच्चयं ? ण,
९	२	तालफलं व सुलुव	,,	,,	तालफलं व सुलं व	तालपलंब सुलं व
१०	२	सयलच्छवच्छाणं सच्छाणं	,,	,,	सयलत्थवत्थूणं सद्दाणं	,,
१२	३	-वायरणे	,,	,,	,,	-वायरणी
१३	१	-णिमोणं	-णिमाणं	-णिमोणं		-णिमेणं
१३	२	सद्धावीया	सद्धाइविया	सद्धादीया	,,	सद्दावीया
,,	,,	साहुपसाहु	,,	,,	,,	साहुपसाहा
१६	४	-लक्खणं खड्गणो	,,	,,	,,	-लक्खण-खड्गणो
१६	८	णियसव्वारुय-	,,	,,	,,	णियसव्वारुय

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१९	१	मज्जत्थ-	,,	,,	,,	मज्झत्थ-
१९	२	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी- वो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजी- वो च जीवा चेवि	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी- वो च अजीवो च जीवो च अ- जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेवि	,,	,,	जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजी- वा य, जीवा य अजीवा य.
२०	३	सुभाव-	,,	,,	सब्भाव-	सब्भाव-
२२	२	तस्सत्थ-	,,	,,	तस्सट्ठ-	तस्सत्थ-
३०	२	अथाष्टारत्न्यादि	,,	,,	अर्थाष्टारत्न्यादि	,,
३१	७	जाणिज्जो	,,	,,	,,	जाणिज्जा
३२	७	विपर्ययो:	,,	,,	,,	विपर्यस्यतो:
३३	५	असौ व्यामोहेन	,,	,,	सोऽव्यामोहेन	,,
३५	५	गच्छति कर्त्ता सिद्धि-	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि-	,,	,,	,,
३६	७	सारस्य स्तम्भ	,,	,,	,,	सारे स्तम्भ
४०	५	नमो जिनानाम्	,,	,,	नमो जिणाणम्	'णमो जिणाणं'
४१	३	कयकाउया	,,	,,	,,	कयकोउय
४२	६	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमो- क्कारो तं णिबद्ध- मंगलं। जो सुत्त- स्सादी सुत्तकत्ता- रेण णिबद्धो देव दाणमोक्कारो तम णिबद्ध-मंगलं।	,,	,,	,,	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णि- [1]बद्ध-देवदाण- मोक्कारो तंणि- बद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदा णमोक्कारो तमणि- बद्ध-मंगलं।
४४	४	विनष्टेरा	,,	,,	,,	विनष्टेऽरो
४७	३	-भूता: शेषात्म-	,,	,,	,,	-भूताशेषात्म-

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
४९	५	वज्जसिलत्थ-स्सगय-	वज्जसिलत्थ-स्सगय-	वज्जसिलत्थ-कसगय-	वज्जसिलत्थ-स्सगय-	वज्जसिलत्थ-कसगय-
५०	३	संगभग-		भग्गसंग-	संगभग्ग-	संग-भंग-
५३	८	-कार्यत्वान्नैव सत्स्वेव	,,	,,	,,	कार्यत्वान्नैव सत्स्वेव
५४	४	रत्नैकदेशस्य देशत्वा-	रत्नैकदेशस्य देवत्वा-	रत्नैक-देशत्वा-		रत्नैकदेशस्य देशत्वा-
५५	१	संजात-	स जात-	संजात-	संजात-	संजात-
५५	२	गुणिभूतलाद्वैते	,,	गुणिभूताद्वैते	,,	गुणीभूताद्वैते
५५	३	-शब्दाधिक्य-	,,	,,	,,	-अद्वाधिक्य-
५५	४	-स्थापनार्थं	-ख्यापनार्थं	-स्थापनार्थं	-ख्यापनार्थं	-स्थापनार्थं
६०	६	कम्मं मुप्पज्जइय फुड सिद्धसुहं पि वयणादो	कम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणदो	कम्मं फुड सिद्धसुहं पि वयणदो		कम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणादो ।
६३	३	-शिष्ट्योदा-	,,	,,	-शिष्टो	,,
६५	४	खइयाइ ण होंति	,,	,,	खइयाइं होंति	,,
६५	६	दिव्वज्झुणी	,,	,,	दिव्वज्झुणी	,,
६५	९	गौतम-गोतेण	गोतम-गोदेण	गोतम-गोदेण		गोदम-गोत्तेण
६६	९	आदीसि	,,	,,		जादेत्ति
६७	५	विदिसेणो		,,	धिदिसेणो	,,
६८	४	बंधवोच्छेदो	,,	,,		बंधवोच्छेदो
७४	१०	-वच्छदे	,,	,,		-वच्छओ
८३	३	यत्थेदं	जत्थेदं	यथेदं		एत्थेदं
८५	३	समनस्य	,,	,,	,,	समस्तस्य
८५	६	नैकगमो नयः	,,	,,	नैकगमो नैगमः	,,
८९	५	संतिष्ठति तिष्ठति	संतिष्ठते तिष्ठति	,, ,,	,,	तिष्ठति संतिष्ठते
९०	४	-कत्वान्येते	,,	,,		-कत्वान्नैते
९०	४	भिन्नपदाना-		,,	भिन्नपदार्थाना-	भिन्नपदाना-
९१	६	नानार्थं	,,	,,	नानार्थे	,,
९२	४	अर्थोर्थ	,,	,,	अर्थो थ्य	,,
९३	४	संख्येयानन्तात्मक-	संख्येयासंख्येयानन्तात्मक-	संख्येयानन्तात्मक-		संख्येयासंख्येयानन्तात्मक-

पृष्ठ	पंक्ति	अ	मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज			
९४	५	सिद्धं	,,	,,	सद्ध-	सद्द-
९४	६	-विसवायो	,,	,,		-विसयाओ
९५	६	मुहोण	मणोण	मुणोण	मणेण	,,
९५	९	-पुव्वसं	-पुव्वुस	-पुव्वसं	-पुवसं	,,
१००	२	विहाय-	वियाह-	विवाह-	वियाह-	,,
१०४	२	गंधहस्तितत्वा-र्थभाष्ये	तत्वार्थभाष्ये	,,	,,	,,
१०६	२	सुद्धिमकरेंति	,,	,,		सुद्धि करेंती
१०६	३	थावसी	,,	,,		थावंती
१०९	७	उक्तं च भाष्ये	,,	,,	उक्तं च	,,
१०९	४	-मत्यानिक	,,	,,	-मशानिक-	,,
१११	४	पव्वयदवह-	,,	,,	पव्वददहं-	,,
११९	१	यल्लोकं	,,	,,		यल्लोके
,,	१४	सरीर	,,	,,		सरीरी
१२०	६	-वेसोहि	,,	,,	-वेहेहि	,,
१२१	१	सरीरो	,,	,,		सरीरी
१२४	२	धारणा	,,		वारणा	,,
१२८	११	भावो	भावादो भावो	भावो		भावो
१२९	२	दोण्णि एक्काणि	,,	,,	दोण्णि	,,
१३१	११	पुत्त-	उत्त-	पुव्वुत्त-	उत्त-	उत्त-
१३४	७	-रोकतत्वा-	,,	,,		-रोकः तत्वा-
१४२	१	रूढिव्यय-	,,	,,	रूढिवशा-	,,
१४२	४	मेयो	,,	,,	मेओ	वेओ
१४८	६	लदा भावाणं	,,	,,	भावाणं	भावाणं
१५२	५	-मुक्तता	,,	,,		-मनुरक्तता
१५४	७		इमान्यष्टौ		इमाणि अट्ठ	,,
१५९	१	परूवणा णं	,,	,,	परूवणा	,,
१६५	२	ततोऽसत्येषु	ततो सत्येष-	सत्येष-	ततोऽसनू	,,
१६९	४	सतोऽपि	,,	,,	सतापि	,,
१६९	५	-विवतः	,,	,,		ततः
१७३	१	अट्ठि-	,,	,,		लट्ठि-
१७५	५	सहभावो	,,	,,	सहभुवो	,,
१७८	३	कुतः	,,	,,	क्व तद्	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१८०	३	-स्थानानुत्पसे	,,	,,	स्थानोत्पसेः	,,
[illegible]	४	[illegible] शमज-		,,		-क्षयोपशमोप- शमज-
१८२	३	-करणनाम-	,,	,,		-करणलाभ-
१८२	५	-वेशी	,,	,,	-वेश-	,,
१८४	१०	-राइय-	-राये	राइय	,,	,,
१८५	६	तासु	,,	,,	तान्	तेषु
१९७	७	-स्यात्पौ-	,,	,,	-स्यापौ-	,,
१९९	९	श्रेयसंभवि	,,	,,	श्रेयसम्भवि-	श्रेयसम परिवर्तितः
२००	४	-माक्षिप्ट-	,,	,,		-मैक्षिप्ट-
२०२	९	-स्यापत्यं	,,	,,		यालयति
२०३	६	तत्तु अंचलि तदंश्चलि	,,	,,	तदञ्चन्ति	,,
२०६	४	-दृष्टिषु	-दृष्टयाविषु	,,		-दृष्टिषु
२०६	१०	तद्वत्यं	तद्वत्य-	तद्वत्यं	तद्वतां	,,
२११	१०	-मधुसमुत्तमुष-	,,	,,		-मधुसमुष-
२२१	११	तयो	तदो ण	तत्थ तदो		तदो
२२२	१	आइरियकहि- याणं	आइयारिइ- रियकम्माणं	आइरियाइय- कहियाणं		आइल्लाइरिय- -कहियाणं
२२४	५	अप्पणो	तदो अप्पणो	अप्पणो		,,
२२४	६	गमियमिदं	,,	,,	गमिय	,,
२२९	३	-संयतास्ता-	,,	,,		संयतासंयतास्ता-
२३१	४	-त्वाद्देशा-	,,	,,	-त्वोद्देशा-	-त्वाद्देशा-
२३२	१	-वासंजलना-	,,	,,	-वासञ्जना-	,,
२३४	८	-मान्ध-	-माध-	-मान्ध-	,,	-मान्ध्य-
२६९	१	किट्टूण	,,	,,	,,	किट्टेण
२७०	१	-शक्त्याविर्भावित वृत्तयः	-शक्त्युपबृंहि- तवृत्तः	-शक्त्याविर्भा- वितवृत्तयः	,,	,,
२७८	७	संप्रतिघातः	,,	,,	,,	सप्रतिघातः
२८१	७	स्यात्प्रयत्नो	,,	,,	स्यात् प्रयत्नो	,,
२८३	५	समनस्के	,,	,,	समनस्केषु	,,
२८४	५	सत्सरूप-	,,	,,	तत्स्वरूप-	सत्सत्व
२८४	५	-मुत्तरसूत्रद्वयमाह	,,	,,	-मुत्तरसूत्रमाह	मुत्तरसूत्रद्वयमाह

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
२८४	८	सजोगिकेवलि	अजोगिकेवलि	,,	सजोगिकेवलि	,,
२९१	७	तत्रान्तर्जल्पस्य	तत्रान्तर्जल्पस्य, तत्राप्यनन्तर्जल्पस्य	तत्रान्तर्जल्पस्य	,,	तत्राप्यन्तर्जल्पस्य
२९४	२	मिस्सकायजोगो	,,	,,		मिस्सकाये जोगो
२९५	५	पूतं शरीर-	,,	,,	पूर्वं शरीर-	,,
३००	४	ततश्च द्विहेतु-	,,	,,		ततश्चाद्विहेतु-
३०४	३	सर्वघाति-	,,	,,		सर्वाघाति
३०४	१०	चेतुलु	,,	,,	चेते	,,
३०७	३	-कारणाभावात्र	कारणात्र	कारणाभावात्र	,,	,,
३०८	१	[illegible]	,,	,,		ऽन्यथा
३१८	२	क्लेनोच्छत्र	,,	,,	क्लेनोत्पन्न	,,
३२१	२	प्रवृत्त्यसूत्र	,,	,,	प्रवृत्तसूत्र	,,
३२१	४	कुलो भवत्	,,	,,	कुलो भवेत्	,,
३२२	५	तत्र तु न	,,	,,	तत्रतन	,,
३२२	७	सन्ध्येताभ्यां	,,	,,	सन्ताः ताभ्या	सन्तः एताभ्यां
३२३	८	प्राप्तो यौ-	,,	,,	प्राप्तयौ-	,,
३२६	३	नियमात्र	नियमान्	नियमात्र	विद्यमान-	,,
३२८	४	संजदासंजद- ट्ठाणे	संजदासंजद- संजदट्ठाणे	,, ,,		संजदासंजद ट्ठाणे
३२८	१०	महव्वदो सु थ ण अहइ दो वा	,,	,,		महव्वदाइं ण लहइ देवा
३३६	६	सत्यनारंभकस्य	,,	,,		न चारम्भकस्य
३३९	७	उवरिम-	उवरिम उवरिम-	,,		उवरिम-उवरिम-
३४०	३	-नुपशान्तास्त-	,,	,,		-नुपशान्तान्त- स्तापाना
३४०	७	तत्रतु न	तत्र तुन	,,		तत्रतन-
३४४	१	पुम्हं	,,	,,	पुम्मं	,,
३४४	२	समाणा	,,	,,		समाणगा
३५१	३	शब्दस्य	,,	,,		शब्दस्य च
३५१	४	-निःसृतान्	,,	,,		अनिःसृतान्
३६०	९	आभेयमासु-	,,	,,		आभियमासु-
३६५	११	नाभिश्रणं	,,	,,		न मिश्रणं-

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
३६७	१	सवबनि-	,,	,,		सद्भवन्ति
३६८	२	संयमोद्देश-	,,	,,		संयमैः वेश-
३६६	१०	संयमसंयत-	संयमसंयतस्य [illegible]	संय संयत-		संयमासंयमा- संयमत-
३६९	१	-सामभविष्यत्	,,	,,		-तामगमिष्यत्
३७१	५	शेषः सामेवं	शेषः समित्रं	,,	शेष रूपमिदं	शेषविशेष रूपमिदं
३७२	१	शुद्धिसंयत	,,	,,		शुद्धिसंयम
३७२	७	सूत्रे	विशिष्टसूत्रे	सूत्रे		,,
३७३	११	वादे	वादे	वादेन		,,
३७५	४	संजमो	संजमो	,,	संजयो	,,
३७७	५	निमग्नात्तानां	निमग्नात्मानां	निमग्नात्मनां		,,
३७७	३	निबन्धनावेव- भवि	निबन्धनाव- भवि	निबन्धनावेव		निबन्धनाव- भवि-
३८०	५	गुणस्य गुणस्थान प्रमाणनिरू-	गुणस्य गुण- स्थान निरू	गुणस्थान प्रमाणनिरू-		गुणस्य गुणस्थान- प्रमाणनिरू-
३८२	७	नियम	,,	,,		नियमित
३८२	९	न दर्शनस्य विषय-	,,	न दर्शनविषय-	तद्दर्शनस्य -विषय-	तदर्शनस- विषय-
३८३	६	-रूपद्वय-	-द्वय-	-द्वय		-द्वय-
३८७	१०	ज्ञानदर्शन	,,	,,		ज्ञानाद्दर्शन-
३९०	९	णाणत्थि	,,	,,		-णाणी य
३९१	१	द्रव्य-	द्रव्य-	द्रव्य-		शिष्य-
३९४	१०	-पेक्षया ते	,,	,,		-पि क्षयः
३९५	८	गच्छंतो	,,	,,		गच्छन्तो
३९६	१	णिक्कलंको भवति	,,	,,		णिक्कलंका भवन्ति
३९७	६	त्याज्यः	,,	,,		ध्याप्यः
४०५	२	तिरिक्ख-	,,	,,		तिरिक्खा
४०६	२	संजदासंजदा	संजदासंजदा संजदा	,,		,,
४०६	३		-मन्यत्	-मेतत्		-मेतत्
४०६	७	-र्थमन्यस:समर्थं	,,	,,	,,	,,
४०७	२	-संजद-	-संजद-संजद-	,,	,,	,,
४०७	५	-पज्जत्ता	,,	,,	,,	-पज्जत्त-

विशेष टिप्पण

सूचना—प्रथम संख्यासे पृष्ठ और दूसरीसे पंक्तिका तात्पर्य है।

पृ. पं. 'बारह-अंगंगिज्झा' में 'गिज्झा' पाठ भी प्रतियोंमें मिलता है। इस गाथासे कुछ
१ १. मिलती जुलती एक गाथा वसुनन्दिश्रावकाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

बारह-अंगंगी आ दंसण-तिलया चरित्त-वत्थ-हरा।
चोद्दस-पुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ॥ ३९१ ॥

३९ १०. 'वेहितो कय' इतना पाठ आराकी प्रतिमें नहीं है, और इस पाठके न होनेसे अर्थका सामञ्जस्य भी ठीक बैठता है, किन्तु पाठ-निश्चय करते समय आराकी प्रति हमारे सामने न होनेसे हम उसे छोड़ नहीं सके और जिससे विसंगति अर्थमें भी दिखलाई गई। पर जान पड़ता है कि अ. और क. प्रतियोंमें यह आगेकी गाथा नं. १९ के '(जिणि-) वेहि तो कय' पाठसे लिपिकारोंके दृष्टि-दोषसे आगया है। ऐसे लिपि-दोष इन सभी प्रतियोंमें अनेक हैं। (देखिये प्रतियोंके पाठ भेद) (टिप्पणदेखिये)

६८ ५. 'महिमाए मिलियाणं' से यह स्पष्ट नहीं होता कि महिमा एक नगरीका नाम था जहां यह मुनि-संमेलन हुआ। इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें भी महिमाका उल्लेख भ्रामक है। यथा, देशेन्द्रदेशनाम्नि वेणाकतटीपुरे महामहिमासमुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥ इस पद्यमें 'देशेन्द्रदेश' 'देशान्ध्रदेश' का अशुद्ध रूप ज्ञात होता है। 'महामहिमा-समुदितमुनीन्' का 'महोत्सवनिमित्त सम्मिलित मुनि' भी हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथके पृ. २९ पर 'जिनमहिम-सम्बद्धकालोऽपि मङ्गलं यथा नन्दी-श्वरदिवसादिः' में 'महिम' का अर्थ उत्सव होता है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें भी 'महिम' शब्द नन्दीश्वर उत्सवके अर्थमें आया है यथा—

विविहं करेइ महिमं णंदीसर-चेइय-गिहेसु ॥ ४०७ ॥

इसके अनुसार 'महिमाए मिलियाणं' का अर्थ 'नन्दीश्वर उत्सवके लिये सम्मिलित' भी हो सकता है। किन्तु पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी श्रुतावतार कथा (जै. सि. भा. ३, ४) में महिमाको नगरीका नाम अनुमान किया है और उसे सतारा जिलेके महिमानगढ़से अभिन्न होनेका संकेत किया है। इसी अनुसार अनुवादमें उसे नगरीका द्योतक स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु है यह प्रश्न अभी भी विचारणीय।

७२ ५. जिणवालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासिविसयं गदो। यहां 'दट्ठूण' का अर्थ अनुवादमें 'देखकर' (दृष्ट्वा) किया गया है। किन्तु इसका अर्थ 'देखनेके लिये' (द्रष्टुम्) भी हो सकता है। (देखो भूमिका पृ. १९, पुष्पदन्त और जिनपालित)

७२ ९. 'अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण' इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें यह प्रसंग इस प्रकार दिया है 'विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः' जिसका अर्थ यह होता है कि भूतबलिने मनुष्योंको अल्पायु समझकर सिद्धान्तोंको

पुस्तकारूढ़ करनेका निश्चय किया। पं. जुगलकिशोरजीने इसका अर्थ इस प्रकार किया है ' भूतबलिने... यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु हैं ' (जै. सि. भा. ३, ४)। किन्तु जिनपालितके अल्पायु होनेसे सिद्धान्तके लोप होनेकी आशंकाका कोई कारण नहीं था, किन्तु पुष्पदन्त और भूतबलिमेंसे किसी एकके अल्पायु होनेसे सिद्धान्त-लोपकी आशंका हो सकती थी। इसी उपपत्तिको ध्यानमें रखकर अनुवादमें अल्पायुका सम्बन्ध पुष्पदन्तसे जोड़ दिया गया है। ' अवगतः जिनपालितात् येन सः तेन भूतबलिना ' ऐसा समास ध्यानमें रक्खा गया है।

११३ ५. जगदिट्ठं । यह पाठ प्रतियोंका है। टिप्पणीमें इसके स्थानपर 'जं दिट्ठं' पाठकी कल्पना सूचित की गयी है। वसुनन्दिश्रावकाचारको गाथा ३ में ' इन्दभूइणा सेणियस्स जह दिट्ठं ' ऐसा चरण दृष्टिगोचर हुआ। अतः अनुमान होता है कि यहां भी संभवतः शुद्ध पाठ ' जह दिट्ठं ' रहा होगा जिसका संस्कृत रूप ' यथा दिष्टम् ' होता है।

११७ १. ' अन्तर्बहिर्मुखयो ' आदि। इसका अनुवाद निम्न प्रकार करना ठीक होगा—
समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चैतन्य अर्थात् स्वरूपसंवेदनको दर्शन और बहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान माना है '। इत्यादि।

२२५ ८. उत्पादाणुच्छेद का अर्थ अनुवादमें इस प्रकार समझना चाहिये--
व्युच्छेद दो प्रकारका होता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उनमें उत्पादानुच्छेदसे द्रव्यार्थिक नयका ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रकृतिकी सत्वादि-व्युच्छित्ति होती है उसी समय उसका अभाव कहा जाता है। अनुत्पादानुच्छेद पर्यायार्थिकरूप है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रकृतिकी सत्वादि-व्युच्छित्ति होती है उसके अगले समयमें उसका अभाव कहा जाता है।

३८५ ६. यहां प्रतियोंमें दर्शनकी परिभाषा न होनेसे वाक्य अधूरासा रह जाता है, अतएव उतने अंशकी पूर्ति पृ. ३८६ पंक्ति १ के अनुसार कर दी है, और उतने वाक्यांश को कोष्टकके भीतर रख दिया है। प्रस्तुत ग्रंथमें यही एक ऐसा स्थल सामने आया जहां हम अन्यत्रसे पाठकी पूर्ति किये बिना निर्वाह न कर सके।

३९० १०. गाथा नं. २१० में ' भेज्जो ' का अर्थ गोम्मटसारकी जीवप्रबोधिनी टीकामें ' परैर्भाव-बोध्याभिप्रायः। तथा टोडरमलजीके हिन्दी अनुवादमें ' जिसके अभिप्रायको और कोई न जाने ' किया गया है। किन्तु ' भेज्ज ' का अर्थ देशी नाममालाके अनुसार भीरु होता है। यथा ' भयालुए भेड-भज्ज-भेज्जलया '। (टीका) ' भेडो भेज्जो तथा भेज्जलओ त्रयोऽपि अमी भीरुवाचकाः ' (दे. ना. मा. ६, १०७)। यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंगमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतएव इसीके अनुसार अनुवादमें ' भीरु ' अर्थ ही किया गया है।

भूमिका पृ. ६० पं. १ में गाथासे पूर्व ' तह अज्जणंदी वि उत्तं ' इतना पाठ छूट गया है।